Some Aspects of The Art of war In Ancient India With Special Reference To Weapons And Fortification From 6th Century B. C. To 6th Century A. D.

(IN HINDI)

डी० फिल० उपाधि के लिए प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध

शोधकर्ता

दिनेश कुमार केसरवानी

निर्देशक

प्रोफेसर जी० सी० पाण्डे

प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय

इलाहाबाद

1993

विषय सूची

भूमिका

भूमिका

प्राचीन भारत के इतिहास में युद्धों का भी अपना विशेष महत्व है। सुरक्षा तथा राजनैतिक सत्ता के विस्तार के निमित्त समय-समय पर युद्ध किए जाते थे। प्रागैतिहासिक काल में द्वन्द्व युद्ध लड़े गए। कालान्तर में सभ्यता के विकास, के साथ-साथ युद्ध में नाना प्रकार के संहारक आयुधों के माध्यम से युद्ध का प्रचलन हुआ। साम्राज्य बदले गए, परम्पराएं निर्मित हुई एवं आक्रान्ताओं का सामना किया गया। युद्ध के कारण स्वाधीनता और पराधीनता भी प्राप्त होती रही है। अतीत के इन युद्धों का विवरण प्राचीन ग्रन्थों में प्राप्त होता है। परन्तु उन ग्रन्थों में केवल सेनाओं के युद्धों का न्यूनाधिक मात्र में वर्णन है। युद्ध में रत उन सेनाओं के कतिपय विवरणों के अतिरिक्त उनकी सम्यक् सैन्य-व्यवस्था का वर्णन किसी भी एक ग्रन्थ में सुलभ् नहीं है। अतः प्राचीन भारत में सैन्य-व्यवस्था का सम्यक् स्वरूप प्रस्तुत करने के लिए उन समस्त स्रोतों का आधार ग्रहण करना पड़ता है, जिससे हमें प्राचीन भारतीय संस्कृति एवं राजनीतिक इतिहास का ज्ञान प्राप्त होता है।

प्राचीन भारत की युद्ध व्यवस्था एवं युद्ध-कला पर स्वतंत्र रूप से कई ग्रन्थ लिखे जा चुके हैं। सर्वप्रथम 1929 ई. में लन्दन से प्रकाशित गोविन्द त्रयम्बक दाते द्वारा लिखित आर्ट ऑव वार इन ऐंश्येंट इंडिया नामक पुस्तक का उल्लेख किया जा सकता है। प्राचीन युद्ध-कला के संबध में दाते की पुस्तक से अच्छा प्रकाश पड़ता है।[1] 1941 ई में दि आर्ट ऑव वार इन ऐंश्येंट इंडिया, पी०सी० चक्रवर्ती की प्रकाशित हुई। इस पुस्तक में सैन्य संगठन, प्रशासन, दुर्ग, अस्त्रशस्त्र एवं युद्ध कला की विवेचना की गई है।[2] वी० आर० आर० दीक्षितार[3] ने 1944 ई. में वार इन ऐंश्येंट इंडिया लिखा है। दीक्षितार ने अपनी पुस्तक में युद्ध

---

1. हम्फरी मिल फोर्ड, लंदन
2. दि युनिवर्सिटी आव ढाका, बुलेटिन नं. 21, ढाका
3. मैकमिलन एण्ड कम्पनी लिमिटेड, मद्रास, बम्बई, कलकत्ता व लंदन

की मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि, युद्ध के नियम, साहित्य में वर्णित अस्त्र-शस्त्र, सैन्य-संगठन युद्ध-कला सम्बन्धी मुख्यविषयों पर अच्छा प्रकाश डाला है। 1954 ई. में डी० के० पालित[1] की पुस्तक ऐंशसियल ऑव मिलिटरी नालेज प्रकाशित हुई। इस ग्रन्थ में सैन्य-विज्ञान की आवश्यक पहलुओ पर विचार किया गया है। दि मिलिटरी सिस्टम इन ऐंश्येंट इंडिया 1955 ई.[2] में कलकत्ता से प्रकाशित हुई। पुस्तक के लेखक विमल कान्ति मजुमदार ने 1500 ई. से लेकर 1150 ई. तक सैन्य-व्यवस्था, सैन्य संगठन एवं युद्ध कला का वर्णन किया है। 1957 ई. में रामदीन पाण्डे की पुस्तक प्राचीन भारत की संग्रामिकता का प्रकाशन हुआ। इस पुस्तक में प्राचीन काल में हुए संग्रामों की विवेचना की गई है।[3] इन्द्र की पुस्तक आयिडयोलाजी ऑव वार एण्ड पीस इन ऐंश्येंट इंडिया 1957 ई. में प्रकाशित हुई। इन्द्र ने अपनी पुस्तक में प्राचीन सैन्य-संगठन एवं तकनीकी पर संक्षिप्त रूप से प्रकाश डाला है।[4] 1960 ई. में मिलिटरी हिस्ट्री ऑव इंडिया सर जदुनाथ सरकार का ग्रन्थ प्रकाशित हुआ। प्राचीन विदेशी यूनानी आक्रमण का संक्षिप्त वर्णन सरकार ने अपनी पुस्तक में किया है। जो सैन्य विज्ञान और इतिहास दोनो दृष्टियों से महत्वपूर्ण है।[5] बी० एन० मजुमदार द्वारा लिखित पुस्तक स्टडी ऑव दि इंडियन मिलिटरी हिस्ट्री प्रकाशित है। इस ग्रन्थ में संक्षिप्त रूप से प्राचीन[6] सैन्य विज्ञान व इतिहास की झाँकी प्रस्तुत की गई है।भारतीय सेना का इतिहास-प्रथम खंड 1964 ई. में प्रकाशित हुई। इस पुस्तक के लेखक प्रबोध कुमार मजुमदार[7] ने वैदिक काल से लेकर शेरशाह सूरी के काल तक की सैन्य-व्यवसथा व सैन्य-संगठन का उल्लेख किया है। इसमें प्राचीन कालीन सैन्य-व्यवस्था एवं कालानतर में हिन्दू सैन्य शक्ति के क्षीण होने के कारणों

---

1. पालित एण्ड दत्त -देहरादून.
2. दि वर्ल्ड प्रेस लिमिटेड, कलकत्ता.
3. पटना.
4. विश्वेश्वरा नंद वैदिक रिसर्च इंस्टीटयूट, साधु आश्रम, होशियारपुर.
5. एम० सी० सरकार एन्ड संस, प्राइवेट लिमिटेड, कलकत्ता.
6. आर्मी एजुकेशनल स्टोर-नई दिल्ली.
7. राष्ट्रीय प्रकाशन, अमीनाबाद, लखनऊ.

पर भी प्रकाश डाला गया। **1964** ई. में ही गायत्री नाथ पंत[1] की पुस्तक वेपेन्स एण्ड मिलिटरी साइंस इन ऐंश्येंट इंडिया दो खंडों में प्रकाशित हुई। इस पुस्तक में प्रारंभिक समय से लेकर **13**वीं शताब्दी ई. तक के अस्त्र-शस्त्र एवं सैन्य-विज्ञान की विवेचना की गई है, जो अत्यंत महत्वपूर्ण है। सर्व दमन सिंह[2] की पुस्तक ऐंश्येंट इंडियन वार फेयर विद स्पेशल रिफरेंस टु दि वैदिक पीरियड का प्रकाशन **1965** ई. में लिडेन से हुआ। उन्होंने अपनी पुस्तक में वैदिक-काल के विशेष संदर्भ में प्राचीन सैन्य-व्यवस्था, अस्त्र-शस्त्र व कवच, युद्ध के सिद्धान्त तथा दुर्ग पर प्रकाश डाला है। **1969** ई. में न्यूयार्क से नागेन्द्र सिंह[3] की पुस्तक थ्योरी ऑव फोर्स एण्ड आर्गेनाइजेशन ऑव डिफेन्स इन इंडियन कान्सटिट्यूशनल हिस्ट्री प्रकाशित हुई। इस पुस्तक के तीन भाग हैं। प्रथम भाग प्राचीन भारत (प्रारंभिक समय से लेकर **6**वीं शताब्दी ई. तक) द्वितीय भाग मध्य कालीन भारत (**8**वीं शताब्दी ई. से **18**वीं शताब्दी ई. तक) तथा अन्तिम भाग आधुनिक भारत से संबंधित है। इस पुस्तक के प्रथम भाग में प्राचीन या आधुनिक राज्य के संदर्भ में राजनैतिक संगठन में रक्षा का महत्व, प्राचीन भारत के राजनैतिक सिद्धान्त में बल की अवधारणा, राजनैतिक संगठन व गणतंत्र में रक्षा तथा सामन्तवादी राजपूतों के रक्षा संगठन की विवेचना की गई है। बल की अवधारणा के विशेष संदर्भ में प्राचीन भारत के राजनैतिक सिद्धान्त, धर्म शास्त्र के अनुसार बल के प्रयोग के संदर्भ में विधि की सर्वोच्चता, राज्यों की उत्पत्ति के सिद्धान्त में बल के स्थान का परीक्षण, महत्व एवं आवश्यकता प्रभावकारी ढंग से प्राचीन भारतीय राज्य में राजनैतिक सिद्धान्त को मानने वालों ने जारी किया है। प्राचीन भारतीय राज्यों के राजनैतिक संगठन में बल के प्रयोग के राजनैतिक सिद्धान्त में आवश्यकता की भी विवेचना की गई है। **1973** ई. में लेफ्टिनेन्ट गौतम शर्मा[4] ने भारतीय सेना और युद्ध-कला नामक पुस्तक लिखी।

---

1. राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद-नई दिल्ली.
2. लिडेन, ई० जे० ब्रिल्ल.
3. एशिया पब्लिशिंग हाउस बाम्बे, कलकत्ता, नई दिल्ली, मद्रास, लखनऊ.
4. राज पाल एण्ड संस, काश्मीरी गेट, दिल्ली.

उन्होंने प्रस्तुत पुस्तक में प्राचीन काल से लेकर आज तक की भारतीय सेना व युद्ध कला की तकनीकी तथा युद्धों में प्रयुक्त होने वाले आयुधों के क्रमिक विकास का भी वर्णन मिलता है। प्राचीन काल में सेना का गठन और युद्ध के समय व्यूह रचना कैसे की जाती थी, कैसे शस्त्रों का प्रयोग होता था, दुर्गों का क्या महत्व था, प्राचीन युद्ध एवं सामरिक नीति कैसे निश्चित की जाती थी। आदि बातों की जानकारी पुस्तक में उपलब्ध होती है। इस पुस्तक के सिर्फ एक अध्याय में ही प्राचीन भारत के सैनिक गौरव की एक झांकी दी गई है। **1973** ई. में ही राधाकान्त भारती[1] की पुस्तक भारतीय सेना: एक परम्परा और स्वरूप—प्रथम खंड प्रकाशित हुई। भारती ने इस पुस्तक में भारत के सैन्य—इतिहास को यहां के भौगोलिक ऐतिहासिक स्थितियों की पृष्ठभूमि में प्रागैतिहासिक, वैदिक कालीन रामायण और महाभारत कालीन युद्ध पद्धतियों की विवेचना की गई है। इसके साथ ही ऐतिहासिक युग के यूनानी आक्रमण से लेकर प्रथम विश्वयुद्ध तक के सैनिक इतिहास पर भी प्रकाश पड़ता है। मेजर सुरिन्द्र कुमार भाकरी[2] द्वारा लिखित पुस्तक इंडियन वार फेयर **1981** ई. में प्रकाशित हुई। इस पुस्तक की शुरुआत छठी शताब्दी ई. से होती है, जिसमें **12**वीं शताब्दी ई. तक के सैन्य—इतिहास का विवरण मिलता है। इसमें सैन्य—संगठन, अस्त्र—शस्त्र एवं कवच, दुर्ग, गुप्तचर सेवाओं, युद्ध—कला, सैन्य—शिविर व सैन्य—प्रमाण आदि का वर्णन किया गया है। ए० के० श्रीवास्तव[3] की पुस्तक ऐंश्येंट इंडियन आर्मी—इटस एडमिनिस्ट्रेशन एण्ड आर्गेनाइजेशनका प्रकाशन **1985** ई. में हुआ। इसमें सैन्य—संगठन व सैन्य—प्रशासन का विशेष वर्णन मिलता है। **1987** ई. में प्राचीन भारतीय युद्ध व्यवस्था का प्रकाशन नई दिल्ली से हुआ। इसके लेखक राम सिंह[4] ने सेना के अंगों, दुर्ग—सन्निवेश, अस्त्र—शस्त्र, दूत व गुप्तचर, युद्ध—कला तथा युद्ध विषयक नीति एवं युद्ध के सिद्धान्त पर प्रकाश डाला है। दिल्ली

---

1. बिहार ग्रन्थ अकादमी , पटना.
2. मुंशी राम, मनोहर लाल प्रकाशक, नई दिल्ली.
3. अजन्ता पाब्लिकेशन, नई दिल्ली.
4. राधा कृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली.

से ही 1990 ई. में सभापति सिंह[1] की पुस्तक प्राचीन-भारत में सैन्य-व्यवस्था प्रकाशित हुई जिसमें सैन्य-व्यवस्था, सैन्य-संगठन एवं सैन्य-प्रशासन का विवरण मिलता है

इन पुस्तकों के अतिरिक्त कुछ शोध पत्रों का भी उल्लेख किया जा सकता है। सर्व प्रथम 1888 ई. में ई० डब्लू० हापकिंस[2] का शोध पत्र आन दि सोशल एण्ड मिलिटरी पोजिशन ऑव दि रुलिंग कास्ट प्रकाशित हुआ। 1912 ई. में ऐंश्येंट वेपेन्स ऑव इंडियाशोध पत्र एफ० आर० ली[3] का प्रकाशित हुआ। 1972 ई. में ग्रुप कैप्टन एन० एन० धीर[4] द्वारा लिखित शोध-पत्र वेपेन्स ऑव वार इन ऐंश्येंट इंडियाप्रकाशित हुई। अमर सिंह[5] का दुर्गों की प्राचीनता एवं वर्गीकरण नामक शोध-पत्र 1985-86 ई. में प्रकाशित हुआ। डिफेंस सिस्टम इन ऐंश्येंट इंडिया बेस्ड आन लिटरेरी एण्ड आर्कियोलोजिकल इविडेंस नामक वी० सी० शर्मा[6] का शोध-पत्र 1990-91 ई. में प्रकाशित हुआ। इन शोध पत्रों में प्राचीन भारत में रक्षा-व्यवस्था, अस्त्र-शस्त्र, सैना-स्थिति एवं दुर्गों की विवेचना अच्छी तरह की गई है।

लेकिन इन शोध पत्रों एवं पुस्तकों से अस्त्र-शस्त्र एवं दुर्ग पर पर्याप्त प्रकाश नहीं पड़ता। इसीलिए छठी शताब्दी ई.पू. से छठी शताब्दी ई. तक के अस्त्र-शस्त्रों एवं दुर्गों के विशेष संदर्भ में प्राचीन भारतीय युद्ध-कला विषय का चुनाव किया गया है। उपर्युक्त विद्वानों में से कुछ जैसे वी० आर० आर० दीक्षितार आदि ने इस पक्ष पर कुछ प्रकाश डाला है। परन्तु इस दिशा में अभी काफी काम करने की आवश्यकता है। इस संदर्भ में शोधार्थी का

---

1. दुर्गा पब्लिकेशन, दिल्ली.
2. जर्नल ऑव दि अमेरिकन ओरिएन्टल सोसायटी.
3. जर्नल ऑव दि युनाइटेड सर्विसेज इंस्टीट्यूशन ऑव इंडिया 1912
4. जर्नल ऑव दि युनाइटेड सर्विसेज इंसटीट्यूशन ऑव इंडिया 1972
5. 'ध्यानम्' अंक 4-6, अमृत प्रकाशन ,लखनऊ.
6. 'पुरातत्व' बुलेटिन ऑव दि इंडियन आर्कियोलोजिकल सोसायटी, नं. 21

प्रमुख उद्देश्य है अस्त्र शस्त्र एवं दुर्गों से संबधित साहित्यिक स्रोतों से उपलब्ध साक्ष्यों और पुरातात्विक साक्ष्यों में संबध एवं समन्वय स्थापित करते हुए उनका ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में विवेचन करना। युद्धों में जय-पराजय के निर्णय एवं राजनीतिक शक्ति के विस्तार में प्राचीन एवं मध्यकाल में अस्त्र शस्त्रों एवं दुर्गों की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। अस्त्र शस्त्र युद्धों में और राजनैतिक नियंत्रण स्थापित करने में विशेष सहायक होते थे। प्रतिरक्षात्मक सैन्य-विज्ञान में दुर्गों का विशेष महत्व राज्य की वाह्य आक्रमणों से रक्षा तथा आन्तरिक सुरक्षा दृष्टि से था।

मूल स्रोतों को अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से पांच भागों में विभक्त किया जा सकता है :

सर्व प्रथम राजनीतिपरक-ग्रन्थों का उल्लेख किया जा सकता है, जिससे प्राचीन सैन्य-व्यवस्था, सैन्य संगठन, सैन्य-प्रशासन, अस्त्र शस्त्र, युद्ध-कला, व दुर्ग आदि पर महत्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है। इस दृष्टि से कौटिल्य द्वारा लिखित अर्थ-शास्त्र का वर्णन किया जा सकता है। इस ग्रन्थ को सर्व प्रथम प्रकाश में लाने का श्रेय आर० शामशास्त्री को है, जिन्होने 1905 ई. में मैसूर राज्य से प्राप्त इस ग्रन्थ के कतिपय अंशों को अनुवाद के रूप में इंडियन एंटीक्वेरी में प्रकाशित कराया। 1909 ई. में शास्त्री के अथक प्रयासों से सम्पूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित हुआ। लेकिन कौटिल्य के नाम, काल व रचना के संदर्भ में विद्वानों में मतभेद है। इन सबके बावजूद अर्थ शास्त्र के रचयिता कौटिल्य थे। काल के संदर्भ में यह कहा जा सकता है कि राजशास्त्र संबधी जिन सिद्धांतों की स्थापना की गयी है, वे मौर्य-कालीन ही हैं।[1] कामन्दक नीतिसार से भी हमें प्राचीन युद्ध-कला के विभिन्न पहलुओ पर प्रकाश पड़ता है। वी० आर० आर० दीक्षितार जैसे विद्वानों ने इस ग्रन्थ को गुप्त कालीन माना है।[2]

महाभारत, रामायण, मनुस्मृति एवं याज्ञवल्क्य

---

1. मजुमदार, आर० सी०, दि एज आव इम्पीरियल युनिटी, पृ० 286.
2. दीक्षितार, वी० आर० आर०, गुप्ता पालिटी, पृ० 13

स्मृति के भी प्रस्तुत संदर्भ में स्रोत के रूप में महत्वपूर्ण हैं। इन सभी ग्रन्थों में प्राचीन सैन्य-व्यवस्था का उल्लेख मिलता है। महाभारत के सभा, शल्य, द्रोण, शान्ति, उद्योग, कर्ण, भीष्म, विराट, आदि व आश्रमवासिक आदि पर्वों में सैन्य-पद्धति का वर्णन मिलता है। इसका रचना काल चतुर्थ शताब्दी ई. पू. से चतुर्थ शताब्दी ई. तक है।[1] दूसरे महाकाव्य रामायण का समय चतुर्थ शताब्दी ई. पू. से द्वितीय शताब्दी ई. के अंत तक माना जा सकता है।[2] इसके बाल, किष्किंधा, युद्ध, अयोध्या, लंका व सुन्दर काण्डों में युद्ध-व्यवस्था का वर्णन मिलता है।

प्रारंभिक स्मृतियों में मनुस्मृति एवं याज्ञवल्क्य स्मृति को रखा जा सकता है, जिसमें सैन्य-विज्ञान के संबंध में महत्वपूर्ण जानकारी मिलती है। इसका रचना काल क्रमशः 200 ई. पू. से 200 ई. तथा 100 ई. से 300 ई. के मध्य निर्धारित किया गया है।[3]

अन्य ग्रन्थों से भी प्राचीन सैन्य-व्यवस्था पर प्रकाश पड़ता है। अष्टाध्यायी की रचना पाणिनी ने की थी। वासुदेव शरण अग्रवाल ने पाणिनी का पांचवी शताब्दी ई. पू. के मध्य भाग में रखा है।[4] महर्षि पतंजलि ने महाभाष्य की रचना की थी, जिनके काल के विषय में विद्वानों में मतभेद है, किंतु अधिकांश विद्वान इन्हे पुष्य-मित्र शुंग का समकालीन मानते हैं। कालिदास की रचना रघुवंश व् मालविकाग्निमित्र से भी प्राचीन सैन्य-पद्धति पर कुछ प्रकाश पड़ता है। कालिदास के समय में विद्वानों में मतभेद है। पं० क्षेतेश चन्द्र चट्टोपाध्याय ने कालिदास को प्रथम शताब्दी ई० में स्वीकार किया है।[5] सातवीं

---

1. मजुमदार, आर० सी०, दि एज ऑव इम्पीरियल युनिटि पृ० 252.
2. मजुमदार, आर० सी०, दि एज ऑव इम्पीरियल युनिटी, पृ० 254.
3. मजुमदार, आर० सी० दि एज ऑव इम्पीरियल युनिटी, पृ० 256-257.
4. अग्रवाल, वासुदेवशरण, पाणिनी कालीन भारत वर्ष, पृ० 468.
5. चट्टोपाध्याय, पं० क्षेतेशचन्द्र, दि डेट ऑव कालिदास, पृ० 36.

शताब्दी ई० में बाण ने हर्ष चरित की रचना की थी। यद्यपि हर्ष चरित में मुख्यतया हर्ष कालीन सैन्य-व्यवस्था का ही विवरण है, फिर भी प्रसंगवश इसमें पूर्ववर्ती कालों के विषय में भी जानकारी मिलती है, जिससे तत्कालीन युद्ध-व्यवस्था का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत हो सका है। पुराणों में केवल अग्नि-पुराण के चार अध्यायों में प्राचीन भारतीय युद्ध-विद्या से संबन्धित महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त होती है। अग्नि पुराण[1] से शस्त्र-निर्माण, धनुर्विद्या, शस्त्रपूजा, घुड़सवारी करते समय विभिन्न अस्त्र-शस्त्रों के प्रयोग की विधि तथा युद्ध-कला के 32 प्रकारों का वर्णन मिलता है। अतः मौर्य काल एवं मौर्योत्तर काल से लेकर अग्निपुराण के रचना-काल तक की युद्ध-व्यवस्था के विभिन्न पहलुओ की अवधारणा की प्रगति निर्देशित करने के लिए इस पुराण से प्राप्त सामग्री का यथा स्थान उपयोग किया गया है। मानसार नामक वास्तुशास्त्र संबधी ग्रन्थ से दुर्गों पर कुछ प्रकाश पड़ता है।

बौद्ध ग्रन्थों में विनय पिटक, सुत्तपिटक के अंगुत्तर निकाय, दीघनिकाय मज्झिमनिकाय, संयुक्त निकाय और जातक, तथा दिव्यावदान, धम्मपदट्ठ कथा, बुद्धचरित, महावस्तु, महावंस व मिलिंदपंहो से कुछ प्रकाश युद्ध-विद्या पर पड़ता है। जैन-साहित्य के उत्तरज्झयणसुत्त, उववाइसुत्त, उवासगदसाओ, ओववाइयसुत्त, प्रश्नव्याकरण व भगवती- सूत्र से भी सैन्य-विज्ञान के विभिन्न पक्षों पर कुछ प्रकाश पड़ता है।

दक्षिण भारतीय संगम कालीन साहितय से भी युद्ध-पद्धति के विभिन्न पक्षों पर प्रकाश पड़ता है। इस संदर्भ में सिलप्पदिकारम, तोलकप्पियम्, अहनानुरु, कुरल, पदिट्रुपात्तु, पुरनानुरु व मदुरैक्कांजी आदि ग्रन्थो का उल्लेख किया जा सकता है।

प्राचीन यात्रियों के यात्रा विवरण पर आधारित ग्रन्थो से भी प्राचीन सैन्य-व्यवस्था पर प्रकाश पड़ता है। इसे अध्ययनन की सुविधा से दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। यूनानी या ग्रीक विवरण तथा चीनी

---

1. सम्पादित एवं अनूदित तारिणीश झा, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग।

विवरण। सिकन्दर के साथ अनेक यूनानी विद्वान व लेखक भी भारत आए थे, जिनमें एरियन, देवोदोरस, पिलानी, कर्टियस व मेगस्थनीज उल्लेखनीय हैं। इनके वर्णन हमें यत्र तत्र सिर्फ टुकड़ो में ही प्राप्त होते हैं, जो सैन्य-विज्ञान की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। मेगस्थनीज का मूल ग्रन्थ इंडिका आज उपलब्ध नहीं है किंतु उसके उद्धरण का उपयोग परवर्ती लेखकों-एरियन, स्ट्रेबो आदि ने किया है। गंगा-यमुना के पश्चिम में उस समय जो राज्य विद्यमान थे, उनकी सैन्य व्यवस्था के संबंध में विश्वसनीय जानकारी प्राप्त करने के लिए इन यूनानी लेखकों के लेखों पर बहुत अधिक निर्भर रहना पड़ता है। मालव, क्षुद्रक, कठ व शिवि आदि गणराज्यों की सैन्य- पद्धति का परिचय हमें मुख्य रूप से यूनानी लेखों से प्राप्त होता है।

चीनी पर्यटकों में प्रमुख फाहियान व ह्वेनसांग हैं। दोनों बौद्ध थे और बौद्ध तीर्थों का दर्शन करने तथा बौद्ध धर्म का अध्ययन करने भारत आए थे। फाहियान पांचवी शताब्दी ई. में आया था जबकि ह्वेनसांग सातवीं शताब्दी ई. में दोनो ने तत्कालीन नगर दुर्गों पर कुछ प्रकाश डाला है।

पुरातात्विक साक्ष्यों से साहित्यिक स्रोतों से उपलब्ध साक्ष्यों की पुष्टि होती है। सेना के विभिन्न अंगो, अस्त्र-शस्त्र, एवं दुर्गों के अंकन हम कुछ स्मारकों, मिट्टी की मूर्तियों, प्रस्तर मूर्तियों, सिक्कों, भित्ति-चित्रों, मुहरोंआदि पर पाते हैं। इनमें से कुछ उत्खनन से उपलब्ध हुए हैं। स्मारकों के अन्तर्गत सांची, भरहुत, अमरावती आदि स्तूपों का उल्लेख किया जा सकता है। विभिन्न संग्रहालयों, जैसे ब्रिटिश म्यूजियम, बोस्टन म्यूजियम, राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली, भारतीय संग्रहालय, कलकत्ता, सालारजंग म्यूजियम, हैदराबाद, राष्ट्रीय संग्रहालय इलाहाबाद, मथुरा संग्रहालय, भारत कला भवन, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, जी० आर० शर्मा मेमोरियल म्यूजियम, प्राचीन इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद आदि में संकलित एवं प्रदर्शित मृण्मूर्तियों, प्रस्तर मूर्तियां, सिक्के आदि इस दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। अजन्ता की गुफाओ के कुछ भित्तिचित्रो में भी सेना के अंगों एवं अस्त्र-शस्त्र का अंकन मिलता है। अभिलेखों में समुद्रगुप्त की प्रयाग- प्रशस्ति, अफसड के

अभिलेख आदि का उल्लेख किया जा सकता है। प्रस्तुत संदर्भ में तक्षशिला, राजघाट आदि से प्राप्त कुछ मुहरे भी महत्वपूर्ण है।

"बन्दउ गुरु पद परम सनेही"

प्रस्तुत शोध कार्य **प्रो० डॉ० गोविन्द चन्द्र पाण्डे** एवं माता श्री श्रीमती सुधा पाण्डे के आशीर्वाद से संभव हुआ, प्रो० डॉ० बी० एन० एस० यादव एवं श्रीमती उर्मिला यादव की छत्र-छाया में पल्लवित हुआ तथा प्रो० जी० आर० शर्मा के मूल प्रेरणा से प्रस्फुटित हुआ। मैं सदा इन मनीषियों का आजीवन ऋणी रहूंगा। इनके अतिरिक्त प्रो० जे० एस० नेगी, प्रो० यू० एन० राय, प्रो० एस० एन० राय, प्रो० वी० सी० श्रीवास्तव , प्रो० आर० के० वर्मा, प्रो० एस० सी० भट्टाचार्या, प्रो० वी० डी० मिश्रा, प्रो० आर० के० द्विवेदी, प्रो० ओमप्रकाश, प्रो० जी० एन० पंत, श्री आर० सी० त्रिपाठी, डॉ० एस० पी० गुप्ता, डॉ० गीता देवी, डॉ० आर० पी० त्रिपाठी, श्री डी० मंडल, डॉ० जे० एन० पाण्डे, डॉ० जी० के० राय, डॉ० जे० एन० पाल, डॉ० उमेश चटटोपाध्याय, श्री ओमप्रकाश, डॉ० वन माला, डॉ० ए० पी० ओझा, डॉ० प्रकाश सिन्हा, डॉ० शशिकान्त राय, डॉ० हर्ष कुमार, डॉ० अनूपा पाण्डे, डॉ० अनामिका राय, डॉ० पुष्पा तिवारी, डॉ० देवी प्रसाद दुबे, डॉ० चन्द्रदेव पाण्डे, श्री विधु पाण्डे, डॉ० सुस्मिता पाण्डे, श्री जैमिनी शर्मा, श्रीमती अमिता शर्मा, श्री देवीप्रसाद पाण्डे, श्री विनय पाण्डे, श्रीमती तनूजा पाण्डे, डॉ० स्वतंत्र सिंह, डॉ० मीनाक्षी यादव, श्री हीरा लाल,श्रीमती मोनी, श्री अनिल कुमार, श्री सप्तर्षि कुमार, श्री अमित, श्री राकेश तिवारी, श्री गोपेश तिवारी आदि से समय समय पर मिला हुआ स्नेह एवं मार्ग दर्शन के लिए कृतज्ञ हूँ।

इलाहाबाद विश्वविद्यालय के प्राचीन इतिहास विभाग के शोध छात्रों कर्मचारियों तथा इलाहाबाद संग्रहालय के सभी निवर्तमान एवं वर्तमान सदस्यों का चिर ऋणी रहूँगा, जिनके सहयोग से यह शोध कार्य पूरा कर सका, अंत में उन सभी के प्रति आभार व्यक्त करता हूँ, जिन्होने प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से इस कार्य को पूर्ण करने में मेरी सहायता की।

शोध सामग्री के संकलन में मुझे इलाहाबाद विश्वविद्यालय के केन्द्रीय पुस्तकालय, प्रतिरक्षा अध्ययन विभाग के पुस्तकालय तथा प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग के पुस्तकालय, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, गंगानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, राष्ट्रीय संग्रहालय इलाहाबाद , राजकीय पब्लिक पुस्तकालय तथा केन्द्रीय पुस्तकालय से सहायता मिली है। इसके लिए मैं उनके अधिकारियों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

तिथि: 30.12.93

दिनेश कुमार केसरवानी
दिनेश कुमार केसरवानी

प्रथम अध्याय : सैन्य-संगठन

अध्याय-1

सैन्य-संगठन

प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में राज्य के सात अंगों में से एक महत्वपूर्ण अंग सेना को माना गया है। मौर्यकाल में कौटिल्य ने छः प्रकार के बलों ॥सेनाओं॥ का उल्लेख अर्थशास्त्र में किया है।[1]-

1. मौल-बल-(सेना) स्वामिभक्त व मूल स्थान की रक्षा हेतु थी ।
2. भृतक-बल-सवैतनिक थी।
3. श्रेणी-बल-अस्त्र-शस्त्र निपुण व अन्य कार्यों से सम्बद्ध थी।
4. मित्र-बल-मित्र राजा की सेनाएँ थी।
5. अमित्र-बल-शत्रु द्वारा प्राप्त सेना थी।
6. अटवी-बल-आटविक सेना थी।

अर्थशास्त्र में कौटिल्य ने उपर्युक्त छः बलों के अतिरिक्त औत्साहिक बल नामक एक सातवें प्रकार की सेना का वर्णन किया है। औत्साहिक बल से तात्पर्य नेतृत्व विहीन, भिन्न-भिन्न देशों में रहने वाली राजा की स्वीकृत या अस्वीकृत से ही दूसरे देशों पर लूट मार करने वाली सेना से हैं। कौटिल्य ने उसके भेद किए हैं- भेद्य और अभेद्य।

भेद्य सेना

भेद्य से तात्पर्य दैनिक भत्ता या मासिक वेतन लेकर शत्रु के देश में लूटपाट करने वाली, राजा की सामयिक आज्ञाओं का पालन करने वाली तथा दुर्गों में कार्य करने वाली सेना से है।

अभेद्य सेना

प्रायः एक ही देश, व्यवसाय व जाति की होती है। इस सेना को किसी भी प्रलोभन आदि से फोड़ा नहीं जा सकता था। अतः ऐसी सेना ही उपयुक्त समय के लिए रखना चाहिए[2] विभिन्न प्रकार की सेनाओं का उल्लेख महाभारत में भी मिलता है।[3]

---

1. अर्थशास्त्र कांगले द्वारा संपादित, भाग 1, 9.2.1 और आगे
2. अर्थ शास्त्र ॥कांगले द्वारा सम्पादित॥ भाग1, 9.2.1 और आगे
3. आश्रम वासिकपर्व 7.7.8

चतुरंगिणी सेना

सेना के तीन मुख्य अंग थे-पदाति रथ व अश्व[1] वैदिक काल में वैदिक काल के बाद सैन्यसंगठन में उत्तरोत्तर विकास होता गया। रामायण् व महाभारत काल से ही सेना को चतुरंगिणी कहा जाने लगा[2] ।पर महाभारत के शांति पर्व में सेना के छ: अंगो के बारे में भी जानकारी मिलती है[3] बौद्ध जातक[4] व जैन ग्रन्थों[5] में भी चतुरंगिणी सेना का विस्तृत रुप से उललेख हुआ है। सेना के लिए चतुरंगिणी सेना प्रचुर प्रयोग होने के कारण चतुरंग शब्द सेना के लिए साहित्यिक सांकेतिक शब्द बन गया।इससे स्पष्ट होता है कि 600 ई.पू. मे चतुरंगिणी सेना में काफी विकास हो गया था इस बात का स्पष्ट समर्थन यूनानी इतिहास कारों द्वारा हो जाता है। उदाहरण के लिए सिकन्दर के आक्रमण के समय क्षुद्रक तथा मालव सेना में पदति, हाथी, व रथ विद्यमान है।[6] मौर्य काल में चतुरंगिणी सेना- पैदल, अश्वारोही ,रथारोही व गजरोही होने का उल्लेख् कौटिल्य ने कई स्थानों पर किया है[7] । महर्षि पतंजलि ने अपने महाभाष्य में चतुरंग बल की अवधारण का पूर्व विवरण दिया है।[8] कलिंग नरेश खारवेल ने अपने शासन के दूसरे वर्ष शातकर्णी के विरुद्ध अश्व,हस्ति,रथ व गज कि विशाल सेना युद्ध के लिए

---

1. डा० दास, ए. सी., ऋग्वैदिक कल्चर, पृ० 223-26,सो०कृत्यायन, राहुल, ऋग्वैदिक आर्य, पृ० 142
2. रामायण, 2-33-6 वनपर्व, 247-6
3. शांति पर्व, 103/38-39 संपा० (खंड 6) पृ० 473,639 ।
4. महा उम्मग्ग जातक, 546,133,140, महा वेस्सन्तर जातक, 547, 710-20, 1818 कौसल्यायन द्वारा अनु. जातक
5. उत्तराध्ययन सूत्र, 22/12, ज्ञातृधर्म कथा 8,129, उववाई सूत्र, 103 । (उद्धृत, जैन जगदीश चन्द) जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज पृ० 95 ।
6. मैक्रिडल, इंडिया ऐंड इट्स इनवेजन बाई अलेक्जेन्डर, पृ० 278 ।
7. अर्थशास्त्र, कांगले द्वारा संपादित, भाग 1,10,4,5
8. महाभाष्य, 1.1.72. पृ० 447

भेजा था ऐसा उल्लेख उड़ीसा से प्राप्त हाथी-गुम्फा अभिलेख में हुआ है।[1] शक नरेश रुद्रदामन के जूनागढ़ अभिलेख में चतुरंगिणी सेना का उल्लेख मिलता है[2] कुषाण काल में चतुरंगिणी सेना विद्यमान थी या नहीं, इसका कोई स्पष्ट प्रभाव उपलब्ध नहीं है। चट्टोपाध्याय ने मुद्राशास्त्रीय प्रमाणों से स्पष्ट किया है कि उस समय दो डील वाले ऊट हाथी और रथ(बिगा) का प्रयोग साधन के रूप में अज्ञात नहीं था ।इसलिए यह कहना की इस काल में युद्ध के लिए इन साधनों का प्रयोग नहीं होता था सर्वथा अनुचित होगा। लेकिन इतना तो अवश्य ही कहा जा सकता है अश्वारोही सेना का सबसे अधिक महत्व था।[3]

सांची, अमरावती, व नागार्जुनकोंडा के स्तूपों में भी चतुरंगिणी सेना का अंकन मिलता है।[4]

गुप्त साम्राज्य के काल में सेना का परम्परागत रूप चतुरंगिणी ही सामने आता है।सामरिक दृष्टि से रथ का महत्व कम हो जाने से सिर्फ परम्परा के लिए उसका उल्लेख किया जाता था।[5] इस प्रकार छठी शताब्दी ई.पू. से लेकर छठी शताब्दी ई. तक चतुरंगिणी सेना का युद्ध भूमि में प्रयोग होता रहा। चतुरंग शब्द सेना शब्द का पर्यायवाची होने के कारण सेना के कोई एक अंग न होने पर अथवा उस अंग के पूर्वतः अनुपयोगी होने पर भी सेना को चतुरंग बल नाम से अभिहित किया गया। चतुरंग के सम्बन्ध में दीक्षितार[6] का मत है कि प्राचीन भारतीय सैन्य संगठन जिसे हम चतुरंग कहते हैं, शतरंज के खेल पर आधारित है।

---

1. ई०आई० जिल्द 8, पृ०45 (एपिग्राफिया इंडिका)
2. सरकार, डी.सी., सेलेक्ट इंस्क्रिपशंस जिल्द 1 पृ० 215
3. चट्टोपाध्याय, भास्कर, कुषाण स्टेट ऐंड इंडियन सोसायटी, पृ० 144-45।
4. मार्शल, जे, ऐंड फूशे, ए., दि मानुमेंटस आफ सांची, जिल्द 2 फलक 11, शिवराम मूर्ति, सी०, अमरावती स्कल्पचर्स इन मद्रास गवर्नमेंट म्यूजियम, फलक 46 चित्र 1 रे, निहाररंजन, मौर्य एन्ड पोस्ट मार्य आर्ट, पृ० 126।
5. मजुमदार, आर०सी० क्लासिकल एज, पृ०349।
6. दीक्षितार, वी आर० आर०, वार इन ऐंश्येंट इंडिया, पृ० 155।

चतुरंगिणी सेना के साथ साथ उसके कतिपय अन्य सहायक अंगों के प्रमाण भी हमें मिलते हैं। इन सहायक अंगों में नौ सेना, प्रवाव विभाग (विष्टि) चल चिकित्सालय और गुप्तचर व राजदूत में ये चार विभाग हैं। प्राचीन साहित्य में कहीं कहीं चतुरंगिणी सेना के साथ शेष उपर्युक्त चार सेनांग समाहित कर दिए गए हैं और कहीं उनका पृथक रूप से उल्लेख हुआ है।

पदाति सेना: प्राचीन भारत में विश्व के अन्य भागों की भांति पैदल सैनिकों सेना को प्रमुख अंग माना जाता था। वैदिक काल में पदाति सेना का काफी महत्व रहा होगा। पर जैसा कि अथर्ववेद (7.62.1) से ज्ञात होता है कि पदाति सेना रथ-सेना से कम महत्व की मानी जाती थी। इस संबंध में अथर्ववेद में कहा गया है कि अग्नि देवता शत्रुओं पर उसी तरह विजय प्राप्त करते हैं जैसे रथारोही पैदल पर।[1] लेकिन महाकाव्य काल तक आते आते पैदल सैनिकों का महत्व रथ-सैनिकों की अपेक्षा काम हो गया था। महाभारत में वर्णित अनेक युद्ध प्रसंगों से स्पष्ट हो जाता है कि पदाति योद्धा रथ पर सवार योद्धा के पीछे पीछे अनुग, पदानुग और अनुचरकी भांति चलने वाले थे।[2] इनकी चयन प्रणाली में भी इसी लिए ढिलाई की जाने लगी। समाज के निम्न वर्गों, अर्द्ध सभ्य एवं असभ्यजातियों तथा विदेशियों में से उनके चुने जानेका अनेक बार उल्लेख मिलता है चक्रवर्ती[3] की मान्यता है कि पैदल सैनिकों का चुनाव इस काल में अधिककांशतः शोभा के लिए होता था। सर्वाधिक संख्या में वे युद्ध क्षेत्र में घायल होते थे तथा मृत्यु को प्राप्त करते थे। इन सबके बावजूद उनकी भूमिका नगण्य सी रहती है

महाभारत व रामायण काल के बाद सेना में अश्व सेना और गज सेना पर अधिक बल दिया गया, इसके बावजूद पैदल सैनिकों की संख्या में कमी न की जा सकी। पी.सी. चक्रवर्ती के अनुसार हिन्दू सेनाओं में चौथीशताब्दी ई.पू. से लेकर 1200 ई.के अंत तक पैदल सैनिकों की

---

1. सिंह, सर्वदमन, ऐंश्येंट इंडिया वार फेयर विद् स्पेशल रिफरेंस टू वैदिक पीरियड पृ० 13।
2. हापकिंस, ई० डब्लू०, जनरल आफ दि अमेरिकन ओरियंटल सोसायटी अंक 13, पृ० 260।
3. चक्रवर्ती, पी.सी., दि आर्ट आफ वार इन ऐंश्येंट इण्डिया पृ० 5.

अधिकता बनी रही।[1]

अग्नि पुराण में ऐसा विवरण आता है कि जिस राजा की सेना के पदाति सैनिकों की संख्या अधिक होती है वह निश्चय ही शत्रु पर विजय प्राप्त करता है अग्नि पुराण के इस उल्लेख से पी.सी. चक्रवर्ती के कथन का समर्थन हो जाता है।[2] इतना निश्चय था कि महाभारत -रामायण काल के बाद पैदिल सैनिक का महत्व अपेक्षाकृत कम हो गया, क्योंकि अश्वारोही और हस्ति-सेना का महत्व पैदल सैनिको की अपेक्षा कौटिल्य के अनुसार अधिक है।[3] फिर भी पैदल सैनिको के महत्व को नकारा नहीं जा सकता । दुर्ग की रक्षा में पैदल सैनिक का अधिक महत्व है।ऐसा पी.सी. चक्रवर्ती[4] की मान्यता है। इस मान्यता के पीछे कारण यह था कि जिस समय शत्रु दुर्ग के फाटक को तोड़ रहा हो, उस समय पैदल सैनिक ही दुर्ग की दीवालों पर तथा बुर्जों में या दीवालों के पीछे से अपने अस्त्रशास्त्रो एवं प्रक्षेपास्त्रो से दुर्ग की रक्षा करते हुए आक्रमणकारियो पर प्रहार कर सकते थे, जिससे यह साफ जाहिर होना है कि किले -बन्दी के (लड़ाई के महत्वपूर्ण (अवसर पर हस्ति, रथ और अश्व सैनिक असफल हो जाते है।

यूनानी लेखक कर्टियस, एरियन, डायोडोरस, मेगस्थनीज आदि ने चौथी शताब्दी ई.पू. की भारतीय पदाति सेना के विषय में महत्वपूर्ण प्रकाश डाला है। कर्टियस ने लिखा है कि 38,000 पैदल सैनिक अश्वकों के मस्सग नगर की सुरक्षा करते थे।[5] सिकन्दर के विरूद्ध युद्ध में पोरस ने रथ क्षेत्र में जो सेना उतारी थी कर्टियस[6] के अनुसार उसमें 30,000 पैदल सैनिक तथा

---

1. चक्रवर्ती, पी.सी. दि आर्ट आफ वार इन ऐंश्येंट इन्डिया, पृ० 16 ।
2. अग्नि पुराण, 228.7 ।
3. अर्थ शास्त्र, 10.4.6 ।
4. चक्रवर्ती, पी.सी.,दि आर्ट आफ वार इन ऐंश्येंट इंडिया पृ० 18
5. मजूमदार आर.सी., क्लासिकल एकाउंटस आफ इंडिया, पृ० 109
6. मजूमदार आर. सी. क्लासिकल एकाउंटस आफ इंडिया, पृ० 116 ।

प्लूटार्क[1] के तर्क के अनुसार 20,000 पैदल सैनिक थे। एरियन[2] गंगा के उस पार गैंगरिडाई तथा प्रेसिआई नामक दो जातियों के सेना के सन्दर्भ में बताता है कि वहां का राजा अग्रमिज दो लाख पैदल, 20 हजार अश्वारोही, दो हजार रथ तथा तीन हजार गैंडा सेना, अपने देश की रक्षा के लिए तैयार रखता था। एरियन के मत का समर्थन प्लूटार्क[3] ने भी किया है। भारत से सिकन्दर की वापसी के समय क्षुद्रक व मालव दोनों ने सिकन्दर का सामना करने के लिए संयुक्त तैयारी की थी। डायोडोरस[4] तथा कर्टियस[5] दोनों संयुक्त पैदल सैनिकों की संख्या क्रमशः 90,000 तथा 80,000 बताती है ।

मौर्य काल में इस सेना की संख्या में अधिक बढ़ोत्तरी हुई । चन्द्रगुप्त मौर्य की सेना में प्लिनी के अनुसार छः लाख पैदल सैनिक थे।[6]

अस्त्र शस्त्र एवं वेश भूषा:

पदाति सैनिकों की वेशभूषा एवं आयुधों के सन्दर्भ में प्राचीन ग्रन्थों एवं अंकनों के पर्याप्त जानकारी प्राप्त होती है। युद्ध भूमि के लिए जाते हुए सैनिक लाल रंग के कपड़े पहनते थे ऐसा प्रसंग महाभारत मे आया है।[7] धनुष-बाण उनका प्रमुख अस्त्रशास्त्र था। इसके अतिरिक्त तलवार, विभिन्न प्रकार के भाले, परशु और गदा आदि आयुधों का भी प्रयोग करते थे।पैदल सैनिक हाथ मे तलवार भाला, धनुष बाण आदि लेकर चलते थे तथा आक्रमण के प्रहार से रक्षा के लिए वर्म और कवच धारण किए रहते थे, भुजाओ पर चर्म पटट बांधे रहते थे ऐसा उल्लेख जैन

---

1. मैक्रिडल, इंडिया ऐंड इटस इनवेजन बाई अलेक्जेन्डर, पृ० 310
2. मैक्रिडल, इंडिया ऐंड इटस इनवेजन बाई अलेक्जेन्डर, 221-22
3. मैक्रिडल, इंडिया ऐंड इटस इनवेजन बाई अलेक्जेन्डर, पृ० 310
4. मजूमदार, आर.सी., क्लासिकलएकाउंटस आफ इंडिया, पृ० 176
5. मजूमदार, आर.सी.,क्लासिकल एकाउंटस आफ इंडिया, पृ० 137
6. प्लिनी नेचुरल हिस्ट्री 5-22, उद्धृत, मुकर्जी, राधाकुमुद, चन्द्रगुप्त मौर्य व काल पृ0 120
7. द्रोण पर्व, 34/15 ।

जैन ग्रन्थों मे मिलता है।[1] आलीढ़, प्रत्यालीढ़, वैशाख, मंडल और समपाद नाम के आसन योद्धा लोग धनुष-बाण चलाते समय स्वीकार करते थे।[2] तलवार, शक्ति, भिंदिपाल, बर्छी तोमर, भाला तीर, शूल गोफन, धनुष-बाण आदि आयुधों से कूणिक के पैदल सैनिक सुसज्जित था।[3] कवच धारण करने वाले, ढ़ाल तलवार चलाने में निपुण तलवार की मूठ पकड़ने मे शिक्षित, हाथी की गर्दन गिरा दे सकने में समर्थ पैदल सैनिकों का वर्णन महाउम्मग जातक में हुआ है।[4] नील कवचधारी धनुष तथा तूणीरधारी पैदल सैनिक की उल्लेख महाजनक जातक मे हुआ है।[5] नील वस्त्रधारी, पीतवस्त्रधारी, लाल पगड़ी, वाले सफेद वस्त्र वाले तथा नाना प्रकार के वस्त्रों से अलंकृत पैदल सैनिको वर्णन महावेस्सन्तर जातक में हुआ है।[6]

पैदल सैनिकों का प्रमुख अस्त्र- शस्त्र धनुष- बाण चतुर्थ शताब्दी ई.पू. में प्रचलित हो गया था। एरियन[7] ने लिखा है कि भारतीय पैदल सैनिक अपनी लंबाई के बराबर धनुष धारण करते है। वे इससे बाण छोड़ने के लिए धनुष को भूमि पर टेककर बाएं पैर के सहारा देकर इसकी डोरी खींचते हैं। उनके बाण लगभग तीन गज लंबे होते है। उनके द्वारा छोड़े गए बाण को किसी प्रकार की ढाल या कवच या अन्य सुरक्षात्मक वस्तु रोकने में असमर्थ होती है। ये अपने बाएं हाथ में बैल की खाल से निर्मित ढ़ाल भी धारण करते हैं, जो इन सैनिको की चौड़ाई से कुछ ही

---

1. औपपातिक सूत्र 31, पृ० 132, विवाक सूत्र2, पृ० 13, उद्धृत (जैन जगदीश) पृ० 103।
2. निशीथ् भाष 20-6300, दृष्टव्य जैन, जगदीश चन्द, जैन आगम साहित्य के भारतीय समाज, पृ० 103 ।
3. उववाई सूत्र, समवसरणाधिकरण, 121, उद्धृत (जैन जगदीश चन्द्र), पृ० 103
4. महाउम्मगजातक, 216-17, (कौसल्यायन द्वारा अनु०) खंड 6, पृ० 491।
5. महाजनक जातक, 72, (कौसल्यायन द्वारा अनु०) खण्ड 6, पृ० 60।
6. महावेसांतरजातक, 712-14, (कौसल्यायन द्वारा अनु० खंड 6, पृ० 639
7. मजुमदार, आर० सी०, क्लासिकल एकाउंटस आफ इंडिया, पृ० 230।

कम होती है, कुछ सैनिक धनुष के स्थान पर भाले का प्रयोग करते है, किन्तु सभी सैनिक तलवार पहने रहते थे। यह तलवार तीन बालिश्त से अधिक लंबी नहीं होती और जब वे आमने सामने लड़ते हैं, तो भरपूर आघात करने के लिए इस तलवार को दोनो हाथो से चलाते हौ। नीलकंठ शास्त्री[1] के अनुसार सातवाहन कालीन पैदल सैनिक आक्रमण करने के लिए छोटी तलवारों का प्रयोग करते थे तथा गोल ढालों और अपने पेट पर बधी पट्टियों के सहारे शत्रु सैनिकों के शास्त्रो से अपनी रक्षा किया करते थे।

माघ[2] ने पैदल सैनिको को तलवार व ढाल से युक्त बताया है। अहिच्छत्र[3] से प्राप्त एक मृण्मूर्ति में गठे हुए लंबे शरीर पर पतली कमर में बंधी हुई पेटी और उसमें खुसी हुई कटारी-दिखाई गई है। इसकी तिथि लगभग छठी शताब्दी ई. मानी गई है।

धातु युद्ध के दृश्यों में अधिकांश पैदल सैनिकों को धनुर्धारी के रूप में चित्रित किया गया है और उनमें से कुछ को चौड़ी और भारी तलवार तथा भाला से युक्त सांची स्तूप के तोणों पर अंकित किया गया है। एक सैनिक को ढाल तथा भाले से युक्त अन्य दृश्य मे दिखाया गया है।[4] इन दृश्यों से यह स्पष्ट होता है कि भारतीय सैनिकों का विवरण तथा प्राचीन कला में उनका अंकन, विदेशी लेखकों के विवरण से भिन्न है। प्राचीन भारतीय सैनिक धनुष बाण के अतिरिक्त ढाल भी धारण करते थे ऐसा एरियन का मत था, लेकिन सांची व भरहुत की शिल्प-कला में केवल तलवार तथा बल्लभ धारी सैनिक ही ढाल धारण किए हुए है।[5] नजदीकी युद्ध में उपयोगिता की

---

1. शास्त्री, के० ए० नीलकंठ, दक्षिण भारत का इतिहास, पृ० 82 ।
2. शिशुपाल वध 18.4, 19/21,19/55 ।
3. अग्रवाल, वासुदेव, शरण, टेराकोटा फिगरीन्स आफ अहिच्छत्र ए० आई० (ऐंश्येंट इंडिया) अंक 4, पृ० 149 चित्र संख्या 188 । द्रष्टव्य चित्र फलक -1 ।
4. मार्शल, जे० एन्ड फुशें ए०, दि मानुमेंटस आफ सांची रीमेन्स, जिल्द 2, फलक 61; कनिंघम ए०, दि भिल्सा टोप्स, पृ०217 । द्रष्टव्य चित्र फलक-2
5. मैसे, सांची ऐंड इटस रीमेन्स फलक 20, कनिंघम, ए० दि स्तूप आफ भरहुत, फलक 32 ।

दृष्टि से बल्लभ तलवार धारी सैनिक के पास ही ढाल उपयोगी हो सकती थी। क्योंकि विपक्षी के आक्रमणको वे सैनिक अपनी ढाल पर रोक सकते थे। धनुर्धारी सैनिक अपनी ढाल द्वारा अपनी रक्षा नहीं कर सकते थे। इसके साथ ही धनुष बाण चलाने में ढाल बाधक भी हो सकती थी। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि यूनानी लेखक एरियन का विवरण भ्रामक और संभवतः असत्य है। इस प्रकार सांची में अंकित उर्पयुक्त विवरणों से यूनानी अथवा भारतीय साहित्य में वर्णित प्राचीन भारतीय पदाति सैनिको के शास्त्रास्त्रों की समता, थोड़ी सी विभिन्नता के साथ हो जाती है। पत्थर पर खुदे हुए सांची स्तूप के दृश्य में सिद्धार्थ राजकुमार से संबंधित एक कहानी का अंकन किया गया है। इस दृश्य में राजकुमार को लोहे को बेध जाने वाला बाण चलाते हुए अंकित किया गया है। इस चित्र के अग्रभाग में तीन योद्धा जिनके हाथ में रोमन शैली की छोटी-छोटी सीधी तलवारें तथा बायें कंधे पर फारसी शैली के धनुष रखे हुए हैं, वे पैर पर एक दूसरे को

काटती हुई पेटियाँ भी अपने तरकस रखने के लिए बांधे हुए है। योद्धा के साथ ढुंदर्भ व ढोल बजाने वाले भी है।[1]

भरहुत की प्रतिमाओ में युद्ध या घेरा बन्दी का दृश्य सांची की परवर्ती प्रतिमाओ की तरह नहीं है। फिर भी एक सिपाही का आदम कद चित्र इसमें देखने को मिला है, जो भाति भांति सुरक्षित है। उसकी वस्त्र-आभूषणों का सम्पूर्ण विवरण असानी से प्राप्त किया जा सकता है।[2] उसका सिर नग्न, घुंघराले छोटे बाल है जो एक चौड़ी पटटी या रिबन मे बंधे हुए है। यहां सिर के पीछे एक गांठ में बंधा हुआ है। वेश-भूषा उसकी लंबी बांहों वाले चोगे की है, जो लगभग जांघो तक पहुचाता है।कमर व जघाएं धोती से घिरी हुई है तथा पांवों में जूते पहने हुए है। सिपाही के दाएं हाथ में लंबी चौड़ी म्यान में रखी तथा लंबी समतल पेटी से बंधी तलवार बाएं कंधे से लटक रही है तथा उसके बाएं हाथ में फूल है। तलवार की लंबाई लगभग ढाई फुट तथा चौड़ाई मनुष्य की भुजाओ से अधिक

---

1. मुकर्जी, आर० के०, चन्द्रगुप्त मौर्य और उसका काल, अनुवाद मुनीश सक्सेना पृ० 228।
2. कनिंघम, ए०, दि स्तूप आफ भरहुत फलक 32 चित्र 1, पृ० 32-33, द्रष्टव्य फलक चित्र-3

है। मांगलिक चिन्ह त्रिरत्न तलवार की म्यान पर अंकित है। तलवार की पेटी, म्यान के पास लगे एक छल्ले में से गुजरने के बाद म्यान के ऊपर, दोहरी आर पार नीचे की ओर दिखाई पड़ती है और फिर नोक पर एक छल्ले में बंधी है जिसके चौड़े किनारे दुपट्टों के किनारों की भांति नीचे लटक रहे है।

स्ट्रबो के विवरण से प्रतीत सिपाही का चोगा, राजा द्वारा सैनिको को दी गई वेशभूषा होती है। स्ट्रबो के अनुसार पांचवी श्रेणी उन रणबाकुरो की है जो रणक्षेत्र में न जाकर भी व्यर्थ में मधपान करके ही अपना समय व्यतीत नहीं करते है और उनको राजा की देखरेख में रखा जाता है। आवश्यकता पड़ने पर वे सदैव मोर्चे पर प्रयाण करने के लिए तैयार रहते है क्योंकि वे अपने शरीर के अतिरिक्त कुछ नहीं रखते ।[1]

कुछ पैदल सैनिको का चित्रण अजन्ता की गुफा संख्या 10 में हुआ है। जिसका समय लगभग दूसरी शताब्दी ई०पू० है।[2] इनमें पैदल सैनिक को भाला और गदा लिए हुए दिखाया गया है। तीन सैनिको को गदाधारी के दाहिनी तरफ कुल्हाड़ी से सुसज्जित दिखाया गया है। अन्य सात सैनिको में से चार सैनिको को इसी दृश्य में धनुष बाण से तथा तीन को घुमावदार तलवार के साथ चित्रित किया गया है। इन दृश्यों का चित्रण लगभग दूसरी शताब्दी ई०पू० का प्रतीत होता है।[3] अजन्ता की गुफा में एक तोरण द्वार का चित्रण हुआ है, जिसमें राजकीय दल बाहर को निकलते हुए दिखाया गया है। इस दृश्य में सैनिक अपने बाएं हाथ में ढाल तथा दाएं हाथ में दुधारी तलवार लिए हुए है।[4] पैदल सैनिकों के आयुधों का विशद रूप में चित्रण अजन्ता की गुफा संख्या 17 में किया गया है। विद्वानों ने जिसका गुप्त काल समय निश्चित किया है। इसी गुफा के एक दृश्य में काशी नरेश को घोड़े पर आसीन दिखाया गया है, जो अपने अनुचरों अर्थात पैदल सैनिको से घिरे हुए है। ये सैनिक अपने हाथ में तलवार, भाला, धनुष बाण तथा कटार आदि लिए हुए है[5] इसी

---

1. स्ट्रबो, ज्योग्राफ 15.1.47 ।
2. शास्त्री, अजयमित, अजंता 1980, पृ० 53
3. याजदानी, जी० अजंता, जिल्द, 3 फलक 24 पृ० 25
4. वही फलक 24-सी, पृ० 28।
5. वही, जिल्द 4 फलक 12 डी० पृ० 34।

प्रकार के अनेक दृश्य इस गुफा के देखने को मिलते है, जिनके तलवार, भाला, ढ़ाल आदि लिए हुए गुफा में देखने को मिलते है, जिनमें तलवार, भाला, ढ़ाल आदि लिए हुए पैदल सैनिको को चित्रित किया गया है।[1] चित्रकला शिल्पकला व साहित्य से स्पष्ट होता है कि पैदलसैनिक को प्रमुख अस्त्र-शस्त्र धनुष-बाण था, तालवार, भाले आदि थे। गुफा संख्या 67 में उत्कीर्ण लेखो एवं चित्रों से ज्ञात होता है कि इसके निर्माण मे वासिष्ठीपुत्र कटहादि, बहाल के कण्हक तथा पैठल के धर्मदेव ने महत्वपूर्ण योगदान दिया था। इन लेखों के अक्षर रचना के आधार पर इस गुफा का निर्माण काल द्वितीय शताब्दी ई.पू. माना गया है ।

इन अस्त्रशास्त्रो के अतिरिक्त अन्य अनेक हथियारो जैसे कुन्त, शूल, प्राश, गदा, शक्ति, नालीक, मुदगर, नाटराच, मूसल आदि का प्रयोग सैनिक करते थे। अस्त्र शस्त्र के अभाव में हाथ, पाँव, घुटना, एड़ी नख, दांत आदि से हथियारों का काम किया जाता था। समस्त अस्त्रशास्त्रो के नष्ट होने पर युद्ध स्थल में प्रायः मल्ल युद्ध का आश्रय लेना पड़ता था, जिसमें शरीर के अंगो को अस्त्रशस्त्र के रूप में उपयोग किया जाता था। इस प्रकार प्राचीन भारतीय पैदल सैनिक अपने सुसंगठना रणकुशलता के और अस्त्रशास्त्रो के प्रहार की प्रवीणता के कारण विदेशों तक विख्यात थे।

भूमि: पैदल सेना की भूमि के सन्दर्भ में कौटिल्य ने मत काम किया है कंटकरहित न अधिक ऊची और न अधिक नीची एवं अवसर पर वापस लौट आने की सुविधा वाली भूमि पैदल सेना के लिए अत्यन्त उत्तम होती है।[2] महाभारत में यह वर्णन मिलता है जो भूमि दुर्गम, अत्यधिक घास फूसवाली बांस और बेतों से भरी हुई तथा पर्वत एवं उपवनों से युत्व हो वही भूमि पदाति सैनिको के योग्य होती है।[3] असमतल अर्थात ऊची नीची भूमि को अग्नि पुराण में पैदल सेना के लिए उपयुक्त बताया गया है।[4]

---

1. वही, फलक 27सी, 37 बी, पृ० 61, लेडी हेरिघम, अजन्ता फ्रस्कोस, फलक 17, 22 आदि
2. अर्थशास्त्र, 10.4.7.
3. शांति पर्व, 100/23
4. अग्नि पुराण, 236/49।

कार्य: पैदल सेना सम-विषक आदि सभी स्थानों और वर्षा, शरद आदि सभी ऋतुओ में युद्धों के लिए तैयार हो जाना, नियम पूर्वक कबायद करना और अवसर आने पर युद्ध करना आदि कार्य कौटिल्य[1] ने बताया है युद्ध भूमि से मृतक तथा घायल योद्धाओ को बाहर ले जाना , युद्ध भूमि में जल पहुचाना, हस्ति सेना का प्रतिरोध करना तथा शस्त्रास्त्र आदि पहुचाने अग्नि पुराण के अनुसार इनका प्रमुख कार्य था ।[2]

रथ सेना: प्राचीन भारतीय युद्ध-कला के सन्दर्भ में युद्ध भूमि में रथों का प्रयोग महत्वपूर्ण माना जाता रहा। प्राचीन देशों में रथ का प्रयोग युद्ध के लिए किया जाता रहा है। हड़प्पा[3] व लोथल[4] के उत्खन्न के पश्चात हमे रथों के सन्दर्भ में कुछ जानकारी मिली है। लेकिन इसका प्रयोग युद्ध के संबंध में होता था या वाहन के रूप में होता था, निश्चय रूप में कुछ कहना न्याय संगत प्रतीत नहीं होता। पैदल सैनिक का ही प्रयोग भारतीय संस्कृति के विकास के प्रारम्भिक चरणों में युद्ध के लिए होता था। बाद के समय में आर्यों को लंबी सैनिक यात्राएं अपने राज्य विस्तार के लिए करनी, जिसमे अधिक समय लगता था और रास्ते में ही सैनिक थक जाते थे। अतः युद्ध-भूमि में तीव्रगति वाले साधनों का प्रयोग आवश्यक हो गया। रथों का विकास इसी कमी को पूरा करने के लिए हुआ । इसके साथ ही पैदल सैनिक की अपेक्षा रथ में सवार सैनिक अधिक सुरक्षित रहता था। रथ की महत्ता का उल्लेख हापकिन्स ने किया है, रथ पर सवार सैनिक योद्धा एक सेना के सामान समझा जाता था ।[5]

रथ संरचना एवं रथांग:

वैदिक साहित्य से वैदिक आर्यों के रथो की संरचना रथ के विभिनन अंगों के नाम तथा युद्ध में इनकी

---

1. अर्थ शास्त्र ,10.4.16.
2. अग्नि पुराण, 236/44-45 ।
3. वाटस, एम० एस०, एक्यकवेशन एट हड़प्पा, जिल्द 2 प्लेट 125, 35 ।
4. घोष, ए, इंडियन आर्कियोलाजी, 1959-60, ए० रिव्यू, पृष्ठ 18, प्लेट 15 बी एण्ड सिगमा।
5. हापकिंस ई० बाशबर्न, जे० ए० ओ०एस० जिल्द 13, पृ० 261-62 ।

उपयोगिता आदि विषयों पर प्रकाश पर्याप्त पड़ता है।[1] परावर्ती ग्रन्थों में भी इन रथांगों का वर्णन इन अंगों में थोड़ी सी विभिन्नता के साथ मिलता है। उदाहरण के लिए- अष्टाध्यायी व महाभाष्य में रथांगो का उल्लेख हुआ है और कहा गया है कि ये अपस्कार है। चक्र रथ के अंगो में मुख्य था, जिसे रथ-चक्र कहा गया है। महाभाष्य में पतंजलि ने बताया है कि अनेक अंग चक्र के भी होते है जैसे- युग (जुआ) नभ्य, अर, अक्ष, उपधि आदि । नाभि पहिए की बीच की गोलाकार लकड़ी को कहते थे तथा नभ्य पहिए के वाहय गोलाकार काष्ठों को। अर नाभि और नभ्य को जोड़ने वाले अंग को कहा जाता था।

शिल्प-कला पर अंकित रथों में इन रथ के अंगों अथवा अपस्कारों का स्पष्ट अंकन भरहुत सांची बोधगया के स्तूपों पर परिलक्षित होता है।[2] जैसे-दो चक्र रथों में होते थे।[3] एक एक गोलाकार नाभि दोनों चक्रो के मध्य मे होती थी, चक्र के ऊपर नेमि और प्रधि के मध्य में अरे लगे होते है।[4] कमल की पत्तियों के सादृश्य कभी कभी चक्रो के अरे बनाए जाते है।[5] रथ[6] के दोनो चक्र एक दूसरे से धुरी के माध्यम से जुड़े रहते है। रथ का काश रथ का वह अंग जहां धुरी के ऊपर होता था तीन तरफ से लोग सवार होते थे यह घिरा रहता था। पीछे से सवारियों को चढ़ने उतरने के लिए खुला रहता था।[7] रथों के ऊपर उत्कीर्ण दृश्यों में भरहुत एवं सांची स्तूपों पर किसी भी प्रकार का छाजन नहीं दिखाई देता और न जगह ही बैठने के लिए दिखाई देती है संभवत: लोग खड़े

---

1. पिगट, स्टुअर्ट, प्री हिस्टोरिक इंडिया, पृ० 273-81 ।
2. बरुआ, बेणी माधव, भरहुत, चित्त 52,134; मार्शल, जे०, सांची, फलक 23, 40, 44 ।
3. बरुआ, बी० एम०, भरहुत, चित्त 52, 134 ।
4. मैसे, एफ० सी०, सांची ऐंड इटस रीमेन्स, फलक 7, चित्र 1 ।
5. मैसे, एफ० सी०, सांची ऐंड इटस रीमेन्स, फलक 7, चित्र 1 ।
6. बरुआ, बी० एस० भरहुत, चित्र 52, मैसे, एफ० सी०, सांची ऐंड इटस रीमेन्स, फलक 7, चित्र 1 ।
7. बरुआ, बी० एम०, भरहुत चित्र 52 ।

होकर रथों के कोश में यात्रा करते थे।[1] पार्श्व, अर्द्ध गोलाकार कोश के होते थे।[2] कोश के दोनों तरफ से, रथ के कोश और युग को मिलाने के लिए, मजबूत काष्ठदंड (ईषा) युग के बीच से सम्बद्ध होते थे।[3] प्रायः दो घोड़ो को युग में बांधा जाता था ।[4] चार घोड़ो को भी कभी कभी जोता जाता था।[5] रथ को अश्व से सम्बद्ध रखने के लिए युग के अतिरिक्त कक्ष्या ईषा से बंधी होती थी।[6] कभी कभी घोड़ो की पूछ को कक्ष्या की फीतियों से इसलिए बांध दिया जाता रहा होगा जिससे वह रथ के चलते हुए चक्के के आघात से बचे रहे।[7]

अक्ष, कहते थे नाभि के मध्य छिद्र को, जिसके भीतर अर डाला जाता था। धुरा या धुःअक्ष में रहती थी। अक्ष लोहे का तथा धुरा लकड़ी का बना होता था।[8] पाणिनी ने धुरे को अक्ष[9] तथा कुत्सित धुरे को काक्ष[10] कहा है। धुरे पर तेल लगाने तथा नाभ्यादि के छिद्रो में तेल डालने की आवश्यकता और प्रक्रिया पर भी महाभाष्य में[11] पतंजलि ने प्रकाश डाला है।[12] पतंजलि के अनुसार उपधि और नाभि के लिए मजबूत लकड़ी का चयन किया जाता था, साधारणतया शिमपा लकड़ी का उपयोग, नाभि और उपधि बनाने के लिए किया जाता था उपधि बनाने के लिए प्रयोग में लाये जाने वाली लकड़ी को पाणिनी ने अष्टाध्यायी में औपधेय दारू कहा है।[13] महाभाजय में यह वर्णन मिलता है कि रथ के प्रत्येक अंग को यथा स्थान

---

1. बरुआ व मैसे पूर्वो लिखित...... ।
2. बरुआ, बी० एम० भरहुत, चित्र 52. ।
3. मार्शल, जे०, सांची, फलक 23. ।
4. वही
5. वहीं, फलक 15 मैसे एफ० सी० पूर्वो लिखित, फलक 7, 16 ।
6. मार्शल जे०, पूर्वोलिखित फलक 33 ।
7. मैसे, एफ० सी०, पूर्वोलिखित फलक 17 ।
8. अग्निहोती, प्रभुदयाल, पतंजलि कालीन भारत, पृ० 236 ।
9. अष्टाध्यायी, 5.4.74 ।
10. अष्टाध्यायी 6.3.104 ।
11. महाभाज्य, 5.1.2. ।
12. महाभाज्य, 5.1.2. ।
13. अष्टाध्यायी, 5.1.3. ।

बिठा देने के पश्चात युग और धुरी को तथा रथ मुख और युग को रस्सी से बांध दिया जाता था।[1]

रथ मढ़ने की प्रक्रिया का उल्लेख प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है। वस्त्र से रथ मढ़े जाते थे। ऐसा पतंजलि ने लिखा है। उनके अनुसार उसका ऊपरी भाग तथा चारो पार्श्व भाग (रथ का) वस्त्र से ढके रहते थे। रथ वास्त्र ऐसे कहलाते थे।[2] रथो में बैठने के स्थान तथा अन्य भाग कम्बल से भी मढ़े जाते थे। रथो में पाणिनी ने कंबल से मढ़े हुए पाण्डु काम्बली रथ का विशेष उल्लेख किया है।[3] रथ को चारों तरफ से मढ़ने के लिए चर्म का प्रयोग करते थे, जो चामर्ण कहलाते थे मामूली चमड़ो से साधारण रथों को मढ़ा जाता था, जब कि विशेष रथों को मढ़ने के लिए व्याघ्र तथा चीते के चमड़े काम में लाए जाते थे। इस प्रकार के रथ द्वैप और वैयाघ्र कहलाते थे।[4] वैदिक युग से भारत में व्याघ्र रथ की परम्परा प्रारम्भ हो गयी थी। राजा व्याघ्र रथ पर बैठकर राज्याभिषेक के समय उत्सव यात्रा के लिए निकलता था।[5] चीते तथा व्याघ्रो के चमड़ो से ढके रथों का वर्णन महाजनक जातक में मिलता है।[6] रथो को गैंडे के चमड़ो सेभी ढका जाता था। जैसे शांखयन श्रौतसूत्र (14/33/26) में उल्लेख खड़कवच अश्वरथ का हुआ है, जिसका अर्थ है गैंडे के चमड़े से ढाका[7] रथ अर्थशास्त्र मे[8] उल्लेख है मजबूत लोहे की परतों से मढ़े रथों का। इन तथ्यों के परिमार्जन से ऐसा लगता है कि वैदिक काल से मौर्यकाल तक रथों का निर्माण विधि में उत्तरोत्तर विकास हुआ।

प्राचीन ग्रन्थ से भी रथ के निर्माण एवं आकार पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। अच्छे रथ की नाप के विषय में

---

1. महाभाष्य, 6.3.102 6.3.102
2. महाभाष्य, 4.2.10।
3. अष्टाध्यायी, 4.2.11.
4. अग्रवाल, वासुदेव शरण, पाणिनी कालीन भारत, पृ० 154
5. अग्रवाल, वासुदेव शरण, पाणिनी कालीन भारत, पृ० 154
6. महाजनक जातक 539, 52-53, (कौसल्याय द्वारा संपा०) खंड 6, पृ० 60।
7. सूर्यकान्त, वैदिक कोश, पृ० 122।
8. अर्थशास्त्र, (कांगले द्वारा संपा०)भाग 1, 9.2.29

आपस्तम्ब शुल्क सूत्र से ज्ञात होता है कि 188 अंगुल ईषा की लंबाई, 104 अंगुल धुरे की लंबाई, 86 अंगुल जुएं की लंबाई होती है।[1] 120अंगुल ऊंचा तथा उतना ही लंबा रथ अर्थशास्त्र के अनुसार उत्तम कोटि का माना जाता हैबारह बीता लम्बा सबसे बड़ा रथ होता है। उसमें क्रमशः एक-एक विता कम करके अंत में सबसे छोटा रथ एक बीता का होता है।

रथों को छः वर्गों में अर्थशास्त्र में कौटिल्य[2] ने विभक्त किया यात्रा, उत्सव आदि के लिए-देवरथ विवाह आदि कार्यों के लिए पुष्परथ, युद्ध आदि के लिए सांग्रामिक, सामान्य यात्रा के लिए पारिपाणिक, शत्रु के दुर्ग को गिराने के लिए पुरपुराभियानिक व घोड़ों आदि को गिराने के लिए- वैनामिक। यह वर्गीकरण सवारी एवं युद्ध में प्रयुक्त होने के आधार पर किया गया है। रथों के विभिन्न प्रकारों में जैन ग्रन्थ में भी बाटा गया हैं। जैसे-संग्राम रथ, यान रथ, कर्णीरथ व अग्नि भीरूध रथ आदि।[3]

प्राचीन भारत के विभिन्न ग्रन्थों में, इन रथों में, किन-किन में और कितनी- 2 कि संख्या में जानवरों को जोता जाता, था, इसका भी उल्लेख हुआ है। वैदिक रथ में सामान्यतया दो घोड़े जोते जाते थे। ऋग्वेद के अनुसार कभी-कभी तीन या चार घोड़े जोते जाते थे। सारथी जिन्हें लगाम व चाबुक से वश में रखता था।[4] वैदिक काल में अश्व के अतिरिक्त गर्दभ और अश्वतरी (खच्चर) भी जोत दिए जाते थे- जो अश्व से निम्न कोटि के थे। रथ में कडवाओ को जोतना अधिक महत्वपूर्ण समझा जाता था क्योंकि वे तेज व ठंडे स्वभाव की होती थी।[5] महाकाव्य काल में रथों में ज्यादातर अश्वों के जुते होने का उल्लेख है, किन्तु कहीं-कहीं गर्दभों और खच्चरियों के जुते

---

1. आप स्तम्ब शुल्व सूत्र, मैसूर सांकरण पृ० 95; तुलनीय- अग्रवाल वासुदेव शरण, पाणिनी कालीन भारत, पृ० 153।
2. अर्थशास्त्र (कांगले द्वारा सम्पादित) भाग, 2.33.5 ।
3. जैन, जगदीश चन्द्र, जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज पृ० 95-96
4. ऋग्वेद 1.55.7; 5.83.3
5. सूर्यकांत, पूर्वोलिखित 27-28

होने का वर्णन भी मिलता है।[1] रथ में जुतने वाले पशुओं में अश्व, उष्ट्र और गर्दभ के नामों का उल्लेख पतंजलि के महाभाष्य में किया गया है और इन रथों को क्रमशः अश्व, औष्ट्र और गार्दभ रथ कहा गया है[2] रथों में घोड़े जुते होने का कालिदास के ग्रन्थ में उल्लेख हुआ है।[3] रथों में दो से चार घोड़े जुते हुए होते थे ऐसा मुद्रा[4] लेख एवं शिल्प अंकन[5] में दृष्टिगत होता है।

रथ-सेना का युद्ध-भूमि में वैदिक काल में पर्याप्त योगदानथा ऋग्वेद[6] व अथर्ववेद[7] में एक मंत्र युद्ध-रथ के सम्मान में मिलता है। रथ-सेना के प्रयोग का उल्लेख अनेक स्थलों पर महाकाव्यों में है।[8] सैन्य-संगठन में रथ सेना का तीसरा स्थान जैन ग्रन्थों में प्रदान किया गया है। रथ-सेना के विषय में इस काल का उल्लेख मिलता है कि यह हिमालय में उत्पन्न होने वाले सुन्दर तिनिस काष्ठ द्वारा निर्मित होता था और इस पर सोने की चित्रकारी बनी रहती थी। चक्के और धुरे मजबूत होते थे तथा चक्कों का घेरा मजबूत लोहे का बना होता था। जातवत नामक सुन्दर घोड़े रथ में जुते रहते थे तथा रथ को सारथी हाकता था। छत्र, ध्वज, पताका, घंटे, तोरण तथा नंदिघोष आदि से रथ को सजाया जाता था।[9] युद्ध एवं साधन में पयुक्त होने वाले दो प्रकार के रथों का उल्लेख

---

1. उद्योग पर्व, 86.12; सुन्दर कांड, 44.5
2. महाभाष्य 4.3.123
3. मालविकाग्नि मित्रम, 5.14
4. रोजन फील्ड, जे० एम० डाइनैस्टिक आर्ट ऑफ दि कुषाणज पृ० 23 सिक्क सं० 18
5. कनिंघम, ए दि स्तूप ऑफ भरहुत, फलक 13 चित्र 3; मार्शल, जे० ऐंड० फूशे, ए० पूर्वोल्लिखित, जिल्द 2, फलक 61, शिवराममूर्ति, सी०, अमरावती स्कल्पचर्स इन मद्रास म्यूजियम, फलक 10
6. ऋग्वेद, 6.47.26
7. अथर्ववेद, 6.125
8. भीष्म पर्व, 54.70; उद्योगपर्व, 196/24-25, 155/3-9; अयोध्याकाण्ड, 39/13; युद्धकांड 102/14-18,28/29
9. औपपातिक सूत्र, 31, पृ० 132; आवश्यक चूर्णि, पृ० 188, उद्धृत (जैन जगदीश पृ०95)

भगवती सूत्र में किया गया है।[1] विभिन्न प्रकार के कार्यों में युद्ध-रथों का प्रयोग किया जाता था। उदाहरणार्थ-भोजन, सुरक्षात्मक एवं आक्रमणात्मक अस्त्र-शस्त्रों को ढोने के लिए।[2]

सिकन्दर के आक्रमण के समय चतुर्थ शताब्दी ई० पू० में रथ-सेना का महत्व अपेक्षाकृत कम हो गया था। यद्यपि रथ-सेना का प्रयोग इस काल में होता था, विवरणों से ऐसा लगता है कि रथ-सेना को विशेष स्थान नहीं प्राप्त था। उदाहरणार्थ-पोरस सिकन्दर के साथ युद्ध करने के लिए हाथी पर सवार होकर युद्धभूमि में आया था, रथ पर नहीं। सिकन्दर की सेना का प्रतिरोध करने के लिए पोरस ने अपने पुत्र के नेतृत्व में जो सेना भेजी थी उसमें सेना का एक अंग रथ-सेना का भी था। जबकि वर्षा होने के कारण यह सेना असफल हुई थी। अपने भारी वजन के कारण रथ के पहिए जमीन में धसने लगे थे। रथ प्रयोग इन सब के बावजूद सुरक्षात्मक अस्त्र के रूप में किया गया । पोरस की योजना थी कि रथों के द्वारा विरोधी सैनिकों को कुचल दिया जाए। इसके लिए पोरस ने प्रयास भी किए पर रथों पर सवार योद्धा अपने स्थान से नीचे गिरने लगे।[3] पोरस की सेना में इस दुर्घटना के बाद भी 300 रथ शेष रह गए थे।[4] पोरस ने जब एक ऐसा स्थान देखा जहाँ दलदली मिट्टी नहीं है और वह दलदली भूमि घुड़सवार सैनिकों के लिए उपयुक्त है, वहाँ घुड़सवारों को युद्ध करने के लिए आदेश दिया और रथों को अश्व सेना के दानों किनारों पर नियुक्त किया।[5] एरियन का कहना है[6] कि यूनानियों ने भारतीय सेना को

---

1. सिकदार, जोगेशचन्द, स्टडीज इन दि भगवती सूत्र, पृ० 119
2. उववाइ सुत्त, 31, पृ० 132; उद्धृत-सिकदार, जोगेशचन्द्र, पूर्वोलिखित, पृ० 119
3. मैकिडल, इंडिया ऐंड इट्स इनवेजन वाई अलेक्जेन्डर, पृ० 207-208
4. मैकिडल, इंडिया ऐंड इट्स इनवेजन वाई अलेक्जेन्डर, पृ० 103
5. मैकिडल, इंडिया ऐंड इट्स इनवेजन वाई अलेक्जेन्डर, पृ० 102
6. मैकिडल, इंडिया ऐंड इट्स इनवेजन वाई अलेक्जेन्डर, पृ० 251

भ्रम में डाल दिया। रथों के चलाने वाले सारथी मार दिए गए और रथ दो खंडों में विभक्त हो गए। डयोडोरस[1] के मतानुसार यूनानियों की अश्व सेना से भारतीय सेना को ध्वस्त कर दिया। जहाँ तक यूनानियों की सेना का सफलता का प्रश्न है इस सन्दर्भ में यह कहा जा सकता है कि अरबेला की लड़ाई में यूनानी अश्व सेना ने पर्सियनों की रथ सेना नष्ट कर इस कार्य का पर्याप्त ज्ञान प्राप्त कर लिया था जिससे यूनानी सेनाओं के मध्य अच्छा उत्साह एवं मनोबल ऊंचा था उनके नेतृत्व कर्ता ने विश्व विजय की कामना से अपना देश छोड़ा था। उसकी प्रबल इच्छा को यूनानी सेनाओं ने बहुत ही सही ढंग से सार्थक किया था ।

इसके साथ ही भारत में विजय के लिए तत्कालीन परिस्थिति तथा तात्कालिक परिस्थित ने अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। अतः यह कहना कि रथ सेना का महत्व कम हो गया था, अनुचित बात होगी। सेना के विभिन्न अंगों का युद्ध-कला में अपना महत्वपूर्ण योगदान होता है वैसा ही योगदान रथ सेना का भी था। जिससे उसने मौर्यकाल में अपना महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया था। सेना के अंगों का सही प्रयोग नेतृत्व कर्ता व परिस्थितियों पर भी निर्भर करता है। चूंकि यूनानियों के बारे में जो जानकारी हमारे समक्ष है वह बहुत ही सीमित है अतः न चाहते हुए भी हमें उन्हीं के स्रोतों पर विश्वास करना पड़ता है हो सकता है कि उन्होंने तथ्यों का वर्णन किया हो और इसीलिए भारतीयों की सेना के प्रति उनकी ऐसी अवधारणा बनी हो।

मौर्यों द्वारा सुदूर दक्षिण में विजय प्राप्त करने के लिए युद्ध-रथ से युक्त सैन्य अभियान का उल्लेख तमिल साहित्य में मिलता है। मौर्यों के युद्ध रथ को इतना विशाल मामलनार ने बताया है जितना पोडिमिल की पहाड़िया टिन्नेवली जिले में थी। मौर्यों ने युद्ध-रथों के आवागमन के लिए पहाड़ियों को काटकर मार्ग बनाया ऐसा तमिल कवि परणर या परम्कोट्नार का मत है।[2]

---

1. मैक्रिडल, इंडिया ऐंड इट्स इनवेजन बाई अलेक्जेन्डर, पृ० 275
2. चक्रवर्ती, पी. सी., दि आर्ट आफ वार इन ऐश्येंट इण्डिया, पृ. 25

मौर्य काल के बाद छठी शताब्दी ई. तक रथ सेना का प्रयोग रणक्षेत्र में होता रहा। चूंकि रथ-सेना चतुरंगिणी सेना का एक अंग था इसलिए रथ सेना की उपेक्षा करना शासकों एवं नेतृत्वकर्ता के लिए न्याय संगत नहीं था।

लेकिन इनके बावजूद विदेशी एवं सामन्तवादी प्रभाव के कारण रथ सेना की अवनति के चिह्न परिलक्षित होने लगे थे। इन सब के बावजूद अभिलेखों, मुद्राओं, चित्रकला, एवं प्राचीन शिल्प-कला के अंकनों में प्राप्त रथों के विवरण से ज्ञात होता है कि मौर्यकाल के बाद भी सेना में रथ सेना को बराबर स्थान प्रदान किया जाता रहा। रूद्रादामन के जूनागढ़ शिल्प-लेख में सम्राट को रथ चलाने में निपुण कहा गया है।[1] हाथी गुम्फा अभिलेख के अनुसार खारवेल ने रथयुक्त चतुरंगिनी सेना पश्चिमी दिशा में अपने शासन काल के द्वितीय वर्ष में, शातकर्णी की उपेक्षा कर सेना भेजी थी।[2] ऐसी सम्भावना है कि रथ सेना का प्रयोग कुषाण काल में हुआ। इसकी प्रमाणिकता की पुष्टि सिक्कों से होती है- जैसे कुषाण-कालीन स्वर्ण मुद्रा के पुरोभाग पर राजा विमकदाफिस को एक रथ (बिग्गा) पर आसीन अंकित किया गया है जो गदा लिए हुए है अपने दाहिने हाथ में और उसके सामने चाबुकयुक्त छोटे कद वाला सारथी है।[3]

गुप्त काल में रथों का उल्लेख अभिलेखों[4] में हुआ है लेकिन उसके प्रयोग के सन्दर्भ में हमारे पास लगभग नगण्य जानकारी है क्योंकि गुप्तकालीन सेना विदेश एवं सामन्ती प्रभाव के कारण अपनी सेना का पुनर्गठन किया था उस आधार पर उनकी सेना में अश्व सेना का महत्व ज्यादा था क्योंकि वह तत्कालीन परिस्थिति के लिए ज्यादा उपर्युक्त थी। विश्व के समकालीन नरेशों द्वारा उस समय सेना में घुड़सवारों का व्यापक उपयोग होता था तथा परम्परा से चली आ रही रथ सेना का महत्व कम हो

---

1. इपिग्राफी इंडिका जिल्द 8, पृ. 48
2. इपिग्राफी इंडिका, पृ. 45
3. रोजनफील्ड, जे. एम. "डाइनेस्टिक आर्टस ऑफ दि कुषाणाज", पृ. 23, जि. स. 18
4. मजुमदार, बी.के. मिलिटरी सिस्टम इन ऐंश्येंट इंडिया, पृ. 38; मेहता, आर. एन. प्री बुद्धिष्ट इण्डिया पृ. 14, जैन, जे.सी., लाइफ इन ऐंश्येंट इण्डिया पृ. 80

गया—जिसने महाकाव्य काल तथा मौर्यकाल में रणक्षेत्र मेंमहत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी।[1] हर्ष ने चालुक्यों के विरूद्ध रथ सेना का प्रयोग नहीं किया था। ऐसा उल्लेख बाणभट्ट ने भी हर्षचरित में किया है। लेकिन इन सबके बावजूद चतुरंगिणी सेना में रथ सेना का स्थान बना रहा।[2]

रथों का स्पष्ट अंकन प्राचीन शिल्प-कला में मिलता है। रथ पर आरूढ़ कौशल के राजा प्रसेनजित का अंकन भरहुत स्तूप की तोरण वेदिका पर बुद्ध की वंदना करते हुए हुआ है। राजा प्रसेनजित का रथ दो पहियों वाला है, ऊंचा व अलंकृत भाग रथ के सामने वाला है व नीचे इसके पार्श्व है। चार आदमी इस रथ में बैठे हुए है। मध्य में राजा खड़ा है और बायीं तरफ सारथी है। एक व्यक्ति दांई ओर चँवर डहिलाने वाला तथा एक व्यक्ति छत्र पकड़ने वाला उसके पीछे है। चार घोड़ों द्वारा खींचते हुए इस रथ को दिखाया गया है। कलँगी घोड़ों के सिरों पर बंधी हैं। उनके कढ़े हुए लम्बे बाल है एवं लम्बी लम्बी पँछे उनकी एक ओर इस ढंग से बांधी गई है कि वे रथ चलाने वाले के मुँह को छू न सके।[3] साँची स्तूप के दक्षिणी तोरण द्वार की बीच की बड़ेरी के अग्रभाग पर सम्राट अशोक, रथ पर आरूढ़ होकर रामग्राम के स्तूप के दर्शन के लिए आते हुए अंकित है। रथ पर आसीन सम्राट अशोक को इसी स्तूप के बाएं स्तम्भ के अग्रभाग में भी अपने पार्श्वचरों के साथ अंकित किया गया है।[4] कई स्थानों पर बुद्ध के अस्थि अवषेष को प्राप्त करने के लिए मल्लों के विरूद्ध सात राजाओ द्वारा रथ सेना के साथ आक्रमण के दृश्य का अंकन सांची स्तूप में हुआ है। इस दृश्य में दो घोड़ों द्वारा खींचें जा रहे हैं, रथ पर एक राजा को आरूढ़ दिखाया गया है।[5] स्तूप संख्या

---

1. मजुमदार, बी.के., मिलिटरी सिस्टम इन ऐंश्येंट इण्डिया, पृ.38, मेहता, आर.एन. प्री बुद्धिष्ट इण्डिया 171, जैन, जे.सी. लाइफ इन ऐंश्येंट इण्डिया पृ.80
2. चक्रवर्ती, पी. सी.-दि आर्ट ऑफ वार इन ऐंश्येंट इण्डिया पृ. 161
3. कनिंघम, ए. पूर्वोल्लिखित, फलक 13, चित्र 3
4. अग्रवाल, वासुदेव शरण, भारतीय कला, पृ.166
5. मार्शल, जे. ऐंड फूशे, ए. पूर्वोल्लिखित, जिल्द 2, फलक 61

दो के अन्य दृश्य में एक राजा रथ पर आसीन है, जो एक गजारोही द्वारा घिरा हुआ है।[1] चार घोड़ों वाले रथ पर आसीन सूर्य को ऊषा तथा प्रत्यूषा के साथ बोध गया में दिखाया गया है।[2] प्रथम शताब्दी ई. पू. में सूर्य चार घोड़ों वाले रथ पर आसीन विहार के मुख्य मंडप (भाजा में) के पूर्वी छोर के प्रवेश द्वार के बायीं ओर की मूर्ति में है। छत्र तथा चंवर लिए उसके पीछे दो अनुचर स्त्रियाँ है। नंगे असुर के शरीर पर से गुजरते हुए इस रथ के पहिए को दिखाया गया है।[3] चार घोड़ों द्वारा खींचे जाते हुए रथ का अंकन कुल्लू में कुडलाह से प्राप्त कासे के एक लोटा में हुआ है जो प्रथम शताब्दी ई. पू. से सम्बन्धित है इसमें कांसे के लोटे में नवयुवक राजकुमार और रथ हाँकते हुए सारथी का भी अंकन है जो आजकल ब्रिटिश संग्रहालय में उपस्थित है।[4] मोरहाना पहाड़ की दो गुफाओ में रथों तथा दो धनुषधारी पैदल सैनिक एक रथ को घेरे हुए हैं इन दृश्यों का अंकन अल्चिन ने जिला मिर्जापुर के विन्ध्य क्षेत्र की पहाड़ियों में देखा है जिसमें मोरहाना स्थिति है, इस सन्दर्भ में अल्चिन महोदय का विचार है कि यह अंकन गंगा यमुना दोआब की प्रथम-तृतीय शताब्दी ई. पू. की स्थिति का द्योतक है।[5]

रथों का अंकन प्राचीनतम् मृण्मूर्तियों में भी मिलता है। एक शुंग-कालीन मृण्मूर्ति में चार घोड़ों द्वारा खींचे जाने वाले सारथी युक्त रथ पर एक योद्धा को बाण चलाते हुए दिखाया गया है, बाणों से भरा हुआ तरकस उस योद्धा के पीछे बंधा हुआ है। चार घोड़ों की लगाम पकड़े हुए ठीक उनके समीप ही उसका सारथी है।[6] शुंगकालीन रथ जिसे दो घोड़े खींच रहे हैं और उनकी गर्दन पर घोड़ों

---

1. मार्शल, जे. ऐंड फूशे, ए. पूर्वोल्लिखित, जिल्द 3, फलक 79
2. मार्शल, जे., जे. आर. ए. एस., 1908 पृ. 1096
3. अग्रवाल, वासुदेव शरण, पूर्वोल्लिखित, पृ. 201
4. अग्रवाल, पृथ्वी कुमार अर्ली इण्डियन ब्रांजेज पृ. 59-60
5. अल्चिन, ब्रिजेट, मोरहाना पहाड़-"रीडिस्कवरी", मैन, जिल्द58(1958), पृ.153-55, फलक 500
6. आई. ए. ए. आर. 1954-55, फलक 32, द्रष्टव्य चित्र फलक

की लगाम है, बड़ौदा संग्रहालय में यह खिलौना सुरक्षित है।[1]

रथ का अंकन कुछ प्राचीन मुहरों में भी हुआ है घोड़ों द्वारा खींचे जाते हुए रथ का अंकन, झूसी से प्राप्त प्रथम शताब्दी ई. पू. कालीन दिखाया गया है।[2] चार फलकों वाली एक मुहर कौशाम्बी से प्राप्त हुई है, एक ही प्रकार के दृश्य का अंकन जिसके चारों फलकों पर है।[3] इस मुहर में दो पहिए वाला एक रथ, एकदम दाहिनी तरफ है, जिसमें दो अश्व जुते हैं तथा लम्बा चाबुक लिए हुए एक सारथी उस पर बैठा हुआ है। एक लम्बा व्यक्ति रथ के सामने अपने बांए हाथ में अपनी ऊंचाई के बराबर धनुष लिए इस प्रकार चित्रित है जैसे तीर लगाए वह अपने सामने खड़े पुरुष की छाती पर हो। भारतीय शैली की टोपी इस व्यक्ति के सिर पर है, पीछे जिसके चोटी लटक रही है देखने से यह आकृति किसी राजकुमार की प्रतीत होती है। लम्बे व्यक्ति के सम्मुख एक दूसरा व्यक्ति जो खड़ा है तथा नीचे तरफ जिसका दाहिना हाथ लटक रहा है और भंगिमा तनाव की है। टोपी उसके सिर पर यूनानी नुकीली है तथा लम्बा व ढीला कोट वह आधी आस्तीन का घुटने तक लटकता हुआ, पहने हुए है।[4] रथ, लम्बा धनुष, सिर की टोपी तथा युवराज के प्रहार करने की मुद्रा आदि से लगता है कि धनुषधारी व्यक्ति

---

1. धवलिकर, एम.के., मथुरा आर्ट इन बड़ौदा म्यूजियम, फलक 7, चित्र 20, पृ. 16
2. थपल्याल, किरनकुमार, स्टडीज इन ऐंश्येंट सील्स, पृ. 268
3. टंडन, आर.सी.; ए कामेमोरेटिव शुंग सीलिंग फ्राम कौशाम्बी, जे.एन.एस.आई. जिल्द 33, भाग 1, 1971, पृ. 29-32; धवलिकर, एम.के, आन दि डेट ऑफ दि कौशाम्बी सीलिंग्स, जे.एन.एस.आई., जिल्द 33, भाग 1, पृ. 33-37, कटरा संतलाल, "दि शुंग सीलंग फ्राम कौशाम्बी", जे.एन.एस.आई., जिल्द 34, भाग 1, 1972, पृ. 9-14
4. कटरा, संतलाल, "दि शुंग सीलंग फ्राम कौशाम्बी" जे. एन.एस. आई. जिल्द 34, भाग 1, 1972, पृ. 9-10

युवराज शुंगवंशी राजा वसुमित्र है।[1]

रथ सेना का उल्लेख गुप्तकाल में अपेक्षाकृत कम मिला है। प्राय: पैदल, गज तथा अश्व सेना का ही वर्णन इस काल के आलेखों में हुआ है।[2] भूमि की अनुकूलता न देखकर तथा गति की बाधा समझ कर गुप्त काल में रथ सेना को संभव है कि अधिक महत्व नहीं दिया गया हो, ऐसी धारणा या अभिप्राय व्यक्त करना नितान्त न्याय संगत नहीं है क्योंकि कालिदास ने रघुवंश में रथों का उल्लेख अनेक स्थलों पर किया है।[3]

सारथी:

प्राय: दो व्यक्ति वैदिक काल में रथों पर सवार होते थे।[4] एक रथ में आठ व्यक्तियों के भी बैठने का उल्लेख ऋग्वेद में मिलता है।[5] सूत तथा रथिन् शब्द से सारथी को सम्बोधित भी किया गया है। महाभाष्य में तीन शब्दों से- सारथी, सूत एवं प्रजिता, रथ हाँकने वाले को सम्बोधित किया गया है। सारथी रथ में बांई तरफ बैठता था ऐसा उल्लेख महाभाष्य में मिलता है। अत: वह सव्येष्टा भी कहलाता था।[6] सारथी के लिए महाभारत में सूत तथा "सारथि" शब्द आया है। रथ में योद्धाओ की संख्या में भी वृद्धि बाद के कालों में हुई। दो योद्धा रथ में सारथी के अतिरिक्त बैठते थे ऐसा क्लाडियस एलियन ने लिखा है।[7] चन्द्रगुप्त मौर्य काल का यूनानी राजदूत मेगस्थनीज बताता है कि एक रथी और सारथी होता था। जबकि कर्टियस के अनुसार छ: व्यक्ति भारतीय रथों में

---

1. टन्डन, आर.सी., "ए कामेमोरेटिव शुंग सीलिंग फ्राम कौशाम्बी, जे.एन.एस.आई. जिल्द 34, भाग 1,1971, पृ. 31, कटरा संतलाल, पूर्वोल्लिखित, पृ. 11
2. सी.आई.आई. जिल्द 4, खंड2, संख्या 11, फलक 3, पृ. 604
3. रघुवंश, 4.29, 5.49, कुमारसंभव, 14/14-15, 14/19-20
4. ऋग्वेद, 6.75
5. ऋग्वेद 1293.6
6. अग्निहोत्री, प्रभुदयाल, पूर्वोल्लिखित, पृ. 234
7. मजुमदार, आर.सी., दि क्लासिकल एकाउंट्स ऑफ इण्डिया, पृ. 421

होते थे, जिनमें दो रथी धनुष बाण लिए हुए, दो रथी ढाल लिए हुए तथा अन्य शेष दो सारथी शस्त्रों से सुसज्जित होते थे।[1] पोरस की सेना में छः व्यक्ति रथों पर-सवार होते थे, जिनमें दो सारथी घोड़ों को हाँकते थे।[2] रथी स्वयं सारथी के मारे जाने पर स्वयं सारथी बन जाते थे।[3]

इस प्रकार रथ में प्रयुक्त घोड़ों की संख्या पर सारथी की संख्या मुख्य रूप से आधारित होती थी। यदि दो घोड़े रथ में जुते रहते थे तो एक सारथी ही उपयुक्त होता था। तीन सारथियों का विधान रथ में चार घोड़ों से युक्त होने पर था। मध्य के दो घोड़ों को मुख्य सारथी बीच में बैठ कर हाँकता था। दो अन्य सारथी उसके अगल बगल बैठते थे। जो किनारे के एक-एक घोड़े को हाँकते थे।[4]

सारथी की योग्यता का भी उल्लेख प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है। कौटिल्य सारथी की योग्यता के विषय में बताया है कि सारथी को रथ बनाने वाला तथा घोड़ों के विषय में जानकारी रखने वाला होना चाहिए।[5] शुक्रनीति के अनुसार जो अश्वाधिपति के गुणों से युक्त होता हुआ भार वहन करने में समर्थ रथ में जोते जाने वाले घोड़ों को एवं रथ को दृढ़ता के साथ चलाना, घुमाना व बदलना जानता है और रथ की विशेष गति से शत्रुओ के द्वारा चलाए हुए शस्त्रास्त्रों को विफल बनाने वाला तथा शत्रुओ के साथ मुठभेड़ होने पर अपने घोड़ों को बचाने की कला जानने वाला हो, उसे सारथी बनना चाहिए।[6] रथी योद्धा की सफलता के लिए सारथी का दक्ष होना अत्यधिक आवश्यक था। भू-क्षेत्र की बनावट का, देश विदेश के भूगोल का, अपने रथी योद्धा के बलाबल का घोड़ों की कार्य क्षमता व भूख-प्यास का, सभी प्रकार के अस्त्रशस्त्रों का तथा पशु पक्षियों की बोली का ज्ञान सारथी को होना चाहिए।

---

1. कार्टियस, 8/14, द्रष्टव्य-मुकर्जी, राधाकुमुद, चन्द्रगुप्त मौर्य ऐंड हिज़ टाइम्स, पृ. 175
2. मैक्रिंडल, पूर्वोल्लिखित, पृ. 107
3. रघुवंश, 7/52
4. जे.ए.ओ.एस; 13,237
5. अर्थशास्त्र, (कांगले द्वारा संपादित), 2.33.6
6. शुक्रनीति 2/33

आयुध:

आक्रमणात्मक और सुरक्षात्मक दोनों ही प्रकार के आयुधों का प्रयोग रथारोही और सारथी करते थे। रथारोही सैनिकों का प्रमुख आयुध धनुष-बाण ऋग्वैदिक काल में था। लेकिन कभी-कभी तलवार, कटार और भाला आदि का प्रयोग आवश्यकतानुसार किया जाता था।[1] रथ पर सवार धनुष-बाण से सुसज्जित योद्धा का वर्णन ऋग्वेद के एक प्रसिद्ध ग्रन्थ में मिलता है।[2] रथारोहियों का प्रमुख अस्त्रशस्त्र धनुष-बाण महाकाव्य काल में भी था। प्रास, तलवार, ढाल, धनुष, ऋष्टि एवं पट्टिश आदि आयुधों का उल्लेख महाभारत के अनेक स्थलों पर हुआ है।[3]

रथों पर आरूढ़ होकर चलाने वाले आयुधों में धनुष-बाण, खड्ग, तूणीर आदि का उल्लेख जैन ग्रन्थों में प्राप्त होता है।[4] धनुषधारी रथारोहियों का अनेक स्थलों पर वर्णन जातकों में भी मिलता है।[5] छठी शताब्दी ई. पू. में धनुष-बाण रथारोहियों का प्रमुख अस्त्रशस्त्र था जिसकी जानकारी जैन ग्रन्थों से होती है।

अजातशत्रु ने लिच्छवियों के विरुद्ध युद्ध में महाशिलाकटंक रथमूसल नामक नए प्रकार के युद्ध यंत्रों का प्रयोग किया था।एक ऐसा यंत्र रथमूसल था जो इधर उधर चक्कर खाकर जुड़ें मूसलों से शत्रु को भुस कर देता था। ऐसा उल्लेख हर्नले ने किया है।[6] हर्नले ने रथमूसल के सन्दर्भ में बताया है कि यह रथ स्वयं चालित यंत्र से युक्त होने के कारण स्वयं ही गति करता था, क्योंकि उसे बिना घोड़ो एवं सारथी के चलने वाला कहा गया है। यह भी

---

1. ऋग्वेद, 6.75
2. ऋग्वेद, 7.18.83
3. उद्योगपर्व, 155/12-13
4. जैन, जगदीश चन्द्र, जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ. 95
5. जातक, महावेस्सन्तर, श्लोक 719, जातक, महाजनक; श्लोक 103,(कौसल्यायन) खण्ड 6,पृ. 640,61,श्लोक 52-53, (कौसल्यायन द्वारा अनुवाद),खण्ड 6,पृ. 639,60
6. हर्नले, उवासकदसाव,2, परिशिष्ट, पृ. 69।

संभव है कि भीतर छिपकर बैठा हुआ आदमी पहियों को चलाते थे।[1]

रथ सैनिको का प्रमुख अस्त्र-शस्त्र धनुष-बाण और भाला चतुर्थ शताब्दी ई.पू. हो गया था। पोरस की सेना में प्रयुक्त रथो पर छह व्यक्ति अर्थात दोनों तरफ एक एक ढालवाहक तथा धनुर्धर और §नेजा§ भाला लिए हुए दो रथ चालक सवार होते थे। सारथी रथों के चल सकने के असमर्थ हो जाने पर बागडोर फेंककर शत्रु पर एक केक बाद एक नेजा फेकना प्रारंभ कर देते थे।[2] कौटिल्य ने रथाध्यक्षों के कार्यों का वर्णन करते हुए बताया है कि वह बाण, तूणीर, धनुष, गदा, रथ के भूलों और लगाम आदि के संबंध में जानकारी रखता था। इससे स्पष्ट है कि मौर्य काल में उर्पयुक्त आयुधों का प्रयोग अवश्य होता रहा होगा।[3] गदाधारी,[4] तलवारधारी,[5] तूणीर और धर्नुधारी रथारोही सैनिको का उल्लेख कालिदास ने किया है।[6]

रथारोहियों को विभिन्न प्रकार के आयुधों से युक्त मुद्राओ तथा शिल्पकला में दिखाया गया है। विमकदफिस के स्वर्ण सिक्कों के पुरोभाग पर रथारूढ़ कुषाणवंशी राजा अपने दाहिने हाथ में गदा लिए हुए है।[7] रथ पर सवार होकर आलीढ़ मुद्रा में खड़ा योद्धा अमरावती स्तूप में अंकित एक दृश्य बाण चला रहा है।[8] कौशाम्बी उत्खन्न से प्राप्त पकाई मिट्टी के शुंगकालीन एक फलक पर रथारोही योद्धा को तरकस तथा धनुष बाण से युक्त दिखाया गया है।[9]

---

1. हर्नले, उवासकदसाव, पृ. 60।
2. मैक्रिडल, इंडिया ऐंड इट्स इनवेजन बाई अलेक्जेन्डर पृ. 207।
3. अर्थशास्त्र, (कांगले द्वारा सम्पादित), 2.33.6।
4. रघुवंश, 7/52।
5. रघुवंश, 7/56-57, 9/10-11।
6. कुमार संभाव, 17-84।
7. रोजनफील्ड, जे. एम. डाइनेस्टिक आर्टस आफ दि कुषाणज, पृ. 23।
8. शिवराममूर्ति, सी., अमरावती स्कल्पचर्स इन मद्रास गर्वनमेंट म्यूजियम पृ. 122।
9. आई. ए. ए. आर. 1954-55, फलक 32। द्रष्टव्य चित्र फलक, 5।

भूमिः स्नान-योग्य जलाशयों ,विश्राम करने योग्य स्थानों से युक्त, उबड़-खाबड़,रहित क्यारियों से रहित ,अवसर के समय में लौटने की सुविधाओं वाली भूमि रथ-सेना के लिए कौटल्य के अनुसार अधिक उपयोगी होती है।[1] वह भूमि महाभारत के अनुसार उपयुक्त होती है जहां कीचड़ और गड्ढे न हो।[2] रथ सेना के लिए समतल भूमि को मनुस्मृति में भी उपयुक्त माना गया है।[3] कामन्दक नीतिसार में उल्लेख मिलता है कि स्थाणु, रेता, कीच, पाषाण, बाबी, विजयसार, खेत लतासमूह, पृथ्वी का पोलापन,वृक्ष गुल्म इत्यादि से रहित उद्यान और दरारों से रहित, घोड़ो के खुर रखने में समर्थ, सब जगह आने जाने योग्य रथ के लिए उपयुक्त होती है।[4]

कार्यः अपनी सेना की रक्षा करना, आक्रमण के समय शत्रु सेना को रोकना, शत्रु के बलवान सैनिकों को पकड़ना, अपने गिरफतार सैनिकों को छुड़ाना, अपनी सेना को संगठित करना, शत्रु सेना को तितर बितर करना, भयभीत करके शत्रु की सेना से घबराहट पैदा करना अपनी सेना का महत्व प्रकट करना और भयंकर आवाज करना आदि रथ सेना के कार्य कौटिल्य के अनुसार है।[5]

अश्व सेनाः पश्चिमोत्तर भारत में आर्यों के प्रवेश के समय अश्व,आर्य संस्कृति का अभिन्न अंग था। अश्व सेना का कितना अधिक योगदान ऋग्वैदिक आर्यों की सेना के था, विद्वानों में इस विषय में मतभेद है। कुछ पाश्चात विचारकों का कहना है कि ऋग्वेदिक आर्य घोड़ो का प्रयोग केवल रथों में ही करते थे, किंतु अविनाश चन्द्र दास के अनुसार अश्वारोही सेना वैदिक कालीन सेना की महत्वपूर्ण अंग थी।[6] अश्वारोही सेना को चतुरंगिणी सेना का महत्वपूर्ण अंग महाकाव्य काल में माना जाता था। अश्वारोही सेना युद्ध में लड़ती हुई सेना के अभिन्न अंग के रूप में महाभारत के प्रत्येक पर्व में वर्णित है।[7] महाकाव्य

---

1. अर्थशास्त्र 41/53-54।
2. शान्ति पर्व 100/22
3. मनुस्मृति 7/192
4. कामन्दक नीतिसार 19/11-12।
5. अर्थशास्त्र (कांगले द्वारा सम्पादित) भाग, 10.4.15।
6. दास, अविनाश चन्द्र, ऋग्वैदिक कल्चर, पृ.341।
7. भीष्म पर्व 105/8, 46/20-21।

काल में वर्णित अश्वारोही सेना संगठित एवं स्वतंत्र टुकड़ी नहीं थी ऐसा हापकिन्स का विचार है। किंतु सर्वदमन सिंह के अनुसार अश्वारोही सेना का अपना स्वतंत्र अस्तित्व इस काल में था और अश्वासेना शत्रु सेना पर युद्ध भूमि में स्वतंत्र रूप से आक्रमण करती थी।[1]

महाकाव्य काल की अपेक्षा चतुर्थ शताब्दी ई.पू. में अश्व सेना में अधिक विकास हो गया था। भारतीय अश्व सिकन्दर के आक्रमण के समय उतनी निपुण नहीं थी। जितना की महाकाव्य काल में, ऐसा प्राचीन यूनानी साहित्य से स्पष्ट होता है। यह सत्य है कि भारती शासक सिकन्दर के योजना चातुर्य को समझ नहीं सके। पोरस की सेना[2] मे 4,000 तथा प्रासाइयों की सेना में लगभग 80,000 अश्वारोही सैनिको[3] के होने का यूनानी साहित्य में उललेख मिलता है।एरियन के शब्दों से भी इसकी संपुष्टि होती है। एरियन के अनुसार अश्वों का सैनिक कार्य तथा युद्ध कार्य में अधिक उपयोगी होना, उन्हे भारतीय सेना में उच्च स्थान प्रदान करता था[4] किंतु यूनानानियों की चपल सुसंगठित अश्व-सेना ने बाद के भारतीय शासकों को अश्व सेना के प्रति और भारत से चले जाने के उपरान्त, विशेषकर चन्द्रगुप्त ने, अपनी अश्व सेना में पहले से अधिक वृद्धि की। चन्द्रगुप्त की सेना में प्लिनी के अनुसार लगभग 30,000 घुड़सवार है।[5] विदेशी शासकों की सेना में अश्व सेना की संख्या सर्वाधिक होती थी। चीनी ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि 90 ई. में यून्ची के राजा ने पान-चाओ पर आक्रमण करने के लिए 70,000 अश्वारोही सैनिक को एकत्रित करके उसे पराजित किया।[6]

---

1. हापकिंस, ई. वाशबर्न, जे.ए.ओ.एस.पृ.262-63
2. मैक्रिडल, इंडिया ऐंड इटस इनवेजन बाई अलेक्जेन्डर पृ. 102।
3. मैक्रिडल, इंडिया ऐंड इटस इनवेजन बाई अलेक्जेन्डर, पृ. 310।
4. मैक्रिडल, इंडिया ऐंड इटस इनवेजन बाई अलेक्जेन्डर, पृ. 142।
5. प्लिनी, नेचुरल हिस्ट्री, 5.22 उद्धृत चन्द्रगुप्त मौर्य और उसका काल पृ. 220।
6. आई.ए.1903,पृ.421-22 उद्धृत चट्टोपाध्यायश् भास्कर, कुषाण स्टेट ऐन्ड इंडियन सोसायटी पृ.109

साहित्यक स्रोतों से प्राप्त प्रमाणों के अतिरिक्त मौर्योत्तर एवं प्राक्गुप्त-काल की अश्वारोही सेना के संबंध में तत्कालीन अभिलेख, मुद्रा एवं शिल्पकला के अंकन में अश्वसेना संबंधी विवरणों से ज्ञात होता है कि मौर्य काल के बाद सेना में अश्व सेना को अपेक्षाकृत अधिक महत्व प्रदान किया गया । हाथीगुम्फा अभिलेख के अनुसार खारवेल ने अपने शासन काल के द्वितीय वर्ष में शातकर्णी के विरुद्ध विशाल सेना भेजी थी, जिसमें अश्व सेना अधिक थी।[1] इन अभिलेखों से अश्व सेना के महत्व का स्पष्ट संकेत मिलता है।

गुप्त काल में अश्वारोही सेना का विशेष महत्व था। इसका प्रमुख कारण था यूनानी घुड़सवार तथा सीथियन घुड़सवार सेना। जिसने अपना विशेष प्रभाव डाला। इनकी सेना विदेशी घुड़सवार सेना की भाँति भाले तथा धनुष एवं कवच से युक्त होती थी। इससे ऐसा लगता है गुप्त कालीन सेना का संगठन सिथियन सेना की भाँति किया गया।सामरिक दृष्टि से भी विशाल हस्ति-सेना के स्थान पर गुप्त काल में भारी अस्त्र शस्त्रों से युक्त अश्वारोही सेना ने ग्रहण किया। रथ सेना जिसका महाकाव्य काल में विशेष महत्व था, गुप्त काल में युद्ध क्षेत्र से बाहर हो गयी। गुप्त काल में सामरिक दृष्टि से धनुर्धारी अश्वारोही का नया सफल प्रयोग हुआ।[2]

अश्व एवं अश्वारोही सैनिकों का अंकन प्राचीन मुद्राओं पर हुआ है। यूनानी शासक युक्रेटाइडीज[3] तथा

---

1. सरकार, डी.सी., सेलेक्ट इंस्क्रिपशंस, जिल्द 1, पृ. 208।
2. मजुमदार, बी.के. मिलिटरी सिस्टम इन ऐश्येंट इंडिया पृ. 38, मेहता, आर. एन., प्रि बुद्धिस्ट इंडिया-171, जैन.जे.सी. लाइफ इन ऐश्येंट इंडिया पृ. 80।
3. कैटलाग आफ क्वायंस इन दि पंजाब म्यूजियम, लाहौर, ह्वाइटहेड, आर. बी. खंड 1, फलक 2, सिक्का संख्या, 64,69, पृ. 20-21।
   गार्डनर, पी. कैटलाग आफ क्वायंस इन दि ब्रिटिश म्यूजियम, ग्रीक ऐंड सीथिक किंगस आफ बैक्ट्रिया ऐंड इंडिया जिल्द 1, फलक 5, सिक्का संख्या 6,7,8 पृ. 13-14।

डायमेडस[1] की रजत मुद्राओं के पृष्ठ भाग पर डायस्कूयरी को भाला के साथ आसीन अंकित किया गया है। एंटिमेकस निकेफोरस[2] एवं फिलाग्जेनस[3] के रजत सिक्कों पर सिरस्त्राण युक्त राजा घोड़े की पीठ पर बैठा है। इसी प्रकार का अंकन हिप्पोस्टेटस के रजत सिक्कों पर हुआ है।[4] हरमयस के सिक्को के पृष्ठ भाग पर सिरस्त्राण युक्त राजा दौड़ते हुए घोड़े पर बैठा है। और पीठ पर धनुष तथा हाथ में भाला लिए हुए है।[5] शक शासक मावेज के ताम्र[6] सिक्कों के पुरोभाग पर राजा घोड़े की पीठ पर चाबुक और भाले के साथ आसीन है परन्तु कहीं कहीं केवल भाले के साथ ही अंकित है[7] एजेज प्रथम की रजत मुद्राओं[8] के पुरोभाग पर राजा को भाला(स्पीयर) तथा ताम्र मुद्राओं पर[9] भालों (लैंसर) के साथ अश्व पर बैठा दिखाया गया है। रजत सिक्कों के पुरोभाग पर राजा धनुष के साथ और अन्य सिक्कों पर चाबुक के साथ घोड़े पर बैठा है।[10] एजिलिसेज के रजत मुद्राओं पर राजा हाथ

---

1. बी. एम. सी. फलक 8, सि.सं.12,13 पृ. 31।
2. पी. एम. सी. फलक 7, सि.सं. 576,577,578।
3. बी. एम. सी. फलक 13, सि.सं. 6,7,8।
4. बी.एम.सी. फलक 14, सि.सं.2,3,4 पृ. 59-60।
5. स्मिथ वी.ए., कैटलाग आफ क्वायंस इन दि इंडियन म्यूजियम कलकत्ता जिल्द फलक 6 सि.सं.11 पृ. 31।
6. ह्वाइटहेड, आर.बी.,कैटलाग आफ दि क्वायंस इन पंजाब म्यूजियम ,लाहौर, खंड 2 फलक संख्या 10 सिक्का सं. 28, पृ. 102।
7. पी.एम.सी. सिक्का सं. 27 फलक 10 पृ. 102।
8. पी.एम.सी. फलक 11, सि.सं. 36,37,41 पृ. 104।
9. पी.एम.सी. फलक 12, सि.सं. 255 पृ. 124, ।सिक्का सं. 290 पृ. 128।
10. पी.एम.सी. फलक 12, सि.सं. 54 पृ. 106, सि.सं. 145,पृ. 114,सिं सं.251,पृ. 124।

में भाला लेकर घोड़े पर सवार अंकित है।[1] इसी राजा के चांदी के सिक्कों के पुरोभाग पर राजा घोड़े के पीठ पर दाहिने हाथ में अंकुश लेकर सवार है तथा उसके बगल में धनुष अंकित है।[2] अन्य कुछ चांदी के सिक्कों[3] के पुरोभाग पर राजा भालों के साथ तथ-ताम्र मुद्रा के पुरोभाग पर चाबुक[4] तथा लैसर[5] (भाला) के साथ अंकित है। एजेज द्वितीय की रजत-मुद्राओं[6] के पुरोभाग पर राजा का अंकन घोड़े की पीठ पर चाबुक और धनुष के साथ हुआ है।

पहलव शासक गोंडोफर्नीज की स्वर्ण मुद्राओं के पुरोभाग पर राजा घोड़े की पीठ पर बैठा है।[7] इसी प्रकार का अंकन इसके कई सिक्कों पर देखने को मिलता है।[8] राजा एब्डगेसस के सिक्कों पर भी ऐसा अंकन मिलता है।[9] ताम्र-मुद्राओं के पृष्ठ भाग पर सिरस्त्राण युक्त अश्वारोही का अंकन है। जो हाथ में एक सोटर का छोटा सा अस्त्र लिए है।[10] अन्य ताम्र सिक्कों के पुरोभाग पर

---

1. स्मिथ ,वी.ए. कैटलाग आफ क्वायंस इन दि इंडियन म्यूजियम कलकत्ता खंड 2 पृ. 49।
2. पी.एम.सी. खंड 2,स फलक 13, सि.सं. 320,पृ. 133
3. कनिंघम ए. क्वायंस आफ दि इंडो सीथियन, शकाज ऐंड कुषाणज, खंड 2, पृ. 47।
4. पी.एम.सी. खंड 2 फलक 14 सि.सं. 353 पृ. 138।
5. पी.एम.सी. खंड 2 फलक 14 सि.सं. 358,361 पृ. 139।
6. आई. एम.सी. पृ. 49।
7. ह्वाइटहेड, आर.बी., कैटलाग आफ क्वायंस इन दि पंजाब म्यूजियम, खंड 2 फलक 15 सिक्का संख्या 1 पृ. 145।
8. पी.एम. सी. खंड 2, फलक 15, सि.सं. 38,42,45।
9. कनिंघम, ए, क्वायंस आफ दि इंडो सीथियन्स, शकाज ऐड कुषाणज, पृ. 63; गार्डनर,पी. कैटलाग आफ क्वायंस इन दि ब्रिटिश म्यूजियम, फलक 23, सिक्का सं. 3 पृ. 108।
10. स्मिथ, वी.ए. कैटलाग आफ क्वायंस इन इंडियन म्यूजियम पृ. 59।

राजा अंकुश के साथ घोड़े पर बैठा है।[1] कनिष्क प्रथम के सिक्कों के पृष्ठ भाग पर अश्व का अंकन मिलता है। इसी राजा के सिक्को पर दो सिर वाले घोड़े पर राजा को सवार दिखाया गया है।[2] हुविष्क के सिक्को के पृष्ठ भाग पर एक पुरुष का अंकन् है और उसके बगल में घोड़ा खड़ा है।[3]

गुप्त नरेश चन्द्रगुप्त द्वितीय के अश्वारोही प्रकार के स्वर्ण–सिक्को के पुरोभाग पर राजा को घोड़ की पीठ पर सवार दिखाया गया है।[4] इसी प्रकार का अंकन कुमार गुप्त प्रथम के अश्वारोही प्रकार के स्वर्ण–सिक्कों पर भी देखने को मिलता है। वह कभी दाहिने हाथ में तथा बाएं हाथ में धनुष पकड़े हुए है।[5] प्रकाशदित्य के अश्वारोही सिंह निहंता प्रकार की स्वर्ण–मुद्राओ के पुरोभाग पर राजा धनुष लिए हुए घोड़े पर सवार है।[6]

प्राचीन शिल्प–कला में अश्वारोही सैनिको का अंकन मिलता है। राजा ब्राहमदत्त घोड़े पर सांची स्तूप के पश्चिमी तोरण–द्वार के दाहिने स्तम्भ के अग्रभाग वाले दृश्य के निचले भाग में बायी ओर आसीन है।[7] राजा या सेनापति के बगल में कुछ विशिष्ट व्यक्तियों को अश्वो पर सवार स्तूप संख्या के पश्चिमी तोरण–द्वार के मध्य भाग की ऊपरी बड़ेरी में दिखाया गया है।[8] दो राजाओ

---

1. पी.एम.सी. खंड 2 फलक 16, सि.सं. 96,97 पृ. 159।
2. कनिघम, ए. क्वायंस आफ दि इंडो सीथियन्स शकाज ऐंड कुषाणज, खंड 3 फलक 17 सि.सं.5 पृ. 39।
3. कनिंघम, ए. क्वायंस आफ दि इंडो सीथियन्स शकाज ऐंड कुषाणज, खंड 3 फलक 17 सि.सं.5 पृ.55 ।
4. अल्टेकर, अनन्त, सदाशिव, गुप्तकालीन मुद्राए पृ. 85। द्रष्टव्य चित्र फलक 6।
5. अल्टेकर, अनन्त सदाशिव, गुप्तकालीन मुद्राए पृ. 123।
6. अल्टेकर, अनन्त सदाशिव, गुप्तकालीन मुद्राए पृ. 198।
7. अग्रवाल, वासुदेव शरण, भारतीय कला, पृ. 175
8. मार्शल, जे. ऐंड. फूशे ए., मानूमेंटस आफ सांची, जिल्द 1, फलक 61

तोरण-द्वार के बीच की बड़ेरी में धातु युद्ध के दृश्य के अंकन में दिखाया गया।[1] चार राजाओं की चतुरंगिणी सेनाओं का दृश्य दक्षिणी तोरण-द्वार के मध्य भाग की निचली बड़ेरी में है। इनमें एक अश्व सेना भी है, जो विभिन्न प्रकार के आयुद्धों जैसे गदा, तलवार व भाला आदि से सुसज्जित है।[2] अश्वारोही का अंकन दाहिने हाथ में लिए हुए है।[3] अश्वारोही को बाये हाथ में लगाम तथा दाहिने हाथ में चाबुक लिए दिखाया गया है।[4] घोड़ो का अंकन भरहुत कला में अत्यल्प है। यहां पर पूर्वी एवं दक्षिणी द्वारों पर पुरुष एवं स्त्री ध्वज धारियों के दो युद्धाश्व[5] और पश्चिमी तोरणंत के एक स्तंभ पर एक सुसज्जित अश्व का अंकन मिलता है अमरावती में भी, इसी प्रकार अश्वारोही का अंकन देखने को मिलता है।[6] भरहुत से प्राप्त दूसरी शताब्दी ई. के बलुए पत्थर के एक फलक पर अश्वारोही का चित्रण है जो अपने सिर के चारों ओर फीता बांधें हुए है।[7]

अश्वारोही सैनिकों का अंकन प्राचीन -मृण्मूर्तियों में भी हुआ है। कौशाम्बी से प्राप्त प्रथम शती ई. के एक त्रिकोण फलक के एक घुड़सवार अंकित है, जो अपने दाहिने हाथ में लगाम पकड़े हुए है तथा उसकी कमर में कटार बंधी हुई है।[8] अश्वारोही सैनिकों का चित्रण अनेक स्थलों पर अजन्ता की गुफा में हुआ है जैसे- तीन

---

1. मार्शल, जे. ऐंड फूशे ए., आफ सांची, जिल्द1, फलक 61।
2. मार्शल जे, ऐंड फूशे ए., आफ सांची, जिल्द1, फलक 15।
3. मार्शल जे, ऐंड फूशे ए., आफ सांची, जिल्द1, फलक 90,82 अ।
4. मार्शल जे, ऐंड फूशे ए., आफ सांची, जिल्द1, फलक 90,84 ब।
5. कनिंघम, ए., स्तूप आफ भरहुत, 1962, फलक 32। द्रष्टव्य चित्र फलक 7।
6. शिवराममूर्ति, सी. अमरावती स्कल्पचर्स इन मद्रास गर्वनमेंट म्यूजियम फलक 46, चित्र2, पृ. 219।
7. प्रमोद चन्द्र, स्टोन स्कल्पचर्स इन दि इलाहाबाद म्यूजियम चित्र 60 पृ. 53।
8. काला, सतीशचन्द्र, टेराकोटटा इन इलाहाबद म्यूजियम फलक 186 पृ. 67

घुड़सवार सैनिक गुफा संख्या सत्रह एक दृश्य के निचले भाग के दाहिने ओर चित्रित हैं। ये तीनों अश्वारोही सैनिक अधिकारी प्रतीत होते हैं। इनमें बीच वाला सैनिक हरा कोट पहने हुए और बाएं हाथ में धनुष लिए है तथा बगल में तलवार लटकाये है।[1]

साहित्यिक प्रमाणों, मुद्रा, शिल्पकला एवं अभिलेखों से इस प्रकार चलता है कि अश्व सेना में उत्तरोत्तर विकास होता गया और गुप्त काल आते आते इस सेना का महत्व सर्वाधिक हो गया, क्योंकि अश्वसेना की गति अन्य सैनिक वर्गों की अपेक्षा अधिक थी। संभवतः विदेशी आक्रमणकारियों की अश्व सेना के शौर्य एवं उपयोगिता को देखकर ही भारतीय नरेशों ने अपनी सैन्य शक्ति में भी अश्व सेना को अधिक बलवती बनाना श्रेयस्कर समझा। कालिदास, ने रघुवंश में अनेक स्थलों पर अश्व सेना का उल्लेख किया है और यवन सेना में केवल अश्वरोहियों सेना की विशाल का ही वर्णन किया है।[2]

गुप्त काल के बाद भी अश्व सेना ने क्रमशः विकास होता गया। हर्ष[3] की सेना में एक लाख अश्वारोही सैनिको के होने का उललेख है। हर्ष के काल में अश्वारोही सेना के महत्व का ज्ञान इस तथ्य से ही हो जाता है कि राज्यवर्द्धन ने केवल भाण्डि को दस हजार अश्वारोहियों को लेकर अपने साथ चलने की आज्ञा दी थी।[4]

साज सज्जा: जहां घुड़सवारों की साज सज्जा का प्रश्न है। इस सन्दर्भ में यह कहना कठिन है कि घुड़सवारों के लिए जीन, लगाम और रकाब का उपयोग कब से प्रारंभ हुआ । महाभारत में लगाम एवं जीन का उल्लेख हापकिंस के अनुसार नहीं मिलता है।[5] चतुर्थ

---

1. याजदानी, जी. ,अजंता, जिल्द 4, फलक 37 -ब, पृ. 61।
2. रघुवंश, 4/71, 4/62।
3. बील. एस. बुद्धिस्टिक रिकार्डस आफ दे वेस्टर्न वर्ल्ड, 1, पृ. 131।स्मिथ, विंसेन्ट, ए, अर्ली हिस्ट्री आफ इंडिया पृ. 352।
4. हर्ष चरित पृ. 613।
5. जर्नल आफ दि अमेरिकन ओरिएण्टल सोसायटी, 13,285 एवं आगे।

शताब्दी ई.पू. में भारतीय अश्वारोही सैनिकों अपने घोड़ों की पीठ पर जीन का प्रयोग नहीं करते और न ही वे अपने अश्वों को वैसी लगाम लगाते है जैसा कि यवनों तथा केल्टों में प्रचलित है। इनके घोड़ो की लगाम दूसरे प्रकार की होती है जो घोड़े के मुंह में लगी रहती है। इसमें लोहे या पीतल के छोटे छोटे कांटो के सदृश टुकड़े लगे रहते हैं, जिनकी नोंक भीतर की ओर होती है, किन्तु वे नुकीले नहीं होते। घोड़े के मुंह में लोहे का एक शूल रहता है, जिससे लगाम की रस्सी बंधी रहती है। जब अश्वारोही अपने हाथ की लगाम खींचते है तो घोड़े के अन्दर का शूल उसे नियंत्रण में रखता है। इस शूल के छोटे-छोटे कांटों के लगे होने के कारण घोड़े को लगाम के नियंत्रण में रहना ही पड़ता है। ऐसा एरियन का अभिमत है।[1]

मेगस्थनीज के उपर्युक्त विवरण का खंडन एरियन का यह विवरण करता है जिसमें यह बताया गया है कि, भारतवासी घोड़ो को अपने अधीन रखने उनकी गति नियमित करने एवं उनकी दिशा सही रखने के लिए बाग तथा लगाम का प्रयोग करते थे, परन्तु वे न तो मुंह पर कांटेदार चमड़े का टुकड़ा बांधकर उनकी जीभ को पीड़ाक्रांत करते हैं और न उसके तालु को ही कष्ट देते हैं।[2] एरियन मेगस्थनीज के बाद का है अतः संभव है कि इस समय तक भारतीयों ने उन्नत तरीके सीख लिए हों। मेगस्थनीज के उपर्युक्त कथन की पुष्टि भरहुत[3] और सांची स्तूप[4] संख्या एक के दक्षिणी तोरण द्वार के मध्य भाग के उस दृश्य से हो जाती है, जिसमें अश्वारोही के बायें हाथ में लगाम का अंकन हुआ है। भरहुत प्रतिमाओ के निरीक्षण से यह पता चलता है कि भारतीयों के पास काठी नहीं थी परन्तु वे निश्चित रूप से लगाम का प्रयोग करते थे।

---

1. एरियन, इंडिया, 16 पृ. 220-21, स्ट्रेबो, 15,166, पृ. 72-73।
2. मैक्रिडल, इंडिया ऐंड इटस इनवेजन बाई अलेक्जेन्डर, अंश 50।
3. कनिंघम, ए, भरहुत का स्तूप फलक 32, पृ. 42।
4. मार्शल, जे, एन्ड फूशे, ए, दि मानुमेंट्स आफ सांची, जिल्द 1, फलक 90,84-ब ।

अनुमानतः सिकन्दर और अशोक के समय में लगाम का सूत्रपात हुआ होगा।

सांची की कला में घोड़ो के लिए जीन और रकाब के एक साथ होने का प्रमाण देखने को मिलता है।[1] मार्शल का कहना है कि कोई पांच सौ शताब्दीयों में संसार में रकाब के प्रयोग का यह सबसे प्राचीन उदाहरण है।[2] मथुरा के प्रथम शताब्दी ई.पू. के एक सूची पत्थर पर रकाब में पैर डाले स्त्री बनी है। कुमार स्वामी के अनुसार रकाब प्रयोग का इस देश में संसार में सर्वप्रथम हुआ।[3] गुप्त काल तक लगाम और जीन का प्रयोग अधिकता से होने लगा, इस बात की पुष्टि इस काल के के सिक्कों एवं शिल्प-कला के अंकन से हो जाती है। कुमार गुप्त प्रथम के अश्वमेघ प्रकार के सिक्कों पर तथा अजंता की कला।[4] में जीन युक्त घोड़े का अंकन हुआ है। घोड़ों को लगाम, युक्त अजंता गुफा सं0 एक में दिखाया गया है। जो स्पष्ट रूप से घोड़ो के मुह में प्रवेश करते हुए अंकित है।[5] हर्ष ने अपने सामने खड़े युवक को घोड़े पर जीन कसने की आज्ञा हर्ष चरित में एक स्थल पर दी थी।[6]

कवच युक्त घोड़ो का उल्लेख विभिन्न ग्रन्थों में मिलता है। घोड़ो के युद्ध-व्यूह से कवच धारी घोड़ो को बीच में और कवच रहित घोड़ो को पीछे आगे रखने का

---

1. मार्शल, जे, एन्ड फूशे, ए. दि मानुमेंटस आफ सांची, जिल्द 1, फलक 6 चित्र2, फलक 9 चित्र 2, फलक 15, 20, 27: कनिंघम, ए, भरहुत का स्तूप फलक 32, पृ. 42/
2. मार्शल जे, ए गाइड टू सांची, पृ. 138, सं.3।
3. बुलेटिन बोस्टन म्यूजियम अगस्त 1926 सं.144, सिक्स रिलीफस फ्राम मथुरा मूर्ति सं.3।
4. याजदानी, जी. अजंता फलक 1, पृ. 19, नं. 3 इंडियन ऐंटीक्वेरी 1930, पृ. 170, हेरिंघम, अजंता फ्रेस्कोज, फलक 57।
5. याजदानी, जी. अजन्ता फलक 1, पृ. 19 नं. 3, इंडियन ऐंटीक्वेरी 1930, पृ. 170, हेरिंघम, अजन्ता फ्रेस्कोज, फलक 57।
6. हर्ष चरित, पंचम उच्छवास, पृ. 152।

उल्लेख अर्थशास्त्र में है।[1] कवचित घोड़ो का वर्णन जैन ग्रन्थों में भी हुआ है।[2] कवच से सुरक्षित घोड़े इसी प्रकार रघुवंश,[3] में वर्णित है।

शास्त्रास्त्र: सामन्यतया लंबे भाले एवं तलवार का प्रयोग अश्वारोही सैनिक करते थे। अश्वारोही सैनिक भाला (स्पीयर, लैंसर), तलवार, प्रास ऋष्टि एवं तोमर आदि अस्त्रशस्त्र महाभारत काल में धारण करते थे।[4] परशु, गदा, मुदगर आदि का प्रयोग रामायण काल में उपर्युक्त हथियारोंके अतिरिक्त वर्णित है।[5] एरियन कहता है कि चतुर्थ शताब्दी ई.पू. में भारतीय अश्वारोही सैनिक दो भाले और एक छोटी ढाल धारण करते थे। जो पैदल सैनिकों की ढाल की अपेक्षा छोटी होती थी।[6] अश्व (धनुर्धारी) एवं भाला-बरदार अश्व सैनिको का ही उल्लेख कालिदास ने किया है।[7] इल्लिय खड्गधारी तथा धनुर्धारी अश्वारोहियों का वर्णन जातकों में है।[8]

अश्वारोही सैनिको तथा राजाओ को प्राय: भाला (स्पीयर, लैंसर) एवं कभी कभी धनुष-बाण से युक्त

---

1. अर्थ शास्त्र, (कांगले द्वारा सम्पादित) भाग 2,10.5.35
2. उत्तराध्ययन सूत्र, 4/8, विपाका सूत्र2, पृ. 13, ओपपातिक सूत्र31, पृ. 132 उद्धृत जैन पृ. 107
3. रघुवंश् 4/56 ।
4. भीष्म पर्व, 57,11,19, द्रोण पर्व 165,21 ।
5. लंका कांड, 52,11 ।
6. इंडिया फैग्म, 16, उद्धृत चक्रवती, पी.सी. दि आर्ट आफ वार इन ऐश्येंट इंडिया पृ. 40।
7. कुमार संभव., 16/37, 41-42
8. महावेस्सतर जातक, 717-18, महा जनक जातक 50-51, (कौसल्यायन द्वारा [illegible]) खंड 6,पृ. 639,60 ।

प्राचीन सिक्कों पर अंकित किया गया है।[1]

किन्तु धनुष-बाण का अंकन गुप्त राजाओं के सिक्कों पर अधिक हुआ[2] किंतु अधिकतर अश्वारोही सैनिकों को धनुषबाण से तथा कुछ को [illegible], भाले आदि से युक्त अजंता की कला में चित्रित किया गया है।[3] अश्वारोहियों को भाला, तलवार और गदा से युक्त प्राचीन शिल्प कला में अंकित किया गया है[4] इन साक्ष्यों से स्पष्ट होता है कि गुप्त काल के पूर्व अश्वारोही सैनिकों का प्रमुख अस्त्र-शस्त्र भाला-(लेंसर, स्पीयर) ही था, किंतु गुप्त काल आते आते इनका प्रमुख आयुध धनुष बाण हो गया था यद्यपि वे साथ में तलवार, भाले आदि अन्य आयुधों का भी प्रयोग करते थे।

अश्वारोही सैनिकों के आयुधों के सन्दर्भ में प्रश्न यह उठता है कि भारत में अश्व धनुर्विद्या की शुरु आत कब हुई। इस संबंध में संभवतः विदेशी आक्रमणकारियों (शक पहलाव आदि) के पहले अश्व धनुर्धर का उल्लेख कहीं नहीं मिलता। भारतीय धनुर्धारी का उल्लेख सिकन्दर के इतिहास कारों ने भी नहीं किया । विभिन्न प्रकार की

---

1. स्मिथ, वी.ए., कैटलाग आफ क्वायन्स इन दि इंडियन म्यूजियम कलकत्ता, जिल्द फलक 6 सिक्का सं.11, पृ. 31, ह्वाइटहेड, आर.बी., कैटलाग आफ क्वायंस इन दि पंजाब म्यूजियम ,लाहौर खंड 2 फलक 10, सिक्का संख्या 27,28 पृ. 102 फलक12, सि.सं. 255, पृ. 124, सि.सं. 54 पृ. 106, सि.सं.145 पृ. 114, सिक्का संख्या 251 पृ. 124, फलक 13,सि.सं. 320 पृ. 133, कनिंघम,ए, क्वायंस आफ दि इंडो सीथियन्स, शकाज ऐंड कुषाणाज, खंड 2 पृ.47।
2. अल्टेकर, अनन्त सदाशिव, गुप्तकालीन मुद्राएं फलक7, सिक्का सं.13-14, फलक 8, सिक्का संख्या 4-5 पृ. 85, फलक 11. सि.सं. 11-15, पृ.123, फलक15, सि.सं.14पृ.198
3. याजदानी, जी0 अजन्ता, जिल्द4, फलक 37 ब, पृ. 61।
4. मार्शल जे. ऐंड फूशे एम दि मान्यूमेन्ट्स आफ सांची जिल्द 1, फलक 15, फलक-90 82अ, फलक 90-84ब।

धनुर्विद्याओं का उल्लेख शिव धर्नुवेद में मिलता है। जिसके अश्व धनुर्विद्या के संबंध में कोई साक्ष्य नहीं मिलता। शक पहलाव क्षत्रपों के सिक्कों पर अश्व धनुर्धारी का अंकन मिलता है जैसे एजेज प्रथम, एजिलिसेज और एजेज द्वितीय आदि के सिक्को पर राजा या सैनिको को धनुष बाण से युक्त होकर अश्व पर बैठा दिखाया गया है।[1] इन तथ्यों से स्पष्ट होता कि अश्व धनुर्विद्या का प्रारंभ भारत भूमि पर संभवत: प्रथम शताब्दी ई.पू. में शक तथा पहलाव क्षत्रपों द्वारा ही हुआ ।[2]

वर्गीकरण और प्रशिक्षण: घोड़ो के गुण-दोष चाल आदि का व्यापक रूप से वर्णन कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में किया है। कौटिल्य के अनुसार जिस घोड़े की खाब बत्तीस अंगुल, लंबाई एक सौ साठ अंगुल ऊचाई अस्सी अंगुल तथा जंघा बीस अंगुल हो, वह उत्तम होता है। उससे तीन अंगुल कम परिणाम का घोड़ा मध्यम और उससे भी अंगुल कम परिमाप वाले घोड़े को अधम कोटि का समझना चाहिए। उत्तम घोड़े की मोटाई चौसढ़ अंगुल होती है।[3] अच्छे घोड़े का मुह लंबा और पतला, कान छोटे, घाटी (सिर और गर्दन का जोड़) गोल चिकनी और सुडौल गर्दन ऊपरी उठी हुई और धूप के अग्रभाग की तरह लंबी और टेढ़ी कंधों के जोड़ मांस से फुले हुए, छाती निकली हुई टांगे पतली और सीधी, खुर लोहे की तरह मजबूत एवं कड़े पेट गोल, पुट्ठे चौड़े और मांसल होने से उठे हुए पूंछ के बाल पृथ्वी को छुते हुए उत्तम घोड़ो के बाव के अनुसार होनी चाहिए।[4] घोड़ो के लक्षण के विषय में गरूण पुराण में भी वर्णन मिलता है जो इन वर्णनों से भिन्न है।[5]

---

1. स्मिथ, वी.ए. कैटलाग क्वायंस आफ इन दि इंडियन म्यूजियम ,कलकत्ता पृ. 43-44
2. गार्डनर, पी. कैटलाग क्वायंस आफ इन दि ब्रिटिश म्यूजियम ग्रीक ऐंड सीथिक किंग्स आफ बैक्ट्रिया एंड इंडिया ,जिल्द 1 फलक20 सिक्का सं. 2 पृ. फलक 19 सि.सं.4, हवाइटहेड, आर.सी. कैटलाग आफ क्वायंस इन दि पंजाब म्यूजियम फलक 16 सिक्का संख्या 82 ।
3. अर्थ शास्त्र (कांगले द्वारा सम्पादित) भाग 2, 2.30.14 व आगे।
4. हर्ष चरित, द्वितीय उच्छवास, पृ. 62-63
5. गरूण पुराण, 207/4-5 ।

जिस घोड़े का मुख 40 अंगुल का होता है वह घोड़ा उत्तरोत्तर आचार्य शुक्र के अनुसार माना जाता है।[1] शुक्र के अनुसार जिस घोड़े के मुख पर बाल न हो एवं सुन्दर मुख तथा शब्द हो और नासिका ऊंची हो तथा गर्दन और मुख लंबे एवं कुछ उठे हुए हो, पेट, खुर एवं कान छोटे हो, अत्यंत शीघ्र और प्रचण्ड वेग हो हस तथा मेघ के समान शब्द हो और स्वाभाव न अत्यन्त क्रूर तथा न अत्यन्त मृदु ही हो, ऐसा घोड़ा उत्तम होता है,[2] उपर्युक्त ग्रन्थो में घोड़ो की माप आदि के विषय में प्राचीन शास्त्रकार एक मत नहीं है तथा समय को ध्यान में रखते हुए इस मानदंडो में परिवर्तन होता रहा।घोड़ो का अभाव प्राचीन भारत में था, अतः सेना के लिए घोड़े विदेशों से बनाए जाते थे। चाल एवं कवायद में प्रवीण युद्ध योग्य घोड़ो में काबुल, सिन्ध, मारटर और अरब देशों के घोड़े उत्तम श्रेणी के कौटिल्य के अनुसार होते है। सतलज के मध्यवर्ती प्रदेश वाहिलिक, कास, राजस्थान, पश्चमोत्तर सीमा प्रान्त -पापेयक, तथा तितल देशों में उत्पन्न घोड़े मध्यम कोटि के होते है। अधम कोटि में इनके अतिरिक्त सभी घोड़े आदि आते है।[3] महाभारत के कई प्रसंगों से भी स्पष्ट होता है कि सर्वाधिक प्रसिद्ध घोड़े बाह्लीक, सिन्धु व कम्बोडा से मगाए जाते थे।[4] कम्बोडा, बाह्लीक तथा बनायु (अरब) से अध्योया में घोड़े रामायण के एक प्रसंग के अनुसार आते थे।[5] कंबोज को घोड़ो का घर सुमंगलवासिनी में कहा गया है।[6] जैन ग्रन्थ उत्तराध्ययन सूत्र के अनुसार कंबोज के प्रशिक्षित घोड़ो की गति अन्य स्थानों से घोड़ो से बढ़कर रहती है।[7] कंबोज के घोड़ो को कालिदास ने भी रघुवंश में श्रेष्ठ कहा है।[8] हर्ष की

---

1. शुक्रनीति, 4/7/73।
2. शुक्रनीति, 4/7/75-76।
3. अर्थ शास्त्र, (कांगले द्वारा सम्पादित) भाग 2, 2.30.29।
4. कर्ण पर्व, 38/13
5. बाल कांड, 6/22, दृष्टव्य डे- एस. सी. हिस्टारिसिटी आफ दि रामायण पृ.170।
6. सुमंगलवासिनी 1/24।
7. जैनसूत्र, एस. बी. ई. 2, 47, दृष्टव्य, चक्रवर्ती पी. सी. दि आर्ट आफ वार इन ऐश्येंट इंडिया, पृ. 37।
8. रघुवंश 4/70

अश्व सेना में आरट्ट (बाह्लीक या पंजाब), कंबोडज, भारद्वाज, उत्तरी गढ़वाल, सिन्धु और पारसीक (सागनी ईरानी) से घोड़ो के आयात होने का वर्णन बाण ने हर्ष चरित में किया है।[1]

उल्लिखित उक्त तीनो कोटि के घोड़ो की गति तीन प्रकार की अर्थशास्त्र में बतायी गई है।[2] उदाहरणार्थ -मंद गति, मध्यम गति और तीव्र गति। मन्द गति से चलना, मध्यम गति से चलना तीव्र गति से चलना, चौकन्ना होकर चलना, तेज चलना-इन सब तरह की चालों का नाम धारा है। तथा (कूदना वल्गन) (गोलाकार घूमना), उप्लवन, धावन, धोरण (दुलकी, सरपट आदि चाल से चलना (त्रिपदी) जमीन पर तीन पैर रखना (जविनी) वेगवती, और शिक्षिता आदि घोड़ो की गति का उल्लेख जैन ग्रन्थ में मिलता है।[3] शुक्रनीति में उत्तम, मध्यम और हीन अश्वों की गति के परिमाप के विषय में उल्लेख है कि उत्तम घोड़ा 16 मात्रा उच्चारण करते करते सौ धनुष की दूरी तक पहुच जाता है, जैसे जैसे जिस घोड़े की न्यून होती गति वैसे वैसे वह हीन माना जाता है।[4] इस ग्रन्थ के अनुसार घोड़ो की गति छः प्रकार की होती है[5] -जैसे-धारा, आस्कंदित रेचित, प्लुत धौरीतक और बल्गित।

भूमिः जिस भूमि में आगे बढ़ने की अपेक्षा पीछे लौटने में अधिक सुविधा रहती है और जिसमें कीचड़ जल, दलदल तथा कंकरीली मिट्टी का सर्वथा अभाव हो वह भूमि अश्वारोही सेना के लिए अतयंत उत्तम अर्थशास्त्र के अनुसार है[6] जिस भूमि में कीचड़, पानी, बांध और ढ़ेले न हो, वही भूमि अश्वारोही सेना के लिए महाभारत

---

1. अग्रवाल, वासुदेव शरण हर्ष चरितः एक सांस्कृतिक अध्याय पृ. 41।
2. अर्थशास्त्र, (कांगले द्वारा संपादित) भाग 2, 2.30.30।
3. ओपपातिक सूत्र 31, पृ. 132, उत्तराध्ययन सूत्र 4.8, उद्धृत, -जैन जगदीश चन्द, जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ. 103।
4. शुक्रनीति 4/130।
5. शुक्रनीति 4/144।
6. अर्थ शास्त्र (कांगले द्वारा संपादित), भाग 1,10.4.4।

के अनुसार उपयुक्त होती है।[1]

अर्थात कामन्दक नीतिसार में लिखा है कि थोड़े वृक्ष और पाषाण वाली, अल्प छिद्र और लता वाली, दरार रहित, कंकड़ रहित, कीचड़ और दलदल रहित भूमि अश्व सेना के लिए उपयोगी होती है।[2]

कार्यः शत्रु देश से आने वाले जीविकोपार्जन योग्य पदार्थों तथा शत्रु के मित्र की सेना का नाश और अपने पदार्थों तथा सेना की रक्षा, छिपकर प्रविष्ट हुई शत्रु सेना की सफाई और अपनी सेना की दृढ़ स्थिति, धान्य तथा घास आदि का संग्रह शत्रु को तितर बितर करना, पहले शत्रु सेना पर चढ़ाई करना, उसमें घुसकर चौंका देना, शत्रु सेना को घेरना, शत्रु द्वारा गिरफतार अपने सैनिकों को छुड़ाना पीछे तथा सामने की ओर आक्रमण करना, भागी हुई शत्रु सेना का पीछा करना और बिखरी हुई अपनी सेना को एकत्रित करना आदि कार्य अश्व कर्म के लिए अर्थशास्त्र में बताये गए है।[3] कामंदक नीतिसार में उल्लेख मिलता है कि डटे हुए की रक्षा, शत्रु के सम्मुख गमन, वक्र गति से प्रहार आदि अश्व कर्म कहे गए है।[4]

हस्तिसेना :

भारतीय सैन्य इतिहास में हस्ति-सेना का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। विशेषतः प्राचीन काल में हाथी सदैव सेना के महत्वपूर्ण अंग रहे हैं। हाथी पर सवार होकर सेना का प्रतिनिधत्व प्रायः सैनिक टुकड़ी के नायक या सेनापति एवं राजा युद्ध भूमि में करते थे। हस्ति सेना का प्रयोग प्राचीन भारतीय युद्ध में कई दृष्टियों से लाभदायक था। स्पष्टतः इसका एक लाभ यह था कि सेनापति ऊंचाई से शत्रु की सेना का अवलोकन कर सके और तदनुसार अपनी सेना का समुचित संचालन करे। इस बात के प्रमाण कुछ प्राचीन भारतीय निर्णायक युद्ध है। युद्ध-संचालन झेलम के तट पर पोरस ने इसी प्रकार से किया था। इस प्रथा के विद्यमान होने का प्रमाण दक्षिण भारत में भी मिलता है। संगम कालीन ग्रन्थों के अनुसार राजा हाथी पर सवार होकर युद्ध

---

1. शांति पर्व 100/21 ।
2. कामंदक नीतिसार, 19/10 ।
3. अर्थ शास्त्र, (कांगले द्वारा संपादित) भाग1, 10.4.13 ।
4. कामंदक नीतिसार, 19/5 ।

क्षेत्र में प्रयाण करने के समय जाता था। उत्तरी भारत में सैन्य अभियान के समय चेर राजा सेंगुट्टुवन ने हाथी पर सवार होकर सैन्य प्रस्थान और युद्ध किया था।[1] परवर्ती काल में भी यह परम्परा विद्यमान रही। उदाहरणार्थ- चोल राजाधिराज एवं राजेन्द्र देव के हाथी पर सवार होकर चालुक्यों के विरुद्ध युद्ध-भूमि में आने का उल्लेख मिलता है।[2]

सेना का मुख्य अंग वैदिक काल में पैदल, घुड़सवार और रथ सेना थी। राजाओं और सामंतों द्वारा ऋग्वैदिक काल में हाथी पाले जाते थे किन्तु उनका उपयोग सवारी के लिए होता था। उनके प्रयोग का कोई उल्लेख युद्ध-भूमि में नहीं मिलता।[3] केवल दो प्रसंगों में हाथियों का वर्णन ऋग्वेद में हुआ है। हस्ति सेना का अधिक विकसित रूप महाकाव्य काल में देखने को मिलता है। महाभारत में रामायण की अपेक्षा हस्ति सेना के अधिक उल्लेख आये हैं। राजा हाथियों पर कसे हुए हौदे के भीतर इस काल में बैठते थे। चार सैनिक रथों में बैठकर युद्धभूमि में हाथियों की पैर की सुरक्षा के लिए चलते थे।[4]

प्रश्न यह उठता है कि वैदिक काल के उपरान्त हस्ति सेना का इतना अधिक विकास कैसे हो गया? इस सम्बन्ध में ऐसा प्रतीत होता है कि जब आर्यों को विशाल दृढ़ दुर्गों का सामना करना पड़ा और उनको विजय करने में कठिनाइयों का अनुभव होने लगा तो उन्होंने हाथियों द्वारा दुर्ग-द्वारों को तोड़ने तथा दीवालों को ध्वस्त करने के लिए हस्ति सेना के प्रयोग का विचार किया होगा तथा उसमें सफलता मिली होगी। हाथी के प्रयोग में सफलता पाकर उन्होंने इस प्रकार स्थाई गज सेना का निर्माण किया होगा। संभवतः दूसरा कारण यह था कि जब वे अनार्यों को परास्त कर स्थाई रूप से निवास करने लगे और जब उनमें अपने छोटे-छोटे राज्यों के विस्तार की इच्छा उत्पन्न हुई तो उन्हें सेना सहित अधिक दूर जाना पड़ा होगा।

---

1. सिलप्पदिकारम् 26,1.57, उद्धृत द्वारा, दीक्षितार, वी.आर.आर., वार इन ऐंश्येंट इण्डिया, पृ. 174, पाद टिप्पणी 169
2. याजदानी, जी. दक्कन का प्राचीन इतिहास, पृ. 314-15
3. ऋग्वेद 8.45.5
4. विराट पर्व 65/6

हाथियों का प्रयोग मार्ग में नदी-नालों को पार करने के लिए आवश्यक हुआ होगा। इसके साथ ही चलते-फिरते किलों का काम भी मैदानी क्षेत्र में सेना के अन्य अंगों की सुरक्षा के लिए हस्ति सेना से लिया जाने लगा। महाकाव्य काल में इस प्रकार हस्ति सेना का पूर्ण विकास हो गया।

हस्ति सेना का महत्व महाकाव्य काल के उपरान्त पूर्व की अपेक्षा अधिक बढ़ गया था। हस्ति सेना पर यूनानी साहित्य के अनुसार पोरस को अपनी चतुरंगिणी सेना में सबसे अधिक विश्वास था, जिस सेना ने सिकन्दर के अनेक युद्धों में विजय प्राप्त की थी। वह भी पोरस की हस्ति सेना देखकर भयभीत हो गयी थी। उस पार झेलम नदी के पोरस की हस्ति सेना और उसकी दृढ़ किलेबन्दी देखकर, जिसमें हाथियों की पंक्ति विशाल पर्वत-श्रृंखला की भाँति दिखायी देती थी, सिकन्दर के मुँह से निकल पड़ा कि, अंततः मेरे सम्मुख वह भय उपस्थित है जो मेरे साहस के समकक्ष है, अब मेरा संघर्ष जंगली जानवरों से पड़ा है।[1]

कर्टियस ने भारतीय हस्ति सेना के विषय में लिखा है कि, इस पशु ने सिकन्दर की सेना में घबराहट और भय पैदा कर दिया था। इनकी अद्भुत चिग्घाड़ से न केवल घोड़े, जो प्रत्येक वस्तु से भड़कते हैं, बल्कि मनुष्य भी घबरा गए और सैनिक पंक्ति में बिखराव आने लगा[2] पोरस की सेना में 130 हाथी होने का उल्लेख डायोडोरस ने किया है।[3] सिकन्दर की सेना ने पोरस पर विजय प्राप्त करने के बाद भारतीयों की सेना को देखकर आगे बढ़ने से इन्कार कर दिया था। कर्टियस के अनुसार गंगा के उस पार गंगारिपाई तथा प्रेसिआई दो जातियाँ निवास करती है, जिनका राजा अग्रामिस अपने देश की रक्षा के लिए सीमा पर अन्य सेनाओं के साथ सबसे भयानक तीन हजार गज सेना तैयार रखता है।[4] इनकी गज सेना की

---

1. मैकिंडल, इंडिया ऐंड इट्स इनवेजन बाई अलेक्जेंडर पृ. 209
2. सरकार जदुनाथ, मिलिटरी हिस्ट्री ऑफ इण्डिया अनुवाद: त्रिपाठी पृ. 24
3. मैकिडल, इंडिया ऐंड इट्स इनवेजन बाई अलेक्जेन्डर, पृ. 274
4. मैकिडल, इंडिया ऐंड इट्स इनवेजन बाई अलेक्जेन्डर, पृ. 221-22

संख्या प्लूटार्क ने छः हजार बतायी है।[1]

. हस्ति-सेना में मौर्य काल में अधिक विकास हो गया था। चन्द्रगुप्त मौर्य की सेना में 9000 हाथी होने का उल्लेख प्लिनी ने किया है।[2] हाथी ही कौटिल्य के अनुसार राजा की विजय के मुख्य स्रोत हैं। शत्रु सेना की व्यूह रचना, उसके दुर्ग तथा उसकी छावनियों को कुचलने वाले और उसके प्राणों तक के लेने वाले हाथी ही होते हैं।[3] इस वर्णन से स्पष्ट होता है कि इस काल में हाथियों को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था तथा संभवतः रथ सेना के स्थान पर हस्ति सेना का आधिपत्य हो गया था विदेशी लेखकों का कथन है कि चन्द्रगुप्त मौर्य की प्रशिक्षित गज सेना से प्रभावित होकर सेल्यूकस ने हेरात, कंदहार तथा काबुल के बदले में 500 हाथियों को भेंट में प्राप्त किया था।[4] सेल्यूकस ने इन हाथियों का प्रयोग ऐंटिगोनस के विरूद्ध युद्ध में किया था और सफलता प्राप्त की थी। पश्चिमी देशों में युद्ध-भूमि में हाथियों की उपयोगिता देख कर लड़े जाने वाले युद्धों के लिए हाथियों का प्रयोग होने लगा। इन हाथियों को 281 ई. पू. में पाइरहोस इटली ले गया । हैसड्बल ने 251 ई. पू. में पैनोरमस में भारतीय महावतों द्वारा चलाये जाने वाले हाथी प्रयोग में लाये। इन्हीं भारतीय हाथियों का प्रयोग रोम के विरूद्ध द्वितीय प्यूनिक युद्ध में हैनिबाल तथा हैसड्बल ने किया और ऐंटिओकस के भारतीय हाथियों के सम्मुख राफिया के युद्ध में टोलेमी के लीबीयाई हाथी घोड़े भी न टिक सके।[5]

हस्ति-सेना के विकास में मौर्यकाल के उपरान्त कमी आ गई। ऐसा प्रतीत होता है कि विदेशियों की अश्व शक्ति ने भारतीयों को प्रभावित किया और पोरस सिकन्दर के युद्ध के अनुभव ने जिनमें हाथियों ने बिगड़कर पीछे

---

1. मजूमदार, आर. सी., क्लासिकल एकाउन्टस ऑफ इण्डिया पृ. 125
2. मैकिडल, इंडिया ऐंड इट्स इनवेजन बाई अलेक्जेन्डर पृ. 156
3. अर्थशास्त्र, (कांगले द्वारा संपादित) भाग 1, 2.2.14
4. मुकर्जी, राधा कुमुद, चन्द्रगुप्त मौर्य और उसका काल अनुवादक सक्सेना मुनीश पृ. 61-62
5. वारमिंगटन, ई. एच., कामर्स बिटविन रोमन इम्पायर ऐंड इंडिया, पृ. 51

भागने और अपनी ही सेना को रौंदने का जो उदाहरण प्रस्तुत किया था, भारतीय शासकों को हस्ति सेना के स्थान पर अश्व सेना में वृद्धि करने के लिए बाध्य किया। फिर भी हाथियों को सेना के अंग से निकाला न जा सका। इनका प्रयोग युद्ध भूमि में सदैव होता रहा। हाथी गुम्फा अभिलेख से ज्ञात होता है कि खारवेल अपने शासन काल के बारहवें वर्ष में दक्षिण में अभियान कर अपनी हस्ति सेना को गंगा में जल पिलाया था।[1]

गुप्तों के पूर्व काल तक सामरिक एवं तकनीकी दृष्टि से युद्ध में हाथियों का प्रयोग होता रहा। लेकिन गुप्त काल में सामरिक एवं तकनीकी आधार पर हस्ति सेना का स्थान अश्व सेना ने ले लिया। ऐसा पार्थियन व यूनानी प्रभाव के कारण भी संभव हुआ था क्योंकि वह गतिशील युद्ध में प्रभावकारी नहीं थे गुप्त काल में युद्ध में गतिशीलता पर विशेष ध्यान दिया गया।[2] लेकिन इन सबके बावजूद गज सेना का स्थान चतुरंगिणी सेना में बना रहा। बाद के कालों में विशेष रूप से हर्ष के समय भी हमें हस्ति सेना के होने का विवरण मिलता है।[3]

हाथी का अंकन प्राचीनतम् रजत[4] एवं ताम्र मुद्राओं[5] के पुरो भाग पर हुआ है। इसी प्रकार का अंकन अनेक राजवंशों के सिक्कों पर देखने को मिलता है। उदाहरणार्थ,

---

1. इपिग्राफी इंडिका, जिल्द 8, पृ. 45
2. मजूमदार, बी.के. मिलिटरी सिस्टम इन ऐंश्येंट इण्डिया, पृ. 38, मेहता, आर.एन. प्री बुद्धिष्ट इण्डिया पृ. 171ण् जैन, जे.सी.– लाइफ इन ऐंश्येंट इण्डिया पृ. 80
3. अग्रवाल, वासुदेव शरण, हर्ष चरित एक सांस्कृतिक अध्ययन पृ. 28–29
4. स्मिथ, बी.ए., कैटलाग ऑफ क्वायन्स इन दि इण्डियन म्यूजियम, कलकत्ता, फलक 1 सिक्का संख्या 9
5. स्मिथ, बी.ए., कैटलाग ऑफ क्वायन्स इन दि इण्डियन म्यूजियम, कलकत्ता, फलक 19, जिल्द संख्या 92

यूनानी शासक डिमेट्रियस[1], एंटिमेकस[2] हेलियोक्लीज[3] तथा ल्ववायलस[4] के सिक्कों पर हाथी का सम्पूर्ण भाग हाथी की खड़ी आकृति और हाथी को चलते हुए अंकित किया गया है। शक-शासक मावेज की कुछ ताम्र मुद्राओं के पुरोभाग पर हाथी सिर घंटी युक्त तथा कुछ पर अपने सूंड़ के ऊपर उठाकर दौड़ते हुए[5] और ऐजेज तथा एजिलाइसेज के ताम्र सिक्कों के पुरोभाग पर चलते हुए हाथम् का अंकन है।[6] दिए गए सिक्कों पर हस्ति सवार, हौदे आदि का अंकन नहीं मिलता है। अतः स्पष्ट नहीं है कि इन मुद्राओं पर अंकित हाथी युद्ध-भूमि में प्रयुक्त होने वाला हाथी था या जंगली पशु मात्र। यह भी संभव है कि हाथी का एक धार्मिक प्रतीक के रूप में अंकन हुआ हो।

प्रथम अंकन गजारोही सवार का कुषाणवंशी राजा विमकदफिस के स्वर्ण सिक्कों के पुरोभाग पर मिलता है। इसमें राजा को आरूढ़ हाथी पर कसे हुए हौदे पर दिखाया गया है।[7] गजारोही का अंकन इसी प्रकार हुविष्क की ताम्र मुद्राओं के पुरोभाग पर हुआ है। जो बांए हाथ में

---

1. ह्वाइटहेड, आर.बी., कैटलाग आफ क्वायन्स इन दि पंजाब म्यूजियम, पृ. 13
2. ह्वाइटहेड, आर.बी., कैटलाग ऑफ क्वायन्स इन दि पंजाब म्यूजियम, फलक 3 जिल्द संख्या 59, पृ. 19
3. ह्वाइटहेड, आर.बी., कैटलाग ऑफ क्वायन्स इन दि पंजाब म्यूजियम, फलक 3 जिल्द संख्या 149, पृ. 29
4. .... उपरोक्त ....
   फलक, 7, जिल्द संख्या 546, पृ. 67
5. .... उपरोक्त ....
   फलक 10, सिक्का संख्या 5 पृ. 98, फलक 10 सिक्का संख्या 29, पृ. 102, फलक 12, सिक्का संख्या 28, पृ. 127, फलक 14 सिक्का संख्या 363 पृ. 139
6. स्मिथ वी.ए.आई.एम.सी., फलक 10 सिक्का संख्या 23 पृ. 45
7. न्यूमिस्मेटिक क्रानिकल, जिल्द 14, 5वीं सीरिज पृ. 232

अंकुश तथा बांए हाथ में भाला (स्पीयर) पकड़े हुए हैं।[1] गजारूढ़ को बांए हाथ में त्रिशूल लिए हुए हुविष्क राजा के कुछ ताम्र सिक्कों के पुरोभाग पर दिखाया गया है।[2] राजा पूरे साज वाले हाथी पर सवार है और दाहिने हाथ में अंकुश लिए हुए का अंकन गुप्त कालीन राजा कुमार गुप्त के गजारोही प्रकार के स्वर्ण-सिक्कों के पुरोभाग पर है।[3] कुमार गुप्त के गजारूढ़ सिंह-निहता प्रकार के कुछ स्वर्ण सिक्कों पर राजा कटार लिए हुए आक्रमण की मुद्रा में हाथी पर बैठा है।[4] इस प्रकार इन मुद्राओं के अंकन को देखने से लगताहै कि विशेष कर कुषाण एवं गुप्त कालीन सम्राट स्वयं हस्ति संचालन में निपुण होता था।

गजारोहियों का अनेक रूपों में वर्णन प्राचीन शिल्प-कला के अंकन में मिलता है। एक पूर्ण मुख वाले हाथी का अंकन भरहुत स्तूप के पूर्वी प्रवेश द्वार के पहले स्तम्भ पर है। हाथी पर अस्थि मंजूषा लिए एक राजकीय अधिकारी बैठा है। एक अंकुश सवार के पास है, अंकुश को राजकीय अधिकारी ने हाथी के सिर पर रखा है।[5] इसी प्रकार भरहुत स्तूप की तोरण वेदिका के एक दृश्य में राजा अजातशत्रु को हाथी पर आरूढ़ होकर लम्बे जुलूस के साथ आगे आते हुए अंकित किया गया है। राजा हाथी से उतर कर अंजलि मुद्रा में वज्रासन की वन्दना करते हुए इस दृश्य में अंकित है।[6]

---

1. ह्वाइटहेड, आर.बी., कैटलाग ऑफ क्वायन्स इन दि पंजाब म्यूजियम, फलक 18, सिक्का संख्या 137, पृ. 198
   स्मिथ, वी.ए. कैटलाग ऑफ क्वायन्स इन दि इण्डियन म्यूजियम, कलकत्ता, फलक 13, सिक्का संख्या 2,3
2. पी.एम.सी. पृ. 202
3. आई. एम. सी. फलक 15 जिल्द संख्या 7
   अल्टेकर अनन्त सदाशिव, गुप्त कालीन मुद्राएं, फलक 12 जिल्द संख्या 15 पृ. 136
4. आई. एम. सी. फलक 13, जिल्द संख्या 1 पृ. 137
5. कनिंघम, ए., स्तूप ऑफ भरहुत, फलक 12 पृ. 41
6. अग्रवाल, वी.एस., भारतीय कला, पृ. 148

सांची स्तूप में इसी प्रकार अनेक स्थलों पर गजारोहियों का अंकन है जैसे- एक शोभायात्रा का अंकन स्तूप संख्या एक में पश्चिमी तोरण द्वार की बीच वाली बड़ेरी में है। बड़ेरी में तीन राजा हाथी पर सवार होकर आगे-आगे जा रहे हैं। एक राजा रथ पर सवार है और उसके पीछे पुनः अन्य सात राजा हाथियों पर सवार है तथा प्रत्येक राजा के साथ एक-एक परिचारक हाथ में, चँवर, छत्र, ढांकल, तलवार आदि लेकर बैठे हैं।[1] स्तूप संख्या एक के दक्षिणी तोरण-द्वार की मध्य की बड़ेरी में एक राजकीय आकृति का अंकन है, जो हाथी पर सवार है और दोनों हाथों से अंकुश पकड़कर हाथी के सिर पर रखे हुए हैं। पश्चिमी तोरण द्वार के बीच भाग में एक प्रमुख आकृति को हाथी पर सवार दिखाया गया है। जो बाँए हाथ में अंकुश लिए हुए हैं। "धातु युद्ध" का अंकन इसी तोरण पर है जिसमें तीन राजाओ को गजारूढ़ दिखाया है।[2] बुद्ध के अस्थि अवशेष प्राप्त करने के लिए कुशीनारा के मल्लों के विरुद्ध सात राजाओ के आक्रमण का दृश्य दक्षिणी तोरण द्वार की निचली बड़ेरी पर है। और बड़ेरियों में दाहिने व बांई ओर राजाओ को हाथियों पर बैठकर जाते हुए दिखाया गया है।[3] सांची स्तूप में अंकित गजारोहियों के अंकन से यह प्रतीत होता है कि प्रायः हाथियों पर महत्वपूर्ण व्यक्ति ही सवार होता था उदाहरणार्थ- महत्वपूर्ण योद्धा,[4] राजा या उसका प्रतिनिध सेनापति या राजकुमार आदि ।[5]

"धातु युद्ध" के दृश्य में अमरावती स्तूप में गजारोहियों का अंकन है जैसे सात हाथियों को एक साथ एक दृश्य में चित्रित किया गया है, जिस पर दो-दो

---

1. मार्शल, जे. एन्ड फूशे. ऐ., दि मानुमेन्ट्स ऑफ सांची जिल्द 2 फलक 61
2. मार्शल, जे. एन्ड फूशे ए. दि मानुमेन्टस ऑफ सांची जिल्द 2 फलक 12
3. अग्रवाल, वी.एस., भारतीय कला, पृ. 166
4. मार्शल जे. एन्ड फूशे ए. दि मानुमेन्ट्स ऑफ सांची जिल्द 2, फलक 15, 61
5. मार्शल जे. एन्ड फूशे ए. दि मानुमेन्ट्स ऑफ सांची जिल्द 2 फलक 50,51

गजारोही सवार हैं।[1] द्वितीय शताब्दी ई. की सातवाहन कालीन कांसे की हाथी का आकृति प्राप्त हुई है, जो कोल्हापुर संग्रहालय में सुरक्षित है। कांसे की हाथी की आकृति पर चार व्यक्ति सवार है।[2] राजा को अपने परिजनों के साथ प्रयाण करते हुए इसी प्रकार नागार्जुन कोंडा के एक नक्काशीयुक्त फलक में दिखाया गया है। इसमें परिवार के लोग हाथी पर बैठे हैं तथा पैदल तथा अश्वारोही सैनिक भी है। जिनमें प्रत्येक सैनिक को तलवार, ढाल और गदा लिए हुए हैं। अनुमानतः यह किसी जुलूस या यात्रा का दृश्य है।[3] युद्ध दृश्य का चित्रण अजन्ता की कला में अनेक स्थलों पर है। जिसमें गजारोहियों का अंकन महत्वपूर्ण भूमिका के रूप में हुआ है। दो गजारोहियों का चित्रण गुफा संख्या 17 के एक दृश्य में है।[4] गुफा संख्या सत्रह में ही राजा सिंहल को हाथी पर आरूढ़ दिखाया गया है। दो अन्य प्रमुख गजारोहियों का चित्रण इसी के साथ है।[5] अन्य स्थलों पर गजारोहियों का चित्रण इसी प्रकार हुआ है।[6]

सैनिकों तथा महावत आदि को हाथियों पर आरूढ़ प्राचीनतम् मृण्मूर्तियों में भी दिखाया गया है। उदाहरणार्थ-बड़ौदा संग्रहालय में सुरक्षित मौर्यकालीन एक खिलौने में एक महावत हाथी पर सवार है।[7] कौशाम्बी से प्राप्त शुंगकालीन मृण्मूर्ति के एक फलक में लड़ते हुए दो हाथियों का चित्रण है इन पर बैठे हुए दो पुरुष उन्हें युद्ध

---

1. शिवराममूर्ति, सी. अमरावती स्कल्पचर्स इन दि मद्रास गवर्नमेंट म्यूजियम, फलक 43, चित्र 1,2, पृ. 204
2. शिवराममूर्ति, सी. साउथ इण्डियन ब्रांजेज फलक- 1-ब, पृ. 69
3. रे, निहाररंजन, मौर्य एन्ड पोस्ट-मौर्य आर्ट चित्र 90 पृ. 126
4. याजदानी, जी. अजन्ता, जिल्द 4, फलक 37-ब, पृ. 61
5. याजदानी, जी. अजन्ता, जिल्द 4, फलक 37-ब, पृ. 61
6. याजदानी, जी. अजन्ता, जिल्द 4, फलक 55, 57, 58, 66-द
7. धवलिकर, एम. के. मथुरा आर्ट इन दि बड़ौदा म्यूजियम, फलक 4, चित्र 11, पृ. 12

के लिए प्रेरित कर रहे हैं।[1] कौशाम्बी से ही इलाहाबाद संग्रहालय में सुरक्षित मृण्मूर्ति के एक फलक में संभवतः स्वपनवासवत्ता के अपहरण का दृश्य है जिसमें स्वपनवास वत्ता को राजा उद्यन द्वारा अपहृत करने का दृश्य है। इस फलक के बीच में चलते हुए एक हाथी का चित्रण है, जिसके एक पैर को तीनआदमी उठाए हुए है और एक स्त्री उसकी पीठ पर अंकुश के साथ आसीन है। इस वृत्ताकार फलक की तिथि प्रथम शताब्दी ई. पू. है।[2] इसी प्रकार मथुरा से प्राप्त शुंगकालीन मृण्मूर्ति के एक फलक में दो पुरुष आकृतियों को हाथी की पीठ पर बैठा दिखाया गया है।[3]

इन उपर्युक्त वर्णनों में कुछ दृश्यों का सम्बन्ध यद्यपि धार्मिक कार्यों या जुलूस या अन्य दृश्यों के वर्णन के लिए है, किन्तु इन वर्णनों के आधार पर यह मत व्यक्त कर सकते हैं कि इन काल में हाथियों का प्रयोग सैनिक कार्यों के लिए भी होता रहा होगा। सिक्कों तथा शिल्प कला के अंकनों से स्पष्ट होता है कि मौर्योत्तर एवं पूर्व-गुप्त काल में हस्ति सेना को सेना में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। गुप्त तथा परवर्ती गुप्त काल में भी गज सेना को सेना का अनन्य अंग माना जाता था। गुप्त काल का सैन्य-संगठन सामरिक एवं तकनीकी आधार पर विशेषतः अश्व सेना पर ही निर्भर था किंतु हस्ति सेना को हेय नहीं समझा जाता था। महाकवि कालिदास ने कलिंग देश के राजा की विशाल गज-सेना को ही उसकी सेना का मुख्य अंग बताया है।[4] इस वर्णन में निश्चित संख्या का अभाव है, किन्तु इससे यह बोध अवश्य होता है कि इस काल के शासक गज सेना को भी अधिक महत्व प्रदान करते थे। राज्य हाथियों पर आश्रित होते हैं ऐसा कामन्दक ने भी लिखा है। भलीभांति प्रशिक्षित हाथी युद्ध में छः

---

1. काला, सतीशचन्द्र, टेराकोटा इन दि इलाहाबाद म्यूजियम, चित्र 147, पृ. 158 द्रष्टव्य चित्र फलक 10
2. काला, सतीशचन्द्र, टेराकोटा इन दि इलाहाबाद म्यूजियम, चित्र 147, पृ. 158
3. बाजपेयी, कृष्णदत्त, जनरल ऑफ उत्तर प्रदेश हिस्टोरिकल सोसायटी लखनऊ, जिल्द 19, चित्र14
4. रघुवंश, 4/40

हजार घोड़ों को मारने के लिए पर्याप्त होता है।[1] यद्यपि इस प्रसंग में अतिरंजना का पुट विशेष है, फिर भी युद्धभूमि में हाथियों के महत्व को नकारा नहीं जा सकता। गुप्तों के पश्चात् हर्ष काल में हस्ति सेना की संख्या में पुनः वृद्धि हुई। ह्वेनसांग के अनुसार हर्ष की सेना में साठ हजार हाथी थे।[2] हर्ष चरित में यह उल्लेख मिलता है कि हर्ष की सेना में अनेक अयुत हस्ति थे। जिससे ह्वेनसांग के तथ्य की पुष्टि हो जाती है।[3] इससे ऐसा लगता है कि सिकन्दर के काल में पश्चात् जिन हाथियों का महत्व कम होता जा रहा था वह छठीं एवं सातवीं शताब्दी में पुनः अपने को स्थापित किया था।

वर्गीकरण एवं प्रशिक्षण :

हाथियों को भी घोड़ों की भाँति उनके प्राप्ति स्थान और शारीरिक बनावट या शारीरिक विशिष्टता के आधार पर वर्गीकृत किया जा सकता है। कलिंग, अंग, पूर्वी करूश देश के हाथी सर्वोत्तम, दशार्ण और पश्चिम देश के हाथी मध्यम तथा सुराष्ट्र एवं पंचनद के हाथी अधम कोटि के अर्थशास्त्र के अनुसार होते हैं।[4] विभिन्न जातियों के लोगों के रण कौशल की तुलना करते हुए हाथियों की लड़ाई में प्राच्यों (पूर्व) की श्रेष्ठता का उल्लेख महाभारत में एक स्थल पर किया गया है।[5] इस तथ्य की पुष्टि मेगस्थनीज द्वारा भी होती है। वह कहता है कि सारे देश में सबसे बड़े हाथी प्रसियाई देश के (पूर्व के, मागधों के) हाथी होते थे।[6] हाथियों को पकड़ने तथा उन्हें प्रशिक्षित करने में पूर्वी भारत {मगध} सबसे आगे बढ़ा हुआ ऐसा मत उपर्युक्त प्रमाणों के आधार रीजडेविड्स ने व्यक्त किया है।[7] कलिंग और अंग देश के हाथियों को कालिदास ने भी रघुवंश में सर्वश्रेष्ठ बताया है।[8] ह्वेनसांग

---

1. कामन्दकनीतिसार, 16/10-12
2. बील. एस., बुद्धिस्टिक रिकार्ड्स 1, पृ. 213
3. अग्रवाल, वी. एस. हर्षचरित – एक सांस्कृतिक अध्याय पृ. 38
4. अर्थशास्त्र, {कांगले द्वारा सम्पादित}, भाग 1, 2.2. 15 व 16
5. महाभारत 12,101
6. ए. आई. पृ. 118
7. रीज डेविस, बुद्धिष्ट इंडिया पृ. 266
8. रघुवंश, 4/40,83,5/27,54

के अनुसार कामरूप से पर्याप्त मात्रा में अच्छे हाथी युद्ध के लिए भेजे जाते थे।[1]

कार्य-भेद के आधार हाथियों को चार श्रेणियों में अर्थशास्त्र में विभक्त किया गया है।[2] दम्य- (शिक्षा देने योग्य) इसके अन्तर्गत स्कन्धगत, वारिगत, अवपातगत और यूथगत आदि पांच प्रकारों का उल्लेख है।, सान्नाह्य (युद्ध के योग्य) इसके अन्तर्गत उपस्थान, संवर्तन, संयान, वधावध, हस्तियुद्ध, नगनारायण, सांग्रामिक आदि प्रकार आते हैं। औपवाह्य (सवारी के योग्य): इसके आठ प्रकार बताये गए हैं- आरुचवरण, कुंजरौपवाह्य, धोरण, आधानगतिक, यष्ट्युपवाह्य तोत्रोपवाह्य, शुद्धोपवाह्य, मार्जनयक। काल घातक वृत्ति वाला इसके चार भेद हैं- शुद्ध, सुव्रत, विषम और सर्वदोष-प्रदुष्ट।

जैन ग्रन्थों में इसी प्रकार हाथियों के चार भेद बताए गए हैं: भद्र, मंद, मृग और संकीर्ण। इसमें सर्वोत्तम हाथी भद्र माना जाता था। मधु-गुटिका की भाँति वह पिंगल नेत्र वाला, सुन्दर और लम्बी पूंछ वाला, अग्रभाग में उन्नत तथा सर्वांग परिपूर्ण होता था। शिथिल, स्थूल शिर, पूँछ, नख और दंतवाला मंद हाथी होता था। धैर्य और वेग में मन्द होने के कारण उसे मन्द कहा जाता था। मृग हाथी कृश होता था, उसकी ग्रीवा, त्वचा, दाँत और नख कृश होते थे। इन सबकी अपेक्षा संकीर्ण प्रकार का हाथी निकृष्ट समझा जाता था।[3] वह रूप और स्वभाव से संकीर्ण होता था। चार प्रकार की जातियाँ शुक्रनीति में भी भद्र, मंद, मृग और मिश्र आदिक हाथियों की जाति बताई गई है।[4]

शारीरिक लक्षणों तथा आकार के आधार पर भी हाथियों का वर्गीकरण कौटिल्य ने किया है। जैसे- नौ हाथ लम्बा, सात हाथ ऊंचा तथा दस हाथ मोटा एवं चालीस वर्ष उम्र वाला हाथी उत्तम, तीस वर्ष, छः हाथ ऊंचा हाथी मध्यम तथा पांच हाथ ऊंचा और पच्चीस वर्ष का

---

1. बील, एस., लाइफ ऑफ हृवेनसांग पृ. 172
2. अर्थशास्त्र (कांगले द्वारा संपादित) भाग 1, 2.32.1
3. स्थानांग 4.281, ज्ञातृधर्मकथा, पृ. 39, उद्धृत -जैन जगदीशचन्द्र, जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज पृ. 97
4. शुक्रनीति 417./34

हाथी अधम माना गया है।[1] साठ वर्ष के हाथी को महाउम्मग जातक में उत्तम माना गया है।[2] उत्तम हाथी के लक्षणों के विषय में जैन ग्रन्थों में मिलता है कि वह सात हाथ ऊंचा, नौ हाथ चौड़ा, बीच भाग में दस हाथ, पाद-पुच्छ आदिसात अंगों से सुप्रतिष्ठित, सौम्य प्रमाणयुक्त, सिर उठा हुआ, पृष्ठभाग शूकर के समान, उन्नत और मांसल कुक्षि, प्रलंबमान उदर, लम्बी सूंड़, धनुष के पृष्ठ भाग के समान आकृति, पूर्ण और सुन्दर कछुए के समान चरण, शुक्लवर्ण, निर्मल और स्निग्ध त्वचा तथा स्फोट आदि दोषरहित नखों वाला होता है।[3] हर्षचरित में बाण ने सर्वोत्तम हाथी के विषय में लिखा है कि एक अच्छे हाथी के नख चिकने, रोये कड़े, मुख भारी, सिर कोमल, ग्रीवामूल छोटा तथा उदर पतला होना चाहिए। उसे अच्छे शिष्य की भांति सीखना चाहिए तथा सीखी हुई बात पर दृढ़ रहना चाहिए।[4]

हाथियों को सात प्रकार की शिक्षा देने का उल्लेख कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में किया है। उपस्थान- इसके अंतर्गत हाथियों को उठाना और छोटी दीवार, वृक्षों आदि की रुकावटों को कूदकर पार करने का अभ्यास कराया जाता था। समवर्तन में हाथियों को बैठना तथा भिन्न-भिन्न चीजों को लाँघना सिखाया जाता था। समयान में हाथी को महावत के संकेत पर उसकी इच्छानुसार चलना सिखाया जाता था। वधावध- सूंड़, दाँत तथा अन्य अवयवों से रथ, घोड़ा तथा पैदल सैनिक को मारना और पकड़ना सिखाया जाता था। हस्तियुद्ध में शत्रु-सेना के हाथियों से युद्ध करने का अभ्यास कराया जाता था। नागरायण में हाथी को भिन्न-भिन्न प्रकार की इमारतों, किलों आदि को तोड़ना सिखाया जाता था। सांग्रामिक: युद्ध में प्रकट रूप में युद्ध करने तथा अन्य कार्यों के लिए हाथियों को अभ्यास कराया जाता था।[5]

---

1. अर्थशास्त्र, (कांगले द्वारा संपादित) भाग2, 2.31.11
2. महाउम्मग जातक, 202 (कौसल्यायन द्वारा अनुवाद) भाग 6, पृ. 489
3. ज्ञातृधर्मकथा, पृ. 35, उद्धृत, (जैन जगदीश) जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज पृ. 97
4. हर्षचरित, पृ. 182
5. अर्थशास्त्र (कांगले द्वारा संपादित) भाग 1, 2.32.5,6,7

प्राचीन भारतीय शिल्प-कला के अंकनों में भी साहित्यिक प्रमाणों की पुष्टि होती है- जैसे एक हाथी को समयान एवं वधावध की क्रिया में रत अमरावती से प्राप्त शिल्प के एक फलक पर दिखाया गया है। हाथी समयान विधि से आगे बढ़ कर अपनी सूंड से एक घोड़े को पकड़कर घुड़सवार को मार रहा है तथा पैदल सैनिकों को पैरों से कुचल रहा है।[1]

अस्त्र-शस्त्र

. मुख्यतः गजारोही प्रक्षेपास्त्रों का ही प्रयोग करते थे उदाहरणार्थ- बाण, चाकू, कटार, पत्थर, तेल के वर्तन आदि।[2] सात योद्धा हाथी की पीठ पर सवार होते थे ऐसा उल्लेख महाभारत में मिलता है। सात योद्धाओ में से दो योद्धाओ के हाथ में अंकुश, एक तलवारधारी, एक बल्लमधारी और तीन प्रवीण धनुषधारी होते थे।[3] हस्ति-सेना के आयुधों में कवच, तोमर, तूणीर आदि भिन्न-भिन्न प्रकार के शस्त्रास्त्रों को अर्थशास्त्र में रखा गया है।[4] एरियन के अनुसार युद्ध हाथियों पर तीन धनुर्धारी बैठे होते थे, जिनमें से दो दोनों तरफ से बाण चलाते थे और तीसरा पीछे से। हाथी पर एक चौथा आदमी होता था जिसके हाथ में एक अंकुश होता था और उसकी सहायता से वह हाथी को उसी प्रकार वंश में रखता था जैसे जहाज का संचालक दिशा बदलने वाले यंत्र की सहायता से जहाज को सही मार्ग पर रखता है।[5] गजारोही सैनिकों को धनुष-बाण, तोमर तथा गदा से युक्त जातकों में बताया गया है।[6] गजारोही सैनिकों में दो

---

1. शिवराममूर्ति, सी. अमरावती स्कल्पचर्स इन दि मद्रास गवर्नमेंट म्यूजियम फलक 56, चित्र1, पृ.123
2. जर्नल ऑफ दि अमेरिकन ओरियंटल सोसाइटी 13, पृ. 265
3. महाभारत 5/152/14
4. अर्थशास्त्र (कांगले द्वारा संपादित) भाग 1, 2.32.15
5. मजूमदार, आर. सी. "क्लासिकल एकाउंट्स ऑफ इंडिया" पृ. 42
6. महाउम्मग जातक 203; महावेस्सन्तर जातक 715-16, महाजन जातक, 70 (कौसल्यायन द्वारा अनुदित) खण्ड 6, पृ. 489, 639, 60

धनुर्धर, दो अंकुशधारी तथा दो तलवार धारण किए रहते थे।[1] गजारोहियों की सुरक्षा के लिए युद्ध-भूमि में तीन घुड़सवार सैनिक अगल-बगल नियुक्त रहते थे। इन हाथियों की पीठ पर हौदे बंधे रहते थे, धनुर्धारी सैनिक इन्हीं हौदों में अपने विशाल तरकस लटकाते थे ऐसा हापकिन्स का मत था।[2] इस तथ्य की पुष्टि प्राचीन कला के अंकन से भी हो जाती है। गजारोहियों को राक्षसों के ऊपर शर-संधान करते हुए अजन्ता की गुफा सत्रह में सिंहल अवदान की चित्रकला में दिखाया गया है तथा हाथी पर बँधे हौदों में लटकता हुआ बाणों से पूर्ण विशाल तरकस को चित्रित किया गया है।[3]

गजारोहियों के आयुधों पर पर्याप्त प्रकाश प्राचीनतम् मुद्राओं एवं शिल्पकला के अंकन से भी पड़ता है जैसे- कुषाणवंशी शासक हुविष्क[4] के सिक्कों पर गजारोही को भाला तथा गुप्तवंशी राजा कुमारगुप्त[5] के सिक्कों पर कटार से युक्त दिखाया गया है । गजारोहियों को तलवार, ढाल आदि से युक्त इसी प्रकार सांची[6] तथा नागार्जुन कोंडा [7] की कला में भी चित्रित किया गया है। तलवारधारी तथा धनुर्धारी हस्त्यारोहियों दृश्यों का अंकन क्रमशः अमरावती[8] स्तूप तथा उदयगिरि[9] गुफा में हुआ है।

---

1. अग्निपुराण 252/31
2. हापकिन्स, ई. डब्ल्यू., जर्नल ऑफ दि अमेरिकन ओरिऐन्टल सोसायटी पृ. 265
3. याजदानी, जी. अजन्ता, जिल्द 4 पृ. 92
4. ह्वाइटहेड बी.आर. कैटलाग ऑफ क्वायन्स इन दि पंजाब म्यूजियम, फलक 18 सिक्का संख्या 137 पृ. 198
5. अल्टेकर अनन्त सदाशिव, गुप्तकालीन मुद्राएं पृ. 137
6. मार्शल जे. एन्ड फूशे ए. दि मानुमेन्ट ऑफ सांची फलक 61
7. रे, निहाररंजन, मौर्य एन्ड पोस्ट मौर्य आर्ट पृ. 126
8. शिवराममूर्ति, सी., "अमरावती स्कल्पचर्स इन दि मद्रास गवर्नमेंट म्यूजियम, फलक 46, चित्र 2, पृ. 219
9. अग्रवाल, वी.एस., भारतीय कला पृ. 189

जबकि हस्त्यारोहियों को प्राय: धनुष-बाण तथा तरकस से युक्त अजन्ता की कला में दिखाया गया।[1] इस प्रकार स्पष्ट होता है कि आरंभिक काल से लेकर पूर्व गुप्त काल तक इनके अस्त्रशस्त्र तलवार, गदा, भाला, तोमर तथा धनुष थे, किन्तु गुप्त काल तक आते आते इनके प्रमुख आयुध धनुष बाण हो गए।

साज-सज्जा

युद्ध में प्रयुक्त होने वाले हाथियों की साज-सज्जा के संबंध में जातक, महाभारत, अर्थशास्त्र व हर्षचरित आदि ग्रन्थों से जानकारी मिलती है। जातकों से स्पष्ट होता है कि अत्यन्त प्राचीन काल से ही हाथियों को सुसज्जित करने की प्रथा प्रचलित थी। वेस्सन्तर जातक में हाथी आभूषण धारण किए हुए हैं। ये आभूषण सामने के दोनों पैरों, पीठ पर (बगल में) तथा मस्तक पर सजाये जाते थे।[2] हाथियों को कक्ष्या, जंजीर, घंटियों, छत्र तथा झूलों से सजाए जाने का उल्लेख महाभारत में मिलता है।[3] हाथियों को सन्नद्धबद्ध करके, उज्जवल वस्त्र, कवच, गले के आभूषण और कर्मपुर पहना, उर में रज्जु बाँध, उन पर लटकती हुई झूले डाल, छत्र, ध्वजा और घंटे लटका, अस्त्र-शस्त्र तथा ढालों से सुसज्जित किया जाता था ऐसा उल्लेख जैन साहित्य में मिलता है।[4]

हाथियों पर कसी जाने वाली सामग्रियों के विषय में अर्थशास्त्र में वर्णन मिलता है- "हाथियों पर कसने के लिए खूँटा (आलान) गले की जंजीर (ग्रैवेयक) काँख में बाँधने की रस्सी (कक्ष्या), चढ़ते समय सहारा देने वाली रस्सी (परायण) हाथी के पैर में बांधने की जंजीर (परिक्षेप) और उसके गले में बांधने की रस्सी (उत्तर) होती थी। अंकुश, बांस का डंडा और अंबारी (यंत्र) आदि उसके लिए अन्य उपकरण है। इसके अतिरिक्त

---

1. हेरिंघम, अजन्ता फ्रेस्कोज, फलक 42,12
2. वेस्सन्तर जातक, श् 6,253 (कौसल्यायन द्वारा संपादित) खण्ड 6
3. जनरल ऑफ अमेरिकन ओरिएन्टल सोसायटी 13,268
4. विपाकसूत्र 2, पृ. 14, औपपातिकसूत्र 30,31, पृ. 117,132, उद्धृत जैन जगदीश चन्द्र, जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज" पृ. 99

वैजयंती (हाथी के ऊपर लगाई जाने वाली पताका) क्षुरप्रमाला (उसको पहनाने की माला) आस्तरण (अंबारी के नीचे का गद्दा) और कुथ (झूला) आदि सामग्री हाथी को सजाने के लिए प्रयोग में लायी जाती है।[1] ध्वज, चँवर, शंख, घंटा, अंगराग, नक्षत्र, माला आदि से हर्षचरित[2] के अनुसार सजावट की जाती थी।

हाथियों की सज्जा के विषय में जो अंकन कलाकृतियों में मिलता है उससे स्पष्ट होता है कि हाथियों की पीठ पर मजबूत रस्सी से बंधा हुआ हौदा (कोश) होता था। हाथी के अगले पैरों के पास से पीछे तक कक्ष्य बँधी होती थी।[3] कभी-कभी कक्ष्याओं की कुछ पट्टियाँ (रस्सियाँ) हाथी को सूँड़, पूँछ तथा मस्तक पर भी बंधी रहती थी।[4] दो घंटे हाथियों के दोनों कानों से दोनों ओर लटकते बाँधे जाते थे।[5] धातुओं के छल्ले भी कभी-कभी उनके पैरों में पहनायें जाते थे।[6] हाथियों की पीठ पर गद्देदार एवं अलंकृत कुथा होता था, जिसके चारों किनारें पर कभी-कभी फुल्ले लगा दिए जाते थे[7] उनको हाँकने एवं नियंत्रण में रखने के लिए महावत को अंकुश से युक्त

---

1. अर्थशास्त्र (कांगले द्वारा संपादित) भाग 1, 2.32.11, 12, 13 व 14
2. अग्रवाल, वी.एस., हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ. 40
3. बरुआ, बी.एम. भरहुत, चित्र 148-अ, मार्शल, जे. एन्ड फूशे ए., दि मानुमेन्ट्स ऑफ सांची, फलक 44, दास, रायकृष्ण, "टेराकोट्टा कौशाम्बी, जनरल ऑफ उत्तर प्रदेश हिस्टोरिकल सोसायटी जिल्द 18 पृ.96 फलक
4. बरुआ, बी.एम. भरहुत चित्र 148
5. बरुआ, बी. एम., भरहुत, चित्र, 138, 148, काला, एस.सी., भरहुत वैदिक, फलक 17, मैसे, सांची ऐंड इट्स रीमेन्स फलक 6 चित्र 1, फलक 7 चित्र 1, फलक 17,21 चित्र 1
6. बरुआ, बी.एम. भरहुत चित्र 148-अ
7. बरुआ, बी.एम., भरहुत चित्र 9-अ, 101,138, मैसे, एफ. सी., सांची ऐन्ड इट्स रीमेन्स फलक 17

दिखाया गया है।[1] सवारी व युद्ध-भूमि दोनों में हाथियों को प्रयुक्त किया जाता था।[2]

भूमि :

धूल, कीचड़, जल और नरसल मूंज की जड़ से युक्त तथा गोखुरों से रहित एवं बड़े-बड़े घने वृक्षों से रहित भूमि हस्त्यारोही के लिए अति उत्तम होती है। ऐसा अर्थशास्त्र में उल्लिखित है।[3] मर्दन करके तथा तोड़ने योग्य वृक्षों से संकीर्ण, शस्त्रयुक्त गम्य पर्वतों वाली विषम ऊंची-नीची भूमि को हाथियों के योग्य कामन्दनीतिसार के अनुसार समझना चाहिए।[4]

कार्य :

"अपनी सेना के आगे-आगे चलना, पहले से तैयार न हुए मार्ग एवं निवास, घाट आदि को बनाना, भुजाओं के समान शत्रु-सेना को तितर बितर करना, नदी की गहराई को बताने के लिए उसके भीतर प्रवेश करना, पंक्ति में खड़ा होकर शत्रु के आक्रमण को रोकना, इसी प्रकार मार्ग में चलना, घने जंगलों तथा शत्रु की सेना में घुसना, शत्रु के पड़ाव में आग लगाना और अपने पड़ाव में लगी आग को बुझाना, अपनी बिखरी हुई सेना को संगठित करना, शत्रु की संगठित सेना को तितर बितर करना और शत्रु की सेना को कुचलना, शत्रु के परकोटे, प्रधान द्वार आदि को ध्वस्त करना" आदि सभी कार्य अर्थशास्त्र के अनुसार हस्ति-सेना के हैं।[5]

जाते समय प्रथम सम्मति कर अग्रगामी होना, वन और दुर्गम स्थल में प्रवेश कर जाना, जहाँ पर मार्ग नहीं है वहाँ पर मार्ग बना देना, नदी समूहों के घाट उतरने लायक कर देना, संगठित हुइ सेना को छिन्न-भिन्न कर देना तथा छिन्न-भिन्न हुई सेना को घेर कर एकत्रित कर देना, परिखा और द्वार को तोड़ना आदि कामन्दक नीतिसार के अनुसार हस्ति-सेना के कार्य है।[6]

---

1. मैसे, एफ.सी., सांची एन्ड इट्स रीमेन्स फलक 6 चित्र 1
2. मैसे, एफ.सी., सांची एन्ड इट्स रीमेन्स फलक 20
3. अर्थशास्त्र कांगले द्वारा संपादित भाग 1, 10.4.9
4. कामन्दनीतिसार 19/14
5. अर्थशास्त्र (कांगले द्वारा संपादित) भाग 1, 10.4.14
6. कामन्दनीतिसार 13/1-3

नौ सेना :

नौ-सेना का उल्लेख प्राचीन भारत में किसी ग्रन्थ में अलग से नहीं किया गया है। परन्तु साहित्य के अध्ययन के स्पष्ट होता है कि विजय एवं व्यापार के लिए समुद्रपोतों का उपयोग होता था। वैदिक काल में भारतवासी नौकाओं के माध्यम से समुद्र पार देशों के व्यापार करने लगे। व्यापार में प्राप्त धन सुरक्षा के लिए उन्हें युद्ध भी करने पड़ते थे। कभी कभी राजनीतिक कारणों से युद्ध अनिवार्य हो जाता था। आजकल की भांति जल एवं थल में लड़ाइयां होती थी ऋग्वेद[1] के एक मंत्र में कहा गया कि तुग्र नामक सम्राट ने अपने भुज्यु नामक पुत्र को एक बड़ी सेना और असंख्य जहाजों का बेड़ा देकर शत्रु पर हमला करने के लिए भेजा किन्तु भुज्यु के पहुचते ही शत्रु ने इन पर ऐसा हमला किया कि उस समुद्री युद्ध में भुज्यु का पराभव हो गया। इस पराभव के भुज्यु का जहाज टूट जाने के कारण सब सैनिक डूबने लगे। उस समुद्र का कोई आदि अंत नहीं था, न उसमें ठहरने के लिए कहीं स्थान था और न उसमें कोई पकड़कर लटकाने की वस्तु थी। ऐसे अथाह महासमर में भुज्यु डूब रहा था। उनके इस विनाश की सूचना पर अश्विदेव वहां पहुचे और अपनी सौ बल्लियों वाली नौका पर बैठाकर तुग्र की राजधानी में उन लोगों को पहुचा दिया।[2] एक अन्य मंत्र मक प्लव नामक नौका के दो पांवों का उल्लेख है, जिसके कारण झंझावतों का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता था। वैदिक साहित्य के इन उद्धरणों से यह अनुमान किया जा सकता है कि अश्विदेव द्वीपों में रहने वाले महान व्यापारी थे और उनके राजा तुग्र के पास अपने राज्य की सुरक्षा के लिए जल-पोत थे। समुद्र में चलने वाले ये जहाज हवा के वेग से समुद्र के पानी को काटते हुए चलतें थे। सातवेलकर का विचार है कि पानी में, समुद के चलने योग्य कला यंत्र की योजना इन जहाजों में थी, यही इनकी विशेषता है।[3]

रामायण युग में नौ सेना का अस्तित्व था ऐसा विद्वानों का मानना है। अयोध्या कांड में हमें निषाधराज की सुदृढ़ नाविक सेना का पता चलता है।[4] श्रृंगवेरपुर के

---

1. ऋग्वेद 1.116.3।
2. ऋग्वेद 1.116.5।
3. सातवेलकर, प. श्रीपाद दामोदर, वेद परिचय, पृ.169।
4. पाण्डे, रामर्दन, प्राचीन भारत की संग्रामिकता पृ.53।

गुहा राज के पास अनेक नावे थी। भरत की अक्षौहिणी-सेना देखकर गुहा राज ने पांच सौ नावों को घाटों पर स्थित रहने की आज्ञा दी थी। प्रत्येक नाव पर 100-100 सशस्त्र नौ जवानों को युद्ध के लिए तैयार रहने का आदेश मिला। इस प्रकार 50000 नौ सैनिको का पता चलता है।[1] हनुमान के लंका दहन के पश्चात दुर्मुख नामक राक्षस रावण द्वारा डाटे जाने पर कहता है कि वह समुद्र में युद्ध करने के लिए तैयार है।[2]

महाभारत को मैं सेना को सेना के आठ अंगों के अन्तर्गत गिना गया है।[3] सामरिक प्रयोजन के संदर्भ मेंजलपोत के प्रयोग के बहुत वर्णन मिलते है। महाभारत की रचना के पूर्व भारतीय राजा-पुरुरवा, स्वर्गप्रस्थ, चन्द्रशुक्ल आवर्तन रमणक, मन्दहरिण, पांच जन्य, सिंघल, लंका रोमकपतन, सिंहपुर, जम्बूद्वीप एवं प्लाक्षादि द्वीप के अधिपति थे।[4] यदि इन सब द्वीपों से यातायात का संबंध नौ सेना से नहीं होता तो जम्बूद्वीप अर्थात भारतवर्ष का राजा दूसरे द्वीपोपर अपना अधिपत्य कैसे स्थापित करता। सभापर्व के दिग्विजय प्रसंग में भी यह उल्लेख है कि अर्जुन ने शाकल आदि सप्तद्वीपों के अधिपातियों को, सहदेव ने सागर द्वीपवासी म्लेच्छ राजाओ को, नकुल को युद्ध में परास्थ किए थे।[5] अर्जुन जब समुद्र की खाड़ी में स्थित निवास कवचों के साथ युद्ध करने के लिए समुद्र में गए थे। तो उन्होने पर्वत सदृश उर्मिमालाओ के बीच असंख्यरतन पूर्व नौकाएं देखी थी।[6] हरिवंश के विष्णुपर्व में वृष्णवंशियो की तरह तरह नौकाओ का वर्णन किया गया है।[7] इन विवरणों से ऐसा लगता है कि नाव या जलपोत की सहायता के बिना यह विजय असंभव होती महाभारत में यंत्र युक्त नावों का उल्लेख है जो वायु वेग और लहरों के थेपड़ो का सामना करने में समर्थ थी।[8]

---

1. रामायण 2/847-8 ।
2. रामायण युद्धकांड, 8/8 ।
3. शांति पर्व 59/41 ।
4. आदि पर्व 75/19
5. सभापर्व 26/6,31/66,32/16,53/16-17
6. शल्यपर्व 3/5 ।
7. हरिवंश-विष्णु 147 वां अंक
8. आदि पर्व 148/4-5,139/5 ।

नौकाओं का प्रयोग मनु के अनुसार युद्ध के लिए किया जाना चाहिए। मनु ने मत व्यक्त किया है कि जहां गहरा जल हो वहां नावों द्वारा युद्ध करना चाहिए।[1] कामंदकने नीतिसार में जल सेना का उल्लेख करते हुए कहा कि कि अपनी छावनी निवास, जल सेना, भार ढोने की सामग्री, धान आदि की विशेष प्रयास से रक्षा करनी चाहिए।[2] संभव है कि ये व्यापारी अपने धन की रक्षा के लिए नौ सेना का उपयोग करते रहे है। सिकन्दर के आक्रमण के पहले सिन्धु के समुद्र तटीय नगरों के निवासी समुद्र में समुद्री भागों से जाने वाले जहाजों की सहायता, से डकैती डालने का अड्डा बनाये हुए थे। स्ट्रैबो के अनुसार रिग्रीस नदी में शिलाखण्डों को रखकर इसके प्रवाह तथा जलपोत संचार को अवरुद्ध कर दिया गया था।[3] सिकन्दर अपने भारतीय भूमियान में नौ सैनिक युद्ध किया था। क्योंकि उस समय क्षत्रिय लोग नाव का निर्माण एवं का संचालन भी करते थे। सिकन्दर पंजाब के गण राज्यों की लगभग 8 से 20 हजार जहाजों बेड़े की सहायता से नौ सेनापति नियार्कस सिन्धु नदी से ईरान की ओर लौटा था।[4] कौटिल्य ने यद्यपि व्यूह रचना के प्रसंग में चतुरंग बल का ही वर्णन किया है, तथापि नवाध्यक्षों को नियुक्त करने का उपदेश दिया है। क्योंकि यह शत्रुओं व जल दस्युओं की नावों से नष्ट करने में समर्थ होता था।[5] "कौटिल्य के इस मत की पुष्टि मेगस्थनीज के मत से भी होती है। मेगस्थनीज के अनुसार सेना के छः विभागों में एक विभाग नौ सेना का होता था।[6] एरियन , कर्टियस व डायाडोरस तथा टालमी क्रमशः 800 जहाज, 10,000 हजार, तथा दो हजार जहाज चन्द्रगुप्त की सेना मे थे। इन सब प्रमाणों के आधार पर स्मिथ महोदय का कथन है कि चन्द्रगुप्त जैसे शासक की वजह से नौ सेना का

---

1. मनुस्मृति 7/192।
2. कामंदकनीति सार 16/39।
3. स्ट्रैबो, ज्याग्राफी 16/7, एरियन 7/7।
4. दीक्षीतार, वी. आर., मौर्यन पालिटी, पृ. 367-368।
5. अर्थशास्त्र, (कांगले द्वारा संपा.) भाग 1,2.28.14 व 15।
6. फ्रेगमेंटस 34, पृ. 88, मैक्रिण्डिल एंशियेंट इंडिया पृ. 218।

प्रादुर्भाव हुआ।[1] अशोक के शिला लेखों ज्ञात होता है कि उसका सीरिया मिश्र, मैसोडोनिया आदि देशों से राजनीतिक संबंध था।[2] इस आधार पर विद्वानों ने मत व्यक्त किया है। कि दूर देशों से संबंध रखते हुए विशाल सामुद्रिक बेड़ा तथा सामुद्रिक सेना अवश्य रही होगी।

पहली और दूसरी शताब्दी ई.पू. के प्राचीन शिल्प कला में अंकन से भी इस बात की पुष्टि होती है। भरहुत के स्तूप पर अश्वों से खींचे जाते हुए रथ, नावें, बैलगाड़ियाँ, पुरानी शैली की तलवारों तथा पदातियों का जूलूस अंकित है।[3] सातवाहन नरेश पुलमायी के शासन काल के प्रचरित कतिपय मुद्राओं पर दो मस्तूलों वाले जहाजों का अंकन किया गया है।[4] कुछ विद्वानों का मत है कि इन सिक्कों का प्रचलन पुलयायी अपने नौ सेना की विजय के उपलक्ष्य में किया होगा। गुप्त कालीन अभिलेखों से उनके कई नौ सेना संग्राम का अनुमान लगाया जा सकता है। प्रयाग-प्रशास्ति[5] में समुद्रगुप्त को अनेक द्वीपों का विजेता बतलाया गया है जिसमें सिंहल द्वीप भी सम्मिलित है। यदि उसकी इन विजयों पर विश्वास किया जाय तों बिना नौ सेना की शक्ति की कल्पना किए उसकी यह विजय असंभव प्रतीत होती है। नौ सेना की प्रमाणिकता जीवित गुप्त द्वितीय के एक अभिलेख से होती है। उसके देवबनार्क अभिलेख से ज्ञात होता है कि नौ सेना, पैदल सेना, अवश्सेना व हस्ति सेना के सुदृढ़ संगठन के कारण ही असका शिविर अजेय था।[6] अफसढ़ अभिलेख के अनुसार आदितय सेन ने कामरूप नरेश सुस्थिर वर्मन पर नौ सेना के द्वारा ही विजय प्राप्त की थी।[7] विनय गुप्त के गुनैगर ताम्र पट्टाभिलेख में जहाजों

---

1. स्मिथ, वी. ए., अर्ली हिस्ट्री आफ इंडिया, पृ. 133।
2. पाण्डे, राजबली, अशोक के अभिलेख-अशोक का तेरहवां अभिलेख।
3. कनिंघम, ए दि स्तूप आफ भरहुत, फलक संख्या 22
4. स्मिथ, वी. ए., कैटलाग आफ क्वायंस इन दि इंडियन म्यूजियम, कलकत्ता जिल्द 1, फलक 5, सिक्का सं. 25 पृ. 22 द्रष्टव्य फलक 11।
5. कार्पस इन्सक्रिपशंस, इन्डिकेरम, 3 पृ. 6 एक
6. कार्पस इन्सक्रिपशंस, इन्डिकेरम, 3 पृ. 217
7. इपिग्राफी इंडिका, अफसढ़ अभिलेख, जीवित गुप्त

का वर्णन है परन्तु उसमें रथ सेना का कोई उल्लेख नहीं किया गया है।[1] इन उपर्युक्त प्रमाणों से छठी शताब्दी ई. तक की नौ सेना की प्रमाणिकता सिद्ध होती है। बाद के काल में भी हमें नौ सेन उल्लेख मिलता है।

विष्टि का उल्लेख सर्वप्रथम महाभारत में प्राप्त होता है।[2] चतुरंगिणी सेना को रसद सामग्री पहुचाना, यातायात के साधन उपलब्ध कराना तथा वाहनों में प्रयुक्त जानवरों की सेवा-सुश्रुषा के निमित्त विशेष प्रकार के सेवकोंकी आवश्यकता पड़ती थी। इन्हीं सेवकों को विष्टि नाम से सम्बोधित किया गया है। इस विष्टि विभाग का प्रत्यक्ष रूप से उल्लेख रामायण तथा वैदिक साहित्य में नहीं प्राप्त होता है। लेकिन यदि हम उपरोक्त कर्तव्यों के संदर्भ में विचार करे तो ये सेवक हमे वैदिक काल से ही परोक्ष रूप से प्राप्त होने लगते है। युद्ध के संदर्भो में वैदिक साहितय में ऊटों[3] तथा नावों[4] का उल्लेख प्राप्त होता है, परन्तु उनके उललेख मात्र से यह नहीं कहा जा सकता कि उस समय उष्ट्र सेना थी। वास्तविकता तो यह है कि उस समय युद्ध बहुत अधिक मात्रा में होता था और संग्राम में सामान ढोकर ले जाने की आवश्यकता बहुत अधिक मात्रा में होती थी। अतः युद्ध के समय ऊट का प्रयोग समान ढोने के लिए किया जाता था। वैदिक आर्य हाथियों से परिचित हो गए थे और संभवतः उन हाथियों का उपयोग वे भारवाहक के रूप में ही करते थे। वैदिक साहितय में अनेक शिल्पियों का उल्लेख मिलता है, जो कि यान, अस्त्र-शस्त्र, मार्ग, पुल आदि बनाते थे।[5] इस प्रकार विष्टि विभाग अपने बीच रूप में वैदिक काल में ही प्राप्त होता है, जिसका महाकाव्यकाल, मौर्यकाल तथा, उत्तरोत्तर काल में विकास होता गया।

भारत की चित्रकूट यात्रा में रामायण कालीन सेना का विस्तार पूर्वक वर्णन दिया गया है। चतुरंगिणी सेना के अतिरिक्त भरत के साथ सेना की सहायता के लिए अनेक दलों का उल्लेख है। भूमि प्रदेशज्ञ दल, सूत्रकर्म, विशारद

---

1. इंडिया हिस्टारिकल क्वार्टली, 6 पृ. 53
2. शांति पर्व 59/41
3. ऋग्वेद 1/138/2
4. ऋग्वेद 5-4/9
5. पाण्डेय, रामदीन, प्राचीन भारत की सांग्रामिकता पृ. 85-87

दल, नाव आदि यंत्र प्रस्तुत करने वालों का दल, श्रमजीवी यंत्र कोविद, मार्ग रक्षक तथा वृक्षतक्षक दल, सूपकार दल, बांस का बोकला छीनने वाले तथा मार्ग ज्ञाता का दल, कुम्भांकार दल, पक्षी पकड़ने वालों का दल, क्रकचिक विशोचक ,सुधाकार, कम्बलकार, स्नापक, उष्णोदक तैयार करने वाला, धूपक, मधकार, धोबी, दर्जी, नट कैवर्तक भी भरत की सेना के साथ थे।[1] शांति कालीन सेना के साथ् आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए इन सब की अपेक्षा थी। सेना कूच के पूर्व,मार्ग ठीक करने के लिए,शिविर स्थापित करने के लिए नदी पर पुल बांधने के लिए,दुर्ग निर्मित करने के लिए, मार्ग में अवरोध करने वाले कूपवापी को भरने के लिए उपर्युक्त दलों के सभी व्यक्तियों को भेजा गया था।रथ के चलने योग्य बनाने के लिए इस दल ने विषम स्थान को सम किया, गड्ढो को भर दिया, नदियों में पुल बांध दिया, निर्जल स्थानों में कूप-वापी तैयार कर घाट बना दिया। कहीं कहीं युक्ति से फलदार पौधा लगा दिया गया। शिविर के चतुर्दिक खाईयों से परिवेष्टित दुर्ग तैयार किया गया, उन पर झण्डे फराये गए थे।[2] ये सब काम उपरोक्त दलों के व्यक्तियों ने सम्पन्न किया था। विष्टि का उल्लेख न होते हुए भी इन दलों के कार्यों को देखते हुए इनकों हम विष्टि विभाग के अन्तर्गत ही रख सकते है।

महाभारत में विष्टि विभाग को सेना के अष्टांग के अन्तर्गत स्पष्ट रूप से रखा गया है। कूच करती हुई पाण्डव-सेना के अतिरिक्त और भी बहुत से छकड़े, दूकाने, वेशभूषा के सामन, सवारियों, सामान ढोने की गाड़ी, एक हजार हाथी, अनेक अयुत घोड़े, अन्य छोटी मोटी वस्तुएं स्त्रियों, कृश एवं दुर्बल मनुष्य, कोश संग्रह और उनके ढोने वाले लोग कोष्ठागार आदि सब कुछ संग्रह करके युधिष्ठिर धीरे धीरे गज सेना के साथ यात्रा कर रहे थे।[3] एक अन्य स्थल पर कुरूक्षेत्र की ओर जाती हुई पाण्डवों की सेना के पीछे कोश, अस्त्र-शस्त्र तथा यन्त्रादि से लदी हुई अनेक प्रकार की गाड़ियों रथ आदि तथा चिकित्सक आदि का वर्णन है।[4]

---

1. रामायण, अयोध्या काण्ड, 80/1-3।
2. रामायण, अयोध्या काण्ड, 80/5-20।
3. महाभारत, उद्योग पर्व 196/26-27।
4. महाभारत, उद्योग पर्व, 151/58-59।

पाण्डवों के शिविर में वेतन भोगी प्रवीण शिल्पियों की अधिक संख्या थी, इन शिविर में सभी प्रकार के आयुधों, पर्याप्त जल एवं पेयपदार्थों, मनुष्यों तथा पशुओं के खाद्य पदार्थों मधु, मक्खन, लाह के साथ अन्य अनेक वस्तुओं का संग्रह किया गया था।[1] दुर्योधन की सेना के साथ भी रथों के पुनर्निर्माण के लिए अनेक समान रथों को आच्छादित करने वाले व्याघ्रादि के चर्म-वरुथ, तरकश, भाले, तेल, घी, गुड़, रस्सी-बालू, विषाक्त सर्पों से भरा पात्र, जलउठाने वाली वस्तुएं, पिचकारी, पानी, अग्नि प्रज्वलित करने वाली अन्य वस्तुएं और युद्ध के विभिन्न अस्त्र-शस्त्रों को ले जाने वाले दलों आदि का वर्णन पाते हैं। ये दल विष्टि भाग से ही संबंधित थे। इस विभाग का प्रमुख कार्य सैनिक आयुधों की पूर्ति करना था।[2] संभवतः घायल सैनिकों तथा पशुओं को भी युद्ध स्थल से शिविर स्थल तक ले जाने का कार्य इन्हीं लोगों का था।

सेना के छः विभाग चन्द्रगुप्त मौर्य के थे। चतुरंगिणी सेना के अतिरिक्त अन्य दो नौ सेना व विष्टि विभाग थे। मेगस्थनीज ने इनको बैल गाड़ियों आदि के द्वारा भोजन सामग्री तथा अन्य सामानों को ढोने वाला विभाग कहा है।अन्य सैनिक विभागों की भांति विष्टि विभाग पर नियंत्रण करने के लिए पांच सदस्यों की एक समिति होती थी।[3] बैलगाड़ियों के अध्यक्ष के साथ यह समिति सम्पर्क रखती थी। बैलगाड़ियों का प्रयोग युद्ध सामग्री, सैनिकों केलिए भोज्य पदार्थ और पशुओं के लिए चारा तथा अन्य सैनिक आवश्यकता की वसतुओं की आपूर्ति करने के लिए किया जाता था। मेगस्थनीज के विवरणों की पुष्टि कौटिल्य के अर्थशास्त्र से भी होती है। सैनिक शिविर स्थापित करना, सैनिक मार्ग, नदी के पुल, बांध, कुएं, घाट आदि तैयार करना, घास आदि उखाड़कर मैदान साफ करना, युद्ध के यंत्र अस्त्र-शस्त्र आदि युद्धोपयोगी समान तथा हाथी, घोड़ों के लिए घास ढ़ोना, उनकी रक्षा का प्रबंध करना, युद्ध भूमि में कवच, अस्त्र-शस्त्र तथा घायल आदि सैनिकों को उचित स्थल पर ले जाना,[4] ये सभी कार्य कौटिल्य के अनुसार

---

1. महाभारत, उद्योग पर्व, 152/12-14।
2. महाभारत, उद्योग पर्व, 155।
3. फ्रैग्मेंटस, 34 पृ. 88।
4. अर्थशास्त्र, कांगले द्वारा संपादित भाग1, 10.4.17

विष्टि नामक कर्मचारी के हैं।

गुप्तकाल में एक अधिकारी को रणभाण्डागाराधिकरण[1] कहा गया है। स्पष्ट है कि इस अधिकारी का संबंध युद्ध सामग्री के संग्रह और वितरण से था। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि विष्टि विभाग का सम्पूर्ण प्रबंध यही अधिकारी करता था। युद्ध के अयोग्य सैनिकों की नियुक्ति परिवहन विभाग में करने का आदेश शुक्राचार्य देते हैं। शुक्राचार्य के अनुसार बुद्धिमान राजा अशिक्षित, असार, नवीन भर्ती की हुई सेना साई की भांति अत्यंत लघु मानी जाती है। अतः उसे युद्ध के अतिरिक्त अन्य कार्यों में आवश्यकतानुसार नियुक्त करना चाहिए।[2] इन सब विवरणों से ऐसा लगता है विष्टि विभाग मुख्य सेना के सहायक के रूप में कार्य करती थी।

युद्ध सामग्री ढोने के लिए हाथी घोड़े श्रेष्ठ माने जाते थे और वर्षाकाल को छोड़कर शेष समयों में सामग्री ढोने के लिए सबों में श्रेष्ठ बैलगाड़ी ही मानी जाती थी।[3] भारवाहन के निमित बैलों और खच्चरों का विशेष प्रयोग शुक्राचार्यके अनुसार होना चाहिए। भारलदी गाड़ियों को बैल खींचते थे और खच्चर अपनी पीठ पर भारवहन करते थे। इसके अतिरिक्त सेना में सेवा-सुश्रुषा आदि करने वाले लेखक, समाचार वाहक आदि भी होना चाहिए। सेना में जिन पशुओ का युद्धस्थल अथवा भारवाहन में उपयोग होता था उनके पालन पोषण, सेवा-सुश्रुषा, चिकित्सा आदि का विशेष ध्यान रखा जाता था। बाण ने भी परिवहन अथवा विष्टि विभाग के कर्मचारियों तथा उनके कार्यों का विवरण हर्षचरित में दिया है।[4] इससे ऐसा लगता है छठी शताब्दी ई. तक सेना के सहायक के रूप में विष्टि विभाग कार्य करता था।

दिए गए उपरोक्त विवरणों से ऐसा लगता है कि प्राचीन भारतीय सेना के इतिहास में प्रबन्धात्मक सेवा के महत्व को भाली भांति वैदिक काल से ही समझ लिया गया था, जिसके कारण सैन्य अभियान के समय सेना के

---

1. मुकर्जी, राधा कुमुद, दि गुप्ता एम्पायर, पृ. 80।
2. शुक्रनीति 4/7/117-118।
3. शुक्रनीति 4/7/176-7
4. अग्रवाल, वासुदेव शरण, हर्ष चरित एक सांस्कृतिक अध्ययन पृ. 196।

लिए आवश्यक समान भेजने के निमित्त एक पृथक विभाग का प्रबन्ध किया गया था। जिसे विष्टि-विभाग, परिवहन या बाय विभाग कहते थे। प्राचीन काल में इस विभाग का महत्व इतना बढ़ गया था विजय की इच्छा से शत्रु पर विजय प्राप्त करने के लिए इस विष्टि विभाग को सर्वप्रथम नष्ट करना आवश्यक समझा जाता था। बिना इस युद्ध कला के शत्रु पर विजय प्राप्त करना अनिश्चित होता था। दुर्ग-युद्ध में घेराबन्दी नीति से आक्रमण करने का उद्देश्य प्राय: यही रहता था कि दुर्ग के अन्दर बाहर से किसी प्रकार की सामग्री अथवा सहायता न प्राप्त हो सके। फलस्वरूप रसद सामग्री एवं अन्य युद्ध संबंधी सामग्री के अभाव में विजेता के समक्ष शत्रु आत्मसमर्पण कर देता था।

चिकित्सा बल का उल्लेख धनुर्वेद[1] में मिलता है प्राचीन भारत में सैन्य चिकित्सा विज्ञान उन्नत अवस्था में था। चिकित्सा सेनाए युद्ध स्थल पर या युद्ध स्थल के निकट स्थापित शिविरों में, घायल सैनिको, अधिकारियों तथा योद्धाओ को सुलभ थी। सुश्रुत संहिता चिकत्सीय क्षतक्रिया का, प्राचीन काल का महत्वपूर्ण ग्रन्थ है जिसमें सैन्य चिकित्सा विज्ञान के कतिपय पहलुओ पर विचार किया गया है। इसके अतिरिक्त वैदिक साहित्य, कौशिक सूत्र वाल्मीकि रामायण, महाभारत, कौटिल्य के अर्थशास्त्र भाष के नाटकों तथा अन्य परवर्ती ग्रन्थों से इस विषय में प्रचुर सामग्री मिलती है।

छठी शताब्दी ई.पू. पूरे भारत में छोटे छोटे जनपद विद्यमान थे राजनीतिक एवं सैनिक महत्वाकांक्षा के कारण परस्पर एक दूसरे के मध्य युद्ध हुआ करता था जिसका स्वरूप बहुत ही भयानक होता था। युद्ध काल की अवस्थाओ में सैन्य चिकित्सा विज्ञान विकसित होता रहा है। प्राचीन काल में आजकल की भांति तोप, मशीनगन, एटमबम आदि से युद्ध न होकर धनुष-बाण तलवार, भाला, गदा आदि से युद्ध होते थे। इसलिए इन अस्त्रशास्त्रो से घायल हुए सैनिक का चिकित्सा प्रबंध किया जाता था। युद्ध स्थल पर घायल सैनिकों की चिकित्सा आयुर्वेद पद्धति से की जाती थी। प्राकृतिक उपायों[2] के द्वारा जो चिकित्सा होती थी। उसे दैवी चिकित्सा के अन्तर्गत रखा जा सकता है। वन औषधियों के द्वारा जो

---

1. शल्य पर्व 6/14।
2. महाभारत, शल्यपर्व 6/14।

चिकित्सा की जाती थी उसे बन औषधि चिकित्सा कहते थे। लक्ष्मण की मृतसंजीवनी वन औषधि की चिकितसा की तीसरी पद्धति में आवश्यकता अनुसार घायल सैनिक के अंग में कांट छांट शल्य क्रिया के द्वारा चिकित्सा की जाती थी, जिसे शल्य चिकित्सा कहते है।

शल्य चिकित्सा का नाम ही सैन्य विज्ञान पर आधारित है।शल्य बाण को कहते हैं, बाण द्वारा प्राचीन काल मे घायल व्यक्तियों का उपचार किया जाता था। जिसमें बाणों को शरीर से निकालने तथा घायल अंग को ठीक करने के लिए चीड़ फाड़ करना पड़ता था। इसलिए बाण से संबंधित इस विधि विशेष से शल्य चिकित्सा के नाम से अभिहित किया जाता है।[1]

संग्राम में अस्त्रशस्त्र के प्रहार से घायल हुए सैनिकों की चिकित्सा का भी प्रबंध था जो कि युद्ध प्रारंभ होने के पश्चात ही प्रारंभ किया जाता था। युद्ध स्थल पर महाकाव्य काल में चार प्रकार की औषधियों का प्रयोग करते थे।– विशल्यकरणी, सवर्णकरणी, मृतसंजीवनी तथा संधान करणी।[2] लक्ष्मण मृतसंजीवनी से ठीक हुए थे।[3] शेष घायल वानर सैनिक चारों प्रकार की औषधियों से ठीक किए गये थे।[4] इसके अतिरिक्त कौटिल्य ने भी एक मूर्च्छाहार औषधि का भी उल्लेख किया है[5] इसके अतिरिक्त अथर्ववेद में बाण द्वारा रक्तस्राव रोग की चिकित्सा मुञ्ज द्वारा बताई गई है।[6] इसी खून के बहाव को रोकने के लिए अथर्ववेद[7] में सैकड़ों औषधियों का संकेत है। एक स्थल पर रोहिणी औषधि द्वारा त्वक, मांस अस्थि एवं मज्जा जैसी धातुओ के रोपण का उल्लेख है।[8] युद्ध स्थल में आघात तथा आघात के द्वारा व्रण बन जाने पर इसी रोहिणी[9] के प्रयोग का निर्देश है। एक अन्य

---

1. महाभारत, कर्ण पर्व 40 ।1 ।
2. रामायण, 6/74/33,5/102/21-23, महाभारत पर्व, 23/4 ।
3. रामायण, 6 /50/27-30 ।
4. रामायण 6/74/34 ।
5. अर्थशास्त्र(कांगले द्वारा संपादित) भाग1,14.4.9
6. अथर्ववेद 1/2/4 ।
7. अथर्ववेद 2/3/2 ।
8. अथर्ववेद 4/12 ।1,3,4,5 ।
9. अथर्ववेद 4/12/2,7, ।

स्थल पर खून रोकने के लिए विषाण का अजश्रृंगी औषधि का उल्लेख है। व्रण के शोधन एवं रोपण के लिए जल के प्रयोग का विधान है।[1] एक स्थल पर रूद्र से कही गई है कि वह सेना द्वारा प्रयुक्त शास्त्रों के विष कापदों से हमारी रक्षा करें।[2]

अथर्ववेद एवं सुश्रुत[3] में दुंदुभि: पताका एवं तोरण पर अनेक विष औषधियों के लेप का निदेश है। कौषिक्य सूत्र के द्वितीय अध्याय में सांग्रामिक प्रकरण, संभरण, मोहन प्रकरण जयं कर्म एवं पर सेना विद्वेषण जैसे शीर्षकों के अन्तर्गत अनेक औषधियों का उललेख है, जो संग्रामक व्रणों की चिकित्सा में प्रयुक्त होती थी।

इन अध्ययनों के पश्चात यही ज्ञात होता है कि शल्य-तन्त्र अन्य चिकित्सा विज्ञान की मुख्य विधि थी। शल्य चिकत्सकों को कृत्रिम अंग लगाने विशेष में दक्षता प्राप्त थी। कृत्रिम अंगो के उपयोग पर ऋग्वेद में एक स्थान पर लिखा है कि युद्ध भूमि में खेल नामक राजा के साथ गयी हुई विवला का पैर टूट गया था पर अश्विनी ने कृत्रिम पैर के रूप में लोहे की पैर लगा कर ठीक कर दिया[4] रामायण के एक स्थल पर कहा गया है कि गौतम इन्द्र के कपट वेष को देखकर क्रोधित हो गए और उनके अण्डकोष को शाप द्वारा काटकर गिरा दिया तब देवताओ कीकृपा से मेढ़ के अण्डकोष को लाकर लगाया गया।[5] शिव द्वारा गणेश का सिर क्रोध वंश काट डालने पर शल्य चिकित्सकों ने गज का सिर जोड़कर उनकी प्राण की रक्षा की महा भारत में भीष्म पितामह के घायल हो जाने पर शल्य चिकित्सकों के द्वारा उपचार किया गया था। बुद्ध के समकालीन वैद्य जीवक ने शल्य क्रिया द्वारा कपाल में से दो कृत्रिमो को बाहर निकालना था।[6] इन तथ्यों से ऐसा लगता है कि प्राचीन काल में शल्य चिकित्सा चरम सीमा तक पहुच गई।[7]

---

1. अथर्ववेद 6/5/2।
2. अथर्ववेद 6/93/3
3. अथर्ववेद 5/81/7, सुश्रुत कल्प 6/4।
4. ऋग्वेद 2/116/15
5. रामायण, 1/48/27-29,1/49/6-10
6. सां.कत्यायन, राहुल, विनय-पिटक, हिन्दी अनु०, पृ269
7. हंटर सर विलियम, इम्पीरियल इंडियन गजेटेरियर इंडिया, पृ. 120।

प्राचीन भारत में चिकित्सक सामानत: भिषक पद से अभिहित किए जाते थे। ऋग्वेद में भी इसे भिषज ही कहा गया है।[1] विशिष्ट चिकित्सा के कारण चरक ने धवंतरीय, सुश्रुत ने शल्यहर्ता महाभारत में शल्योद्धरण कोविद जैसे पदों से उनको सम्मान दिया इन चिकित्सकों के तीन प्रमुख कार्य थे-राजा के अन्न पान की परीक्षा, आहत सैनिकों का व्रणोपचार तथा पशुओं की चिकित्सा। अश्वों की चिकित्सा में कुशल श्रीकृष्ण ने अश्वों के परिश्रम, थकान, वमन, कम्पन और घाव के सारे कष्टों को दूर किया।[2] इस प्रकार प्राप्त साहित्य के सर्वेक्षण से ज्ञात होता है कि प्राचीन भारत में सैन्य चिकित्सा विज्ञान उन्नावस्था में था।

गुप्तचर: दूत और गुप्तचर दोनों के कार्य क्षेत्र प्राचीन काल में अलग-अलग थे। गुप्तचर गूढ़ प्रतिनिधि होता था और दूत प्रकाश्य। गुप्तचरों को राजा के मंत्रिमंडल में ऋग्वैदिक काल में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। ऋग्वेद के अनुसार चर इस लोक में सर्वत्र भ्रमण किया करते हैं और प्राणियों के शुभाशुभ कार्यों को देखते हुए अपना ब्यौरा पूर्ण रखते हैं।[3] वे अपने स्वामी को सूचना दिया करते थे।स्पश नाम से वेदों में चर को सम्बोधित किया गया है। अपने स्पश समूह से घिरा हुआ ऋग्वेद के एक प्रसंग में वरुणदेव को बताया गया है।[4] गुप्तचर वरुण व अग्नि के पास कई है।[5] वरुण की चर व्यस्था का ही प्रमाण उनकी सर्वदर्शिता है। इन्हीं चरों के बल पर मनुष्य जो कुछ करते, सोचते या विचारते हैं, उनका ज्ञान वरुण को रहता है। पृथ्वी और आकाश तथा इनसे परे जो कुछ होता है, सब वरुण देखा करते है।[6] गुप्तचरों का राजा का नेत्र अथर्ववेद में कहा गया है।[7] मित्र व सोम के पास

---

1. ऋग्वेद 10.97.6.।
2. द्रोण पर्व,100।14-15, 99/36, अर्थशास्त्र 10.4.18.
3. ऋग्वेद 8/10।10।
4. ऋग्वेद 13/25/1।
5. ऋग्वेद 4/4/3, 1/24/13।
6. वैदिक इंडेक्स, जिल्द 2, पृ0 123।
7. अथर्ववेद 16/16/1।

अथर्ववेद के अनुसार गुप्तचर है।[1] महाकाव्यों में अनेक स्थलों पर स्पष्ट रूप से निर्देशित किया गया है कि राजा को अपने तथा शत्रु राज्य में गुप्तचरों को नियुक्त करना चाहिए। महाभारत[2] तथा रामायण[3] में कई स्थानों पर गुप्तचर नियुक्त करने का उल्लेख है। जैन ग्रन्थों के अनुसार शत्रु सेना की गुप्त बातों का पता लगाने के लिए गुप्तचर काम में लिए जाते थे। ये लोग शत्रु सेना में भर्ती होकर उनकी सब बातों का पता लगाते रहते थे। कुलवालय ऋषि की सहायता से राजा कूणिक वैशाली के स्तूप को नष्ट कराकर, राजा चेटक को पराजित करने में सफल हुआ था।[4] मनुस्मृति के अनुसार प्रतिदिन सांयकाल संध्योपासना के उपरांत राजा को चाहिए गुप्तचरों की बात को एकान्त में सुने।[5] राजा लोग नगर एवं राज्य का समाचार लाने के लिए गुप्तचरों की नियुक्ति पतंजलि के अनुसार करते थे। जिन्हे कर्णेजप या सूचक कहा जाता था।[6] विदेशी लेखकों ने भी भारतीय गुप्तचरों का उल्लेख किया है। एरियन ने लिखा है कि मौर्य काल में गुप्तचरों की भी एक श्रेणी हुआ करती थी। राजाओ या मजिस्ट्रेट द्वारा शासित मौर्य साम्राज्य के विभिन्न प्रांतों में ये गुप्तचर देखा करते थे कि कहां क्या हो रहा है। लोकतांत्रिक ढंग से शासित भागों में क्या हो रहा है.? इसकी सूचना भी राजा को गुप्तचर ही देते थे स्ट्रैबो ने इन गुप्तचरों को एफोरी या इन्सपेक्टर कहा है। उसके कथानुसार पूरे साम्राज्य की गति विधि पर दृष्टि रखने तथा राजा तक पूरी सूचना पहुचाने के लिए इन गुप्तचरों की नियुक्ति की जाती थी।[7] हेमचन्द्रराय चौधरी के अनुसार संभवतः एरियन के गुप्तचर

---

1. अथर्ववेद 8/61/3,9/73/4,उद्धृत मैकडोनल, वैदिक माइथालोजी पृ.23-24,दीक्षीतार,वी.आर. आर.,वार इन ऐश्येंट इंडिया पृo 351-52।
2. आदि पर्व -139/63।
3. युद्ध कांड- 29/16-21 |, 30 |1-2 |
4. आवश्यक चूर्णि 2 पृ. 174, उद्धृत {जैन जगदीश चन्द्र} जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ. 107।
5. मनुस्मृति 7/223-24।
6. महाभाष्य 2/2/13 पृ. 211।
7. मजुमदार, आर.सी., क्लासिकल एकाउंटस आफ इंडिया, पृ. 226।

तथा स्ट्रैबो के इन्सपेक्टर जूनागढ़ शिलालेख के राष्ट्रीय तथा अर्थशास्त्र के प्रदेष्टि या गूढ़ पुरुष के पर्याय थे।[1] कई श्रेणियों के इंसपेक्टर का उल्लेख स्ट्रैबो ने किया है। इनमें से एक नगर के गुप्तचर होते थे, जो वेश्याओं को अपना सहायक नियुक्त करते थे।[2]

गुप्तचरों को महत्वपूर्ण स्थान संगमकालीन दक्षिण भारतीय ग्रन्थों में प्रदान किया गया है। गुप्तचर संस्था को इस काल में राजा की पाँच संस्थाओं वाली सलाहकर समिति में से एक संस्था माना जाता था।[3] कुरल में उल्लेख मिलता है कि गुप्तचर एक प्रकार से राजा की आंख का कार्य करते थे। उनके माध्यम से राजा उन स्थानों को देख लेता था, जिन्हें आंखे भी देख नहीं सकती थी तथा जिसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती थी।[4] गुप्तचर को ओटर तथा गुप्तचर्या को ओट इस काल में कहा जाता था।[5] गुप्तचर्या संगम शासन व्यवस्था में स्थाई संस्था थी। इसे शांति काल में पदच्युत नहीं किया जाता था बल्कि युद्ध के समय इसकी विशेष भूमिका होती थी। नच्चिनार्क्किनियर के अनुसार जब गुप्तचर शत्रु दल की तरफ से सूचना ले आते थे उस समय उन्हें पुरस्कृत किया जाता था, किन्तु यह पुरस्कार जनता के सामने नहीं दिया जाता था।[6] ऐसा इसलिए संभवतः किया जाता रहा होगा जिससे जनता इन गुप्तचरों को पहचान न सके। इसी तरह जब सेंगुट्टुवन अपना इन उत्तरी अभियान प्रारंभ किया तो शत्रु देशों में अपने अनेक गुप्तचर भेजे थे। वे गुप्तचर दूतों से शीघ्र सूचनाएं एकत्र कर लेते थे।[7] इससे स्पष्ट होता है

---

1. चौधरीराम, हेमचन्द, प्राचीन भारत का राजनीतिक इतिहास पृ. 254।
2. मजूमदार, आर.सी., क्लासिकल एकाउंटस आफ इंडिया पृ. 268।
3. नुरैस्कोंजी, 510, दृष्टव्य सुब्रहमण्यन, एन., संगम पालिटी पृ. 101।
4. कुरल, 581।
5. तोलकाप्पियम, पोरूल, 58, दृष्टव्य सुब्रहमण्यन एन, संगम पालिटी पृ. 100।
6. तोलकाप्पियम पोरूल, 58, दृष्टव्य, सुब्रहमण्यन, एन, संगम पालिटि ।
7. सिलप्पदिकारम 25/11/173-76, दृष्टव्य, सुब्रहमण्यन, एन, संगम पालिटी ।

कि उत्तर भारतीय राज्यों के शासन की भांति दक्षिण भारतीय राज्यों में भी गुप्तचर व्यवस्था शासन का एक महत्वपूर्ण अंग थी।

गुप्तचरों की नौ कोटियां कौटिल्य ने बताई है- कापडक, उदास्थित, ग्रहपतिक, वैदहक, तापस, सत्री, तीक्ष्ण रसद और भिक्षुकी।[1] इनको पुनः कौटिल्य ने दो वर्गों में विभाजित किया है-संस्था और संचार अथवा अभ्यंतर चर और वाह्यचर। अर्थशास्त्र के अनुसार संस्था चर वे है जो एक ही स्थान पर कार्य करते है।[2] और संचार चर वे है जो घूम घूमकर कार्य करते है ।[3] संस्था गुप्तचरों की संख्या मनुस्मृति में पांच बताई गई है।[4] इन पांचों के वही नाम है जो अर्थशास्त्र में कौटिल्य ने दिया है।

संस्था गुप्तचर[5] के अन्तर्गत अर्थशास्त्र के कापटिक को रखा गया है। अतः कापटिक वह गुप्तचर होता है जो दूसरों के रहस्य को जानने वाला हो, प्रगल्भ हो तथा विद्यार्थी की वेशभूषा में रहने वाला है। यह मंत्रियों के सम्पर्क में रहता है और राजा व मंत्री के विरुद्ध किए जाने वाले अकल्याणकारी कार्यों का पता लगाकर मंत्री को सूचित करता है।

संस्था गुप्तचर में उदास्थित का उल्लेख आता है जो सदाचारी, बुद्धिमान तथा संयासी के वेश में रहता हो वह उदास्थित कहलाता है। यह कापटियों तथा पशुपालन कार्य करने वाले व्यापारियों के बीच संन्यासी के रूप में अपने विद्यार्थी -वेशधारी सहचरों के साथ निवास करता है तथा उनके दैनिक आचरण एवं व्यवहार संबंधी क्रिया कलापों की सूचना राजा को प्रेषित करता है।

संस्था गुप्तचर के संदर्भ में गृहपतिक का भी उल्लेख मिलता है। बुद्धिमान, पवित्र हृदय और गरीब किसान के वेश में रहने वाला गुप्तचर गृहपतिक कहलाता है। गृहपतिक को कृषि कार्य के लिए नियुक्त भूमि में जाकर उदास्थित गुप्तचर की भांति कार्य करना पड़ता है।

---

1. अर्थ शास्त्र (कांगले द्वारा संपा.) भाग1, 1.11.1.।
2. अर्थ शास्त्र 1.11.1.।
3. अर्थ शास्त्र 1.12.1.।
4. मनुस्मृति 7/154 ।
5. अर्थ शास्त्र 1.11.2 व 3।

बुद्धिमान, पवित्र हृदय, गरीब व्यापारी के वेष में रहने वाला गुप्तचर वैदेहक है जो संस्था गुप्तचर से संबन्धित है। उदास्थित गुप्तचर की भांति वैदेहक को व्यापार –कार्य के लिए नियुक्त भूमि में कार्य करना पड़ता है।

जीविका के लिए मुड़ाए या जटा धारण किए हुए राजा का कार्य करने वाला गुप्तचर ही तापास कहलाता है। ये नगर के समीप अपने ही समान वेषधारी शिष्यों के साथ रहते हुए शाकाहार अथवा हरित अन्न के आहार को खाते है तथ गुप्त रीति से अपनी रुचि के अनुसार भोजन करते है। इनके शिष्यगण यह प्रचार करते है कि यह प्रसिद्ध एवं पूर्व सिद्ध तपस्वी है। किसी कारण से कुपित लोगों को धन एवं सम्मान आदि देकर संतुष्ट करना, तथा जो बिना कारण कुपित हो तथा राजा से द्वेष रखते हो उनका चुपचाप वध करवाना तापास का मुख्य कार्य था।

संचार गुप्तचर[1] उनको कहते है जो घूम घूमकर कार्य करते हो । जो वाध्य चर कहलाते थे। संचार गुप्त चर के अन्तर्गत संती गुप्त चर होता था जो सामुद्रिक विधा, ज्योतिष, व्याकरण आदि अंगों का शुभाशुभ फल बताने वाली विद्या, वशीकरण, इन्द्रजाल, धर्मशास्त्र, शकुनशास्त्र कामशास्त्र, पाक्षीशास्त्र तथा ततसंबंधी नाचने –गाने की कला में निपुण होता था।

सती गुप्तचर की भांति तीक्षण गुप्तचर भी संचार गुप्तचर का कार्य करती थी। अपने देश में रहने वाले ऐसे व्यक्ति, जो हक के लिए अपने प्राणों की भी परवाह न करके हाथी, बाघ और साप से भी युद्ध में संकोच नहीं करते, उन्हें "तीक्षण" कहते हैं।

संचार गुप्तचर से भिक्षुकी भी सम्बन्धित होता था। आजीविका की इच्छुक, दरिद्र, विधवा, दबंग, प्रौग, ब्राह्मणी, रनिवास में सम्मानित प्रधान अमात्यों के घर में प्रवेश पाने वाली परिव्राजिका भिक्षुकी नाम की गुप्तचरी कहलाती थी, जो संन्यासी के वेश में खुफिया का कार्य करने वाली होती थी।

अन्य ग्रन्थों में भी अर्थशास्त्र में वर्णित मंत्री, तीक्षण, रसद व भिक्षुकी गुप्तचरों का उल्लेख हुआ है।

---

1. अर्थशास्त्र (कांगले संपा०) भाग 1, 1.12.1.।

रामायण[1] में अनेक स्थलों पर जटा बढ़ाए, दीक्षा लिए, सिर मुड़ाएं, गोचर्म या मृगचर्म धारण किए और नंग-धड़ंग तथा महाभारत[2] में गूँगे-अंधे और बहरे बने हुए गुप्तचरों का वर्णन हैं। जैन साधुओं को कुछ स्थल पर गुप्तचर समझकर गिरफ्तार करने का उल्लेख है।[3] परिव्राजक और तापसी का वेश धारण करने वाले गुप्तचरों का याज्ञवल्क्य स्मृति में उल्लेख मिलता हैं। जो दूसरे राज्य के वृतांत को अपने राजा को बताते थे। सँपेरे का रूप धारण करने वाले विराधगुप्त नामक गुप्तचर का मुद्राराक्षस में उल्लेख है, जिसे राक्षस ने शत्रु की गतिविधियों का पता लगाने के लिए कुसुमपुर भेजा था।[4] गुप्तचर ब्राह्मण, संन्यासी तथा तीर्थयात्री आदि वेशभूषा धारण किए हुए संगमकालीन दक्षिण भारतीय ग्रन्थों में भी उल्लिखित किया गया है। उन स्थानों पर भी इस वेश में जा सकते थे, जहाँ पर सामान्यतया दूसरे लोग नहीं जा सकते थे।[5] बालक, किसान, भिक्षुक, अध्यापक तथा बनचारी आदि वेश धारण करने वाले गुप्तचरों का कामन्दक नीतिसार में उल्लेख है।[6] इसके अतिरिक्त कामन्दक नीतिसार में जड़, मूक, बहरे, अंधे, चारण, बौने, कुबड़े आदि वेशधारी गुप्तचरों का उल्लेख है।[7]

उल्लिखित तथ्यों से यह स्पष्ट है कि विभिन्न वेशभूषा धारण करना गुप्तचरों द्वारा उचित था क्योंकि वे शत्रु-पक्ष की स्थिति, उसकी सेना आदि के विषय में आवश्यक सूचनाएं एकत्रित करके अपने राजा को देते थे। उन्हें अपना वेश बदलना ऐसा करने के लिए आवश्यक हो जाता था।

गुप्तचर पद पर महाभारत के अनुसार उसी को नियुक्त किया जाये जिसकी अच्छी तरह परीक्षा कर ली गई हो, जो बुद्धिमान हो, जो भूख प्यास और परिश्रम

---

1. सुन्दरकांड 4/15-16
2. उद्योगपर्व 192/62
3. उत्तराध्ययटीका 2, पृ. 46, उद्धृत (जैन जगदीश चन्द्र) जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज
4. मुद्राराक्षस, 2/11
5. कुरल, 587
6. कामन्दकनीतिसार 12/36
7. कामन्दकनीतिसार 12/42-46

करने की क्षमता रखता हो, जो अपने ही राज्य के भीतर निवास करने वाला हो, आदि।[1] रामायण के अनुसार विश्वासपात्र, शूरवीर, धीर एवं निर्भीक व्यक्तियों को गुप्तचर पद पर नियुक्त करना चाहिए।[2] चतुर, किसी बहकावें में न फंसने वाला तथा विश्वस्त पुरूषों को गुप्तचर पद पर नियुक्त करने का निर्देश आचार्य कौटिल्य ने दिया है।[3] स्ट्रैबो के अनुसार कार्यकुशल तथा अत्यन्त विश्वस्त लोगों को गुप्तचर के रूप में नियुक्त करना चाहिए।[4] कामन्दक नीति के अनुसार चर मृदुभाषी तथा शीघ्र गामी हो, प्रत्युत्पन्न गति वाला हो, इतनी योग्यता होनी चाहिए कि वह लोगों को मन की बात को जानने वाला हो, उसकी स्मृति शिक्तशाली हो तथा विपत्तियों को सहन करने की तथा कठिन परीश्रम करने की शक्ति रखता हो।[5] जो शत्रु तथा प्रजागण के व्यवहार को जानने में कुशल एवं यथार्थ बातों को सुनकर उन्हें ठीक-ठीक बताने वाले हो, आचार्य शुक्र के अनुसार ऐसे लोगों को गुप्तचर पद पर नियुक्त करना चाहिए।[6] गुप्तचर का मुख्य कार्य आधुनिक काल में अपराधों का पता लगाना है जबकि प्राचीन काल में इनका कार्य क्षेत्र अधिक व्यापक था। प्राचीन भारत के सभी राजनीति शास्त्र के प्रणेताओं ने राजा का एकमात्र कर्तव्य प्रजा की सेवा बतलाया है। इन गुप्तचरों का मुख्य कार्य था। प्रजा के कष्टों एवं पीड़ाओं का पता लगाकर राजा को समय-समय पर सूचना देना और प्रजा की सुख-शांति और शासन कार्य में बाधा पहुँचाने वालों की सूचना राजा तक पहुँचाना था। शास्त्री ने लिखा है कि वैदिक काल में चरों का कार्य दीवानी-फौजदारी मामलों में अर्थी-प्रत्यार्थी और साधिकों के वक्तव्यों की सत्यता की जाँच करना ही न था, बल्कि हानिकारक प्रवृत्ति वालों की गतिविधि का भी ध्यान रखना था। राज्य में अपराध करने वालों का ही नहीं, अपितु धार्मिक और सामाजिक व्यवस्था नष्ट करने वालों का भी पता लगाना गुप्तचर का कार्य

---

1. शांतिपर्व 69/8; आश्रमवासिक पर्व, 5/15
2. युद्धकांड 29/16-21
3. अर्थशास्त्र 1/7/11
4. मजूमदार, आर. सी., क्लासिकल एकाउंट्स ऑफ इंडिया, पृ. 268
5. कामन्दनीतिसार 12/25
6. शुक्रनीति, 2/189

था।[1] गुप्तचरों को राष्ट्र में घूमते रहना चाहिए तथा सभासद आदि के कार्यों एवं मनोभावों को ज्ञात कर राजा के पास समाचार पहुँचाते रहना चाहिए। ऐसा उल्लेख महाभारत में गुप्तचरों के कार्यों के विषय में आया है।[2] शत्रु और मित्र के सैनिकों की स्थिति, वृद्धि एवं क्षय का पता लगाकर राजा के पास इसकी सूचना भेजते रहना चाहिए।[3] कौटिल्य के अनुसार गुप्तचर का मुख्य कार्य अमात्यों एवं मंत्रियों की गतिविधियों पर दृष्टि रखना तथा उनके क्रिया-कलापों की सूचना निरन्तर राजा को पहुंचाना था।[4] सामान्य कर्मचारियों की गतिविधियों पर दृष्टि रखना, उनका ज्ञान प्राप्त करना, आदि भी गुप्तचर का कार्य था।[5] महाभारत से भी गुप्तचरों द्वारा राज्य कर्मचारियों पर दृष्टि रखने की पुष्टि होती है। [6] गुप्तचरों का कार्य नगरों एवं गाँवों में निवास करने वाली जनता के मनोभावों एवं गतिविधियों का पता लगाना, प्रजा राजा के किस कार्य से असंतुष्ट है, राज्य नीतियों के विषय में जनता की क्या सम्मति है, आदि की सूचना राजा के पास पहुँचाना था।[7] इन गुप्तचरों की नियुक्ति मात्र अपने राज्य में ही नहीं की जाती थी, अपितु अन्य राज्यों में शत्रुओं के गतिविधियों का पता लगाने के लिए भी की जाती थी। शत्रु, मित्र, उदासीन तथा मध्यम राज्यों में गुप्तचरों को अर्थशास्त्र के अनुसार भेजा जाता था।[8] गुप्तचरों का प्रमुख कार्य विदेशी राज्यों में विदेशी राज्य की सैनिक शक्ति, प्रमुख राजकर्मचारी, गुप्त भेद आदि के विषय में जानकारी प्राप्त कर अपने राजा को सूचित करना था। गुप्तचर का कार्य शत्रु के राज्यों में गुप्त भेदों का पता लगाने के साथ ही साथ राज्य एवं राजपरिवार के

---

1. शास्त्री, शाम, इवोल्यूशन ऑफ इंडियन पालिटी पृ. 23-24
2. शांति पर्व, 87/12
3. वन पर्व, 150/40
4. अर्थशास्त्र, (कांगले द्वारा संपादित) भाग 1, 1-12.7
5. अर्थशास्त्र 1.12.18
6. सभा पर्व 5/30
7. अर्थशास्त्र 1.12.22
8. अर्थशास्त्र (कांगले द्वारा संपादित) भाग एक 1.12.17

प्रमुख पदाधिकारियों एवं व्यक्तियों, अमात्यों और मंत्रियों आदि में वैमनस्य उत्पन्न करना, पारस्परिक फूट डालना, राजा केविरूद्ध प्रोत्साहित करना तथा अवसर प्राप्त होने पर उन्हें लोभ देकर कौटिल्य के अनुसार अपनी ओर मिलाना भी था। इसके अतिरिक्त गुप्तचर को चाहिए कि वह शत्रु राज्य में क्रुद्ध, लुब्ध भीत और मानी वर्ग आदि के लोगों को फोड़कर अपनी तरफ मिला ले।[1] शत्रु की सेना में फूट डालना,[2] शत्रु की सेना में मतभेद उत्पन्न करना, घूस देकर लोगों को अपने पक्ष में करना अथवा उनके ऊपर विभिन्न औषधियों का प्रयोग करना गुप्तचरों का कार्य था, परंतु गुप्त कार्य में शत्रुओं के साथ प्रकट रूप से साक्षात संबंध स्थापित करने का निषेध था ऐसा उल्लेख अर्थशास्त्र की तरह महाभारत[3] में भी आया था।

अजातशत्रु ने महाभारत में वर्णित वर्णन के अनुसार ऐसा प्रयोग लिच्छवियों के विरूद्ध किया था। अजातशत्रु के मंत्री ने लिच्छवियों की एकता को तोड़ना ही मुख्य कार्य बताया था और कहा था कि तभी विजय संभव है। ऐसा ही अजातशत्रु ने अपने मंत्री वस्सकार को गुप्त रूप से भेजकर लिच्छवियों में फूट का बीज बोया। अजातशत्रु के कार्यों का अंजाम देकर वस्सकार ने लिच्छवियों में उल्टा भाव व्याप्त कर धनी, रंक, सबल, निर्बल आदि विभिन्न वर्गों में ईर्ष्या फैला दी।[4]

गुप्तचरों के कार्यों का उल्लेख बाद के ग्रन्थों में भी हुआ है। मनुस्मृति[5], रघुवंश[6] महाभाष्य[7] एवं कुमार संभव[8] आदि के अनुसार अपनी तथा शत्रु की शक्ति का ज्ञान प्राप्त करना, दूसरे राज्य के वृत्तान्त को अपने राजा से बताना शत्रु-विजय की महत्वपूर्ण सूचनाओं को एकत्रित करना तथा राजा को इसकी सूचना देना गुप्तचरों का

---

1. अर्थशास्त्र 1.13.25
2. शांतिपर्व 102/27
3. शांतिपर्व 103/17
4. मुकर्जी, राधाकुमुद, हिन्दू सभ्यता, अनुवाद-अग्रवाल, वासुदेवशरण, पृ.201-2
5. मनुस्मृति, 7/298
6. रघुवंश, 14/13,32;17/48
7. महाभाष्य, 3/2/13 पृ. 21/1
8. कुमारसंभव, 216,17

महत्वपूर्ण कार्य था। जड़, मूक, अंधे, बहरे, किरात, बौने, कुबड़े, भिक्षुक, चारण, दास एवं अनेक कार्यों और कालों को जानने वाले गुप्तचरों को अन्तःपुर के समाचार को तथा छत्र, चमर, यान, वाहन के धारण करने वाले गुप्तचरों को बाहर के समाचारों को जानने का निर्देश कामन्दक नीतिसार में दिया है।[1]

कुरल में गुप्तचरों के स्वरूप एवं कार्य के विषय में विस्तृत रूप से उल्लेख हुआ है।[2] इसमें उल्लिखित वर्णनों से यह स्पष्ट होता है कि ये अपने तथा दूसरे राज्यों में घटित होने वाली घटनाओं की सूचना अपने राजा को देते रहते थे।[3] मंत्रियों राजकुल से संबंधित लोगों तथा शत्रुओं पर दृष्टि रखना गुप्तचर का प्रमुख कार्य था।[4] यह कार्य वे छद्म वेश में रहकर तथा इधर-उधर टहल कर सम्पन्न करते थे। इन कार्यों को करते समय यदि उनका भेद खुल जाता था तो वे अपना साहस नहीं खोते थे और एकत्रित की गयी सूचना किसी को भी नहीं बताते थे।[5] गुप्तचर्या का मुख्य उद्देश्य इस काल में यह जानना था कि शत्रु की अपने राजा के प्रति कैसी भावना है, जिससे राजा उसी के अनुरूप अपनी स्थिति सुदृढ़ कर ले[6] ये गुप्तचर यह भी निश्चित करते थे कि कौन राजा का मित्र है और कौन शत्रु, जो बड़ा ही दुःसाध्य एवं खतरनाक कार्य था।

गुप्तचर के कार्यों से स्पष्ट होता है कि गुप्तचर अत्यन्त महत्वपूर्ण संस्था थी। गुप्तचरों का कार्य शांति काल में साम्राज्य के विभिन्न भागों में महत्वपूर्ण सूचनाएं एकत्रित करना था, जिससे कुशलता पूर्वक राजा कार्य का संचालन कर सके। इनकी भूमिका युद्धकाल में बड़ी ही निर्णायक होती थी। क्योंकि इन्हीं के द्वारा शत्रु की सही स्थिति तथा उसकी सेना आदि का ज्ञान प्राप्त होता था।

---

1. कामन्दकनीतिसार 12/42-46
2. कुरल, 59वाँ अध्याय, द्रष्टव्य -सुब्रह्मण्यन, एन. संगम पालिटी पृ. 101
3. कुरल, 59वाँ अध्याय, द्रष्टव्य-सुब्रह्मण्यन, एन., संगम पालिटी पृ. 582
4. कुरल, 59वाँ अध्याय द्रष्टव्य-सुब्रह्मण्यन, एन. संगम पालिटी पृ. 584
5. कुरल, 59वाँ अध्याय, द्रष्टव्य-सुब्रह्मण्यन, एन., संगम पालिटी पृ. 587
6. सुब्रह्मण्यन, एन. संगम पालिटी पृ. 102

आन्तरिक एवं बाह्य सुरक्षा की दृष्टि से गुप्तचरों के कार्य राज्य के सन्दर्भ में अत्यंत ही महत्वपूर्ण थे। रहस्य उगलवाने के लिए गुप्तचरों द्वारा विशेष प्रकार की पद्धति का प्रयोग किया जाता था। समाचारों के आदान प्रदान करने में गुप्तचर विशेष प्रकार की सांकेतिक लिपि का प्रयोग करते थे जिसे गुप्तचरों के अतिरिक्त और कोई समझ नहीं सकता था। इस सांकेतिक लिपि का प्रयोग कौटिल्य के अनुसार मौर्य काल में होता था। अर्थशास्त्र के अनुसार संस्था गुप्तचर के छात्र अपनी विशेष सांकेतिक लिपि द्वारा उस सूचना को राजा तक पहुँचाते थे। ऐसा करते समय इस बात का ध्यान रखा जाता था कि संस्था-गुप्तचरों को संचार गुप्तचर और संचार गुप्तचरों को संस्था-गुप्तचर बिल्कुल न जानने पावे। इसके अतिरिक्त गुप्तचरों द्वारा निजी संकेतों वाले गीतों, श्लोकों अथवा वाह्य विशेष द्वार भी सूचनाएं भेजी जाती थी।[1] इन सूचना में विभिन्नता होने पर तथा भेद खुलने पर सूचना लानेवाले गुप्तचर को दंडित किया जाता था। अर्थशास्त्र के अनुसार परस्पर अपरिचित तीन गुप्तचरों द्वारा लाए गए समाचार यदि एक ही तरह से मिले तो उन्हें ठीक समझना चाहिए। यदि वे परस्पर विरोधी समाचारों को लायें तो उन्हें या तो नौकरी से अलग कर दिया जाता था या चुपचाप शारीरिक दंड दिया जाता था।[2] कुरल में एक गुप्तचर द्वारा लाई गई सूचना को सही नहीं माना जाता था, बल्कि परस्पर अपरिचित तीन गुप्तचरों द्वारा दी गई एक ही प्रकार की सूचना को सही माना जाता था।[3]

राजदूत:

प्राचीन काल में भी वर्तमान काल की भांति राजदूत का महत्वपूर्ण स्थान था। दूत ही राज्यों के बीच पारस्परिक संबंध तथा अंतरराज्यीय संबंध बनाए रखने का प्रधान साधन होता था। ऋग्वेद, महाभारत, रामायण, अर्थशास्त्र, कामन्दक नीतिसार, अग्नि पुराण आदि ग्रन्थों में राजदूत को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। राजदूत को

---

1. अर्थशास्त्र (कांगले द्वारा संपादित) भाग 1, 1.11.12
2. अर्थशास्त्र 1.11.16
3. कुरल 588, 589, द्रष्टव्य-सुब्रह्मण्यन, एन. संगम पालिटी पृ. 101

राजा का मुख आचार्य कौटिल्य ने माना है।[1] मनुस्मृति में दूत की प्रशंसा करते हुए कहा गयाहै कि दूत ही शत्रु से मेल करा देता है जिससे मनुष्य परस्पर में फूट जाते हैं।[2] राजा अपने दूत-मुख द्वारा बात किया करते हैं और चर-चक्षु द्वारा देखा करते हैं। राजा के सो जाने पर भी ये दोनों इन्द्रियाँ निरन्तर कार्य करती है। ऐसा कामन्दक का कहना है।[3] दूतों से रहित राजा अंधे मनुष्य के समान होती है ऐसा कामन्दक का यहाँ तक कहना है।[4] दूतों को प्रकाशचर अग्नि पुराण में कहा गया है।[5]

सरमा की कथा में सरमा का इन्द्र की दूती बनकर पविगणों के पास जाने का उल्लेख प्राचीनतम् ग्रन्थ ऋग्वेद में हैं।[6] अनेक स्थलों पर दूतों का उल्लेख ऋग्वेद में मिलता है।[7] दीक्षितार[8] की मान्यता है कि ऋग्वेद काल से दूत और चर का प्रमाण मिलने लगता है। अग्नि को देवताओं का दूत कहा गयाहै। दूत और प्रहित दो शब्दों का उल्लेख तैतरीय संहिता में[9] हुआ है। ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में दूत शब्द का प्रयोग केवल अलंकारिक रूप में ही किया गया है ऐसा सूर्यकान्त का विचार है।[10]

दूत प्रथा में अधिक विकास वैदिक काल के पश्चात् हुआ। दूत का महत्वपूर्ण स्थान राज शासन में पाणिनि के अनुसार था। पाणिनि के अनुसार दूत, जिस देश या जनपद में नियुक्त होता था, उसकी संज्ञा उसी के नाम से प्रसिद्ध होती थी। जैसे- मथुरा में कौशल जनपद का जो

---

1. अर्थशास्त्र (कांगले द्वारा संपादित), भाग 1, 1.16.13
2. मनुस्मृति 7/66
3. कामन्दनीतिसार, 12/28-30
4. कामन्दक नीतिसार, 15/52
5. अग्निपुराण, 233/14
6. ऋग्वेद 10/108/2-3
7. ऋग्वेद 3/3/2;6/8/4;7/3/3
8. दीक्षितार, वी. आर. आर., वार इन ऐंश्येंट इण्डिया, पृ. 337
9. तैतरीय संहिता 415/7
10. सूर्यकान्त, वैदिक कोश, पृ. 203

दूत नियुक्त होता था उसे माथुर कहा जाता था।[1] पतंजलि ने महाभाष्य में भी इसी प्रकार का उल्लेख किया है। पतंजलि के स्रुघ्न देश का दूत स्रोघ्न कहलाता था।[2] जंघाकार पाणिनि ने समाचार ले जाले वाले को धावन कहा है।[3] कौटिल्य ने जिन्हें जंघारिक कहा है। एक योजन, दो योजन, पांच योजन एवं दस योजन इत्यादि भिन्न-भिन्न दूरियों तक संदेश ले जाने वाले धावन को उन-उन नामों से संबोधित किया जाता था। पाणिनि ने एक योजन दौड़ने वाले धावन को यौजनिक कहा है।[4] कात्यायन ने सौ योजन जाने वाले धावन को योजनशतिक नाम से अभिहित किया है। एक योजन से सौयोजन की दूरी तक संदेश ले जाने वाले धावनों का उल्लेख अर्थशास्त्र में मिलता है। अर्थशास्त्र में यह बताया गया है कि उन्हें दस योजन की दूरी तक प्रतियोजन पर एक पण वेतन दिया जाता था। उसके बाद प्रति दस योजन की दूरी के लिए वेतन क्रमशः दुगुना होता जाता था।[5] राज शासन में धावन संस्था के संगठन का प्रचलन अन्य देशों में भी था। पाणिनि के समकालीन क्षायर्षि नामक राजा ने ईरान के हरवामनी साम्राज्य में भी इसी प्रकार की संस्था की व्यवस्था की थी।[6]

अनेक स्थलों पर महाकाव्य में दूत नियुक्त किए जाने का वर्णन है। राजा जितशत्रु तथा अन्य पांच राजाओं द्वारा मिथिला में अपने अपने दूत भेजने का उल्लेख जैन ग्रन्थ में हुआ है।[7] इसी प्रकार राजा कूणिक ने चेटक के पास राजकुमार हल्ल व बेहल्ल को छोड़ देने के लिए अपना दूत भेजा था।[8] महावेस्संतर जातक के अनुसार

---

1. अष्टाध्यायी 4/3/85
2. महाभाष्य 1/3/10 पृ. 40
3. अष्टाध्यायी 3/2/21
4. अष्टाध्यायी 5/1/74
5. अर्थशास्त्र 5/91/3
6. अग्रवाल, वासुदेव शरण, पाणिनि कालीन भारत, पृ. 402
7. नाल, धर्मकथा, 8,122 उद्धृत (जैन जगदीश, जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज)
8. मुखर्जी, टी.बी., इंटरस्टेट रिलेशंस इन ऐंश्येंट इंडिया पृ. 148

राजा शिवि ने वेस्संतर के पास दूत भेजा था।[1] भारत पर आक्रमण के पूर्व ही सिकन्दर द्वारा तक्षशिला के वृद्ध राजा और उसके पुत्र आम्भी[2] ने बुखारा में उसके पास दूत भेजकर सहायता का वचनदिया था। आम्भी ने सिकन्दर को" 65 हाथी, बहुत अधिक संख्या में स्वस्थ भेड़े तथा 300 अच्छे नस्ल के बैल देकर सहायता की थी" ऐसा कर्टियस का मानना है।[3]

दूत प्रथा में अधिक विकास मौर्यकाल में दिखाई पड़ता है। पश्चिमी देशों से भारत का मौर्य काल में राजनीतिक संबंध अधिक बढ़ गया था। मेगस्थनीज को अपना दूत बनाकर सेल्यूकस ने चन्द्रगुप्त के दरबार में भेजा था । पाटलिपुत्र में मेगस्थनीज लगभग छः वर्ष तक रहा और इंडिका नामक पुस्तक लिखी । इसी प्रकार बिन्दुसार के काल में एंटियोकस ने डायमेकस को अपना राजदूत बनाकर भेजा था। चन्द्रगुप्त मौर्य तथा विन्दुसार को यूनानी भाषा में लिखे क्रमशः सेंड्रोकोट्टस व एमिट्रोन्चेड्स से समीकृत किया गया है। ऐसा स्ट्रैबो का मत है। पाटलिपुत्र में मिस्र नरेश फिलाडेलफस (टालेमी द्वितीय) ने डायनीसियस नामक दूत भेजा था किन्तु पिल्नी के अनुसार यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि डायनीसियस विन्दुसार के शासन काल में आया था या अशोक के।[4] अशोक के 13वें शिला लेख के अनुसार, अशोक ने सीरिया के शासक अंतकिन (एंटिगोनस), सिरीनी के शासक मग (मगस) और एपिरस के शास अलिकसुन्दर (एलेक्जेन्डर) की राज्य सभा में अपना राजदूत भेजा था।[5] विदर्भ राज महासेन के चचेरे भाई माधव सेन ने अपने एक दूत के साथ बहुत से मूल्यवान रत्न, हाथी, घोड़े आदि वाहन, विविध प्रकार के शिल्पी एवं दास दासियों को मालविकाग्निमित्रम के एक प्रसंगानुसार महाराज

---

1. महावेसंतर जातक 50-51 (कौसल्यायन द्वारा संपादित) खण्ड 6, पृ. 531
2. पाणिनीय गणपाठ 4/2/95
3. मैक्रिंडल, इंडिया ऐंड इट्स इनवेजन बाई अलेक्जेन्डर पृ. 202
4. मजूमदार, आर.सी. ऐंश्येंट इंडिया पृ. 106
5. हुल्श, इ., कापर इंस्क्रिप्शंस इन्डिकेरम जिल्द 1, पृ. 66-67

अग्निमित्र की सेवा में भेंट स्वरूप भेजा था ।[1] तक्षशिला के यूनानी नरेश अंतिलिकित (एंटियाल्किडस) का दूत यवन राज हेलियोडोरास मालव की राजधानी विदिशा में शुंग वंशी शासक भाग भद्र के दरबार में रहता था ऐसा स्पष्ट उल्लेख बेसनगर के गरूड़ स्तम्भ में आया है ।[2] अंतरराज्यीय संबंध बनाए रखने के लिए भी दूतों का प्रयोग किया जाता था यदि कोई सम्राट किसी विदेशी शासक से सैनिक सहायता प्राप्त करना चाहता था तो दूतों का सहारा लेता था। उदाहरणार्थ, चीनी ग्रन्थों के अनुसार कनिष्क ने चीनी सम्राट के समक्ष अपनी समानता प्रकट करने के लिए एक राजदूत के माध्यम से प्रस्ताव रखा था कि चीनी राजकुमारी का विवाह उसके साथ कर दिया जाय, किन्तु चीनी सेनापति पानचाओ ने इस प्रस्ताव से अपने सम्राट के प्रति अपमान अनुभव किया और कनिष्क के राजदूत को बन्दी बना लिया, जिसके परिणामस्वरूप दोनों सम्राटों में युद्ध हुआ ।[3] रोमन सम्राट आगस्टस के सिंहासनारूढ़ होने के पश्चात् इसी प्रकार 29 ई. में अनेक भारतीय राजाओं ने धन्यवाद प्रस्ताव के साथ कई दूत-मंडल रोम भेजे थे। पोरस का नाम उन राजाओं में सर्वप्रथम था ।[4] इस भारतीय राजा पोरस की पहचान रालिंसन ने कुषाण-शासक कदाफिसेज प्रथम से की है ।[5] पार्थियनों की विजय पर किसी कुषाण सम्राट ने रोमन सम्राट ट्रेजन के पास धन्यवाद प्रस्ताव के साथ अपना दूत मंडल भेजा था। इस कुषाण शासक की पहचान बाशम् ने कनिष्क द्वितीय से की है ।[6] चट्टोपाध्याय के अनुसार यह शासक कनिष्क प्रथम

---

1. मालविकाग्नि मित्रम पांचवा अंक, बम्बई संस्करण, 1935, पृ.88-89
2. सरकार, डी.सी.सेलेक्ट इंन्सिक्रिप्संस जिल्द 2 पृष्ठ 90-91.
3. चट्टोपाध्याय, भास्कर, कुषाण स्टेट ऐंड इंडियन सोसायटी पृ. 136
4. स्ट्रैबो, ज्योग्राफी 15.4.73
5. रालिंसन, एच.जी., इंटर कोर्स बिटविन इंडिया ऐंड दि वेस्टर्न वर्ल्ड पृ. 107.9
6. बाशम, ए.एल., स्टडीज इन इंडियन हिस्ट्री ऐंड कल्चर, पृ. 136-40

का पौत्र तथा वासिष्क का पुत्र कनिष्क था।[1] कुषाण नरेश वासुदेव द्वितीय ने पश्चिम में ससानियों तथा उत्तर में हूणों की बढ़ती हुई शक्ति को रोकने के लिए 230 ई. में अपना दूत मण्डल चीनी शासक के पास सैनिक सहायता प्राप्त करने के लिए भेजा था।[2]

विशाल संख्या में दूत नियुक्त होने का उल्लेख संगमकालीन दक्षिण भारतीय ग्रन्थों में मिलता है। उदाहरणार्थ, सेंगुट्टन के हजार दूत नियुक्त रहते थे।[3] सेंगुट्टुवन के दूत एक विशेष प्रकार का कपड़ा पहनते थे जिसे "कंजुगम" कहा जाता था। जो इस कोट को पहनते थे उन्हें कंजुगा मक्कल कहते थे।[4] ये साफा भी बांधते थे।[5] कंजुगम के मुख्य को कंजुमा, मुबलवन कहा जाता था।[6] कंजुगम का मुख्य संयज्ञन था, जिसे सेंगुट्टुवन ने नियुक्त किया था।[7] यह अधिकार इन दूतों को प्राप्त था कि वे किसी भी राजा के यहाँ जा सकते थे। सलाह लेने के लिए आवश्यकता पड़ने पर अपने राजा द्वारा बुलाये जा सकते थे। एक दूसरे से भिन्न रहने के लिए दूत विशेष प्रकाके कोट और साफे पहनते थे।[8] सिलप्पदिकरम के उल्लेखों से यह स्पष्ट होता है कि इन दूतों को युद्ध काल में सैन्य-संबंधी कार्यों का भी प्रबन्ध करना पड़ता था। दूतों का दूसरे राजाओं के यहाँ स्थाई रूप से रहने का विधान इस काल में भी नहीं था बल्कि आवश्यकता पड़ने

---

1. चट्टोपाध्याय, भास्कर, कुषाण स्टेट ऐंड इंडियन सोसायटी पृ. 141
2. चट्टोपाध्याय, भास्कर, कुषाणस्टेट ऐंड इंडियन सोसायटी पृ. 138
3. सिलप्पदिकारम् 26/138; द्रष्टव्य -सुब्रह्मण्यन, एन. संगम पालिटी पृ. 99
4. सिलप्पदिकारम् 26/138; द्रष्टव्य -सुब्रह्मण्यन, एन. संगम पालिटी, पृ. 186
5. सिलप्पदिकारम 26/138; द्रष्टव्य-सुब्रह्मण्यन, एन. संगम पालिटी, पृ. 137
6. सिलप्पदिकारम 26/138, द्रष्टवय-सुबस्रह्मण्यन, एन. संगम पालिटी, पृ. 138
7. सिलप्पदिकारम 26/138, द्रष्टव्य-सुब्रह्मण्यन, एन. संगम पालिटी, पृ. 145
8. सुब्रह्मण्यन, एन. संगम पालिटी पृ. 100

पर उनका चुनाव किया जाता था।[1]

परवर्ती काल में भी दूतों की यह परम्परा विद्यमान रही। उदाहरण के लिए समुद्र गुप्त की राज्य सभा में सिंहल नरेश मेघवर्ण ने अपना दूत भेजकर गुप्त-नरेश का बहुमूल्य उपहार भेंट किये थे।[2] इसी प्रकार भास्कर वर्मा ने हर्ष के स्वागत में उपहार सहित हंसवेग नामक अपने अंतरंग दूत को भेजा था।[3] इस प्रकार प्राचीन काल में दूतों की परम्परा विद्यमान रही जिसने राजनीति एवं सैन्य सम्बन्धा में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी।

कौटिल्य ने दूतों को योग्यता एवं अधिकारों की दृष्टि से तीन श्रेणियों में विभक्त किया है- निसृष्टार्थ, परिमितार्थ एवं शासन हर। जिस दूत में अमात्य पद के लिए निर्धारित योग्यता हो, उसे निसृष्टार्थ दूत कहा गया है।[4] इस श्रेणी के दूतों को विषेष अधिकार प्राप्त हो। इस श्रेणी के दूत राजा का संदेश दूसरे राजाओ के सम्मुख और उन राजाओ का सन्देश अपने राजा के समक्ष प्रस्तुत करते थे। साथ ही उन्हें कतिपय अन्य अधिकार भी प्राप्त थे। इस प्रकार के दूत का पद आधुनिक काल के राजदूतों के समान प्रतीत होता है। अतः विशेष प्रकार की योग्यता वाले व्यक्ति ही निसृष्टार्थ दूत के पद पर नियुक्त किए जाते थे। परिमितार्थ दूत की योग्यता में अमात्य की योग्यताओ से कुछ न्यून योग्यताएं हो सकती है। कौटिल्य के अनुसार अमात्य पद के लिए निर्धारित योग्यताओ में तीन चौथाई योग्यताएं इस पद के लिए वांछनीय हैं।[5] निसृष्टार्थ दूत की अपेक्षा परिमितार्थ दूत के अधिकार सिमित थे। परिमितार्थ दूत राजा द्वारा निर्धारित अधिकार सीमा के भीतर ही दूसरे राजा से बात करने का अधिकार

---

1. सुब्रह्मण्यन, एन. संगम पालिटी पृ 100
2. स्मिथ, वी.ए.अर्ली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृ. 330-80, विंट्रानिट्ज, एम.ए., ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर, परिशिष्ट पृ. 584
3. अग्रवाल, वासुदेवशरण, हर्षचरित-एक सांस्कृतिक अध्ययन पृ. 170
4. अर्थशास्त्र- (कांगले द्वारा सम्पादित) भाग 1, 1.16.2,3, व 4
5. अर्थशास्त्र- (कांगले द्वारा संपादित) भाग 1, 1.16.2

रखता था । तीसरी श्रेणी के दूतों के लिए कौटिल्य ने अमात्य की अर्ध योग्यता मात्र निर्धारित की है।[1] इस कोटि के दूत अपने राजा का संदेश दूसरे राजा के पास ले जाने एवं दूसरे राजा का संदेश अपने राजा के पास ले जाने मात्र का अधिकार रखते थे। इसके अतिरिक्त इन्हें अन्य अधिकार नहीं प्राप्त थे। याज्ञवल्क्यस्मृति[2], कामंदक नीतिसार[3] एवं अग्निपुराणों[4] में भी कौटिलय द्वारा उल्लिखित तीन प्रकार के दूतों का ही उल्लेख मिलता है सिर्फ परिमितार्थ के स्थान पर मितार्थ नाम का कामन्दक नीतिसार में उल्लेख है।

महाभारत में दूत को कुलीन, वाचाल, चतुर, प्रिय बचन बोलने वाला, संदेश को ज्यों का त्यों कह देने वाला तथा स्मरण शक्ति में संपन्न—इन सात गुणों से युक्त होना चाहिए।[5] कौटिलय के अनुसार दूतों में अमात्यों के लिए निर्धारित योग्यता का होना आवश्यक है।[6] मनुस्मृति के अनुसार दूत को सब शास्त्रों का विद्वान, इंगित, आकार और चेष्टा का जानने वाला, शुद्ध हृदय, चतुर तथा कुलीन होना चाहिए। अनुरक्त, शुद्ध, चतुर, स्मर शक्ति वाला, देश और काल का जानकार, सुरूप निर्भय ओर वाग्मी—इन गुणों से युक्त दूत श्रेष्ठ होता है।[7] दूत को कुलीन, चतुर, ईमानदार, परिश्रमी, सभी शास्त्रों को ज्ञाता, दूसरों के जान लेने वाला, साहसी, राजभक्त, काल तथा स्थान के अनुसार उचित निर्णय करने में चतुर तथा मृद्रभाषी एवं स्पष्ट वक्ता होना चाहिए, ऐसा उल्लेख मानव धर्मशास्त्र में आता है[8] वाचाल, बात को याद रखने वाला विशेष वक्ता, अस्त्र-शस्त्र में पंडित , कार्य का अभ्यास किए हुए व्यक्ति ही राजा के दूत कामन्दक नीतिसार के अनुसार हो सकते है।[9]

1. अर्थ शास्त्र (कांगले द्वारा संपादित), भाग, 1.16.3 ।
2. याज्ञवल्क्य स्मृति 13,349 ।
3. कामन्दक नीति सार 13/349 ।
4. अग्नि पुराण 241/8 ।।
5. शांति पर्व 85/28 ।
6. अर्थशास्त्र (कांगले द्वारा संपा.)भाग 1,1.8.29
7. मनुस्मृति 7/63-64 ।
8. मानव धर्मशास्त्र 7/63/64 ।
9. कामन्दक नीति सार 12/2 ।

दूत को व्यवहार कुशल, उच्च कुलीन, विनीत, वाकपटु, आकर्षक व्यक्तित्व वाला, उत्तम और उच्च शिक्षा वाला होना चाहिए। दूत संदेश देने की ऐसी क्षमता रखता है जिससे कि न तो उससे भय और न तो किसी तरह के पक्षपात का ही प्रभाव प्रकट हो एवं इतना साहस संपन्न हो कि साक्षात मृत्यु को भी देखकर भयभीत न होने वाला संगमकालीन दक्षिण भारतीय ग्रन्थों के अनुसार हो।[1] बौद्ध ग्रन्थ में दूतों में आठ गुण होनेका उल्लेख मिलता है– श्रोता, श्रावयिता, उदगृहीता, धारयिता, विज्ञाता, हित आर्हव में कुशल विज्ञापयिता और जो कलह कारक न हो।[2] आचार्य शुक्र ने दूत को मंत्रि परिषद का सदस्य माना है। दूत को इंगित और आकार का ज्ञाता, स्मृतिवान, देश काल का ज्ञाता, षाड्गुण्य नीति पंडित, वाग्मी और निर्भीक होना चाहिए।[3] इस प्रकार दूत के पद पर उसी व्यक्ति को बिठाया जाता था जो विद्वान, साहसी, वीर, मनोविज्ञान के सिद्धान्तों का ज्ञाता, राजभक्त तथा स्पष्ट एवं मृदु भाषी होता था।

मुख्य–कार्य दूतो का संदेश पहुचाना था। अनेक स्थलों पर दूतों के माध्यम से संदेश पहुचाने का उल्लेख महाभारत में है।[4] शत्रु प्रदेश में अपने स्वामी का संदेश लेकर जाना, संधि भाव को बनाए रखना, समय अपने पर पराक्रम दिखाना, अधिक से अधिक मित्र बनाना, शत्रु के कृत्य पक्ष को पुरुषों को फोड़ देना, शत्रु के देश में रहकर गुप्तचरों के कार्यों का निरीक्षण करना, संधि की चिर स्थिति के निमित्त जमानत रूप में रखे हुए राजकुमार को मुक्त कराना और मारण, मोहन उच्चाटन आदि का प्रयोग करना अर्थशास्त्र के अनुसार है। ये सभी दूत के कार्य[5] मनुस्मृति के अनुसार वह (राजदूत) इस कर्तव्य में शत्रु राजा के अनुचरों के इंगित तथा चेष्टाओं से क्षुब्ध या लुब्ध भृत्यों में आकार, चेष्टा और चिकीर्षित को मालूम

---

1. कुरल, 69वां अध्याय, सुब्रहमण्यन, एन, संगम पालिटी पृ. 99
2. सां.कृत्यायन राहुल, अनुवाद– विनय पिटक– पृ. 491।
3. शुक्रनीति 2/86
4. उद्योग पर्व 30/4,33/2,85/1–2।

करे। "शत्रु राजा के चिकीर्षित को ठीक ठीक मालूम करे वैसा प्रयत्न करे जिससे अपने को कष्ट न हो।[1] कामन्दक नीतिसार के अनुसार दूत को चाहिए कि वह मित्र तथा जंगल के रहने वालो को अपने अंतः पुर का रक्षक नियुक्त करे, अपनी सेना की सिद्धि के लिए स्थल और जल के मार्गों को जाने।[2] इसके अतिरिक्त उसे शत्रु के राज्य की सारवता, किले और उस किले की रक्षा, कोष मित्र, बल और शत्रु के छिद्र आदि की जानकारी रखनी चाहिए।[3] एक राजा का दूसरे राजा के पास संदेश ले जाना ही इनका कार्य जातकों में बतलाया गया है।[4]

दूतो के आचरण एवं व्यवहार के विषय में अर्थ शास्त्र में उल्लेख है कि जब तक शत्रु राजा उसे अपने राज्य से जाने की आज्ञा न दे दे तब तक वहीं रहे। शत्रुओ के बीच रहता हुआ वह अपने को बलवान न समझे। स्त्री प्रसंग और मद्यपान को हमेशा के लिए त्याग दे। अपने स्थान में एकाकी शयन करे। मध पीने तथा दूसरों के साथ सोने से प्रमादवश या स्वप्नावस्था में मन के गुप्त रहस्यों के प्रकट हो जाने का भय बना रहता है। शत्रु राजा के कार्यों की जानकारी अपने गुप्तचरों से प्राप्त करता है, यदि इन गुप्तचरों से भी सिद्ध न हो तो भिक्षु, मत, उन्मत, तथा सोते समय प्रलाप करने वाले व्यक्तियों के माध्यम से शत्रु के कार्य का पता लगाकर तदनुसार भेद रुप उपायो का प्रयोग करें। कार्य सिद्ध हो जाने पर भी यदि शत्रु राजा उसे रोकता है तो रुके अन्यथा वहाँ से चल दे।[5]

कामन्दक नीतिसार के अनुसार दूत को चाहिए कि वह शत्रु के अनिष्ट वचन को भी सहन करे, काम और क्रोध को वर्जित करे दूसरों के साथ न सोये और अपने भाव की रक्षा करता हुआ दूसरे का भाव जाने।[1] संगमकालीन कवि ओरम्बोगियार ने दूतो का एक विचित्र

---

1. मनुस्मृति 7/67-68।
2. कामन्दक नीति सार 12/5।
3. कामन्दक नीति सार 12/5।
4. महानुभाग जातक 32-38, महावेस्संतर जातक 50-52,(कौशल्यायन द्वारा अनु.) खंड 6, पृ. 473 व 474,531।
5. अर्थशास्त्र(कांगले द्वारा संपादित)भा.1,1.16.24
6. कामंदक नीति सार 12/13/15।

कार्य बताया है। उनके अनुसार दूत अपने राजा की सहायता की याचना करने जाते थे और उसकी अभीष्ट सिद्ध के लिए सहायता एकत्रित करते थे।[1]

दूत के कुछ विशिष्ट अधिकारों की ओर प्राचीन ग्रन्थों में संकेत किया गया है। सबसे महत्वपूर्ण अधिकार इनमें दूत के अवध्य होने का है। प्राचीन भारतीय राजशास्त्र प्रणेताओं ने एक मत होकर दूत को वध के निषेद-संबंधी व्यवस्था की घोषणा की है। रामायण[2] तथा महाभारत[3] में अनेक स्थलों पर दूत के अवध्य बताया गया है। बल्कि महाभारत[4] के दूत को कुछ अवसरों पर कोड़े मारने, मुंडित कर बाहर निकाल देने की आज्ञा दी गयी है। भीष्म का तो स्पष्ट मत है कि राजा कभी किसी आपत्ति में भी किसी के दूत की हत्या न करे। दूत का वध करने वाला राजा अपने मंत्रियों सहित नरक में जाता है।[5] कौटिल्य के अनुसार दूत अपने संदेश को सही ढ़ग से ही शत्रु राजा से निवेदित करते हैं। अतः यदि कोई चांडाल भी इस कार्य के लिए नियुक्त किया गया तो राजधर्मानुसार वह भी अवध्य है। दूत के वध का निषेध गौतम धर्म सूत्रों[6] में भी मिलता है। संगमकालीन दक्षिण भारतीय ग्रंथो से यह स्पष्ट होता कि इस काल के दूतों को अवध्य माना जाता था। इन ग्रंथों में उल्लेख है कि दूत राजा के गर्वीले शब्दों को सहन नहीं करता था बल्कि शीघ्रता से उसकी बातों का खंडन करके अपने राजा की (ख्याति) स्थापित करता था।[7]

सेना के अंगों का सापेक्षिक महत्व :

सेना के वर्णित अंगों में प्राप्त पदाति, रथ, अश्व व हस्तिसेना का ही वर्णन चतुरंगिणी सेना के रूप में भारतीय ग्रंथो में उपलब्ध होता है। परन्तु यह नहीं समझना

---

1. पुरनानुरु 284, दृष्टव्य सुब्रहमण्यन, एन, संगम पालिटी पृ. 98
2. सुन्दर कांड 52/5-6
3. सुन्दर कांड 52/14/15
4. शांति पर्व 85/26-27
5. अर्थ शास्त्र (कांगले द्वारा संपा०) भाग1, 1.16.23
6. गौतम धर्म सूत्र 10,
7. सिलपादिकारम 28/187-88

चाहिए कि नौ सेना, विष्टि, चल चिकित्सालय व दूत एवं गुप्तचर का अस्तित्व ही नहीं । और न ही यह समझना चाहिए उसका महत्व न्यून था। वास्तविकता तो यह है कि चतुरंगिणी सेना शत्रु सेना से सीधे युद्ध करती थी इसलिए उसका वर्णन प्रायः समस्त भारतीय स्रोतों प्रमुख रूप से हुआ है। शेष चार प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में चतुरंगिणी सेना का सहयोग उसको सम्बल प्रदान करते थे। वे चतुरंगिणी सेना से इस प्रकार घुल मिल गए थे। कि उनको पृथक अस्तित्व का अनुमान ही नहीं हो पाता था। केवल स्रोतों के सर्वेक्षण से उनका पृथक अस्तित्व स्वीकार करना पड़ता है। कुछ विद्वानों का मत है कि वैदिक काल में पैदल सेना की अपेक्षा रथ सेना का महत्व ज्यादा था क्योंकि वे पैदल सैनिक को बड़ी सरलता से पराजित कर देते थे। लेकिन समय के साथ रथ सेना अपना महत्व सदैव नहीं बना सकी। गुप्त काल और उसके बाद रथों का प्रयोग युद्ध स्थल पर प्रयोग पूर्णतया समाप्त हो गया परन्तु पैदल सेना का महतव सदैव एक सा बना रहा। युद्ध-विज्ञान संबंधी विद्वानों का ऐसा मानना है कि पैदल सेना किसी भी भूमि पर लड़ सकती है।[1] पैदल सेना भारतीय सेना का मेरुदण्ड थी। वह अश्व सेना को भी बाणों की मार से उसकी गति को सीमित कर देती थी। चूंकि पैदल सैनिकों का निशाना अचूक होता है इसलिए यूनानीयों ने भी उसकी महत्ता को स्वीकारा है।[2] पैदल सैनिक हाथी व घोड़ो का जोड़ो व मस्तक या तीव्र प्रहार कर उन्हें बेकार कर देता था राम की पैदल सेना ने ही रावण की दिव्यास्त्रों से सुसज्जित सेना को परास्त किया था। अग्नि पुराण के अनुसार पैदल सेना अधिक रखनी चाहिए। जिसकी सेना में पैदलसैनिक अधिक होते है वह ही विजयी हो सकता है।[3] शुक्र के अनुसार घुड़सवार सैनिको की संख्या से चौगुनी पैदल सैनिको की होनी चाहिए। यही कारण है कि महाभारत की अक्षौहिणी सेना के पैदल सैनिको की सं. अधिक थी। इसीलिए आचार्य शुक्र महाभारत की सेना को सुदृढ़ मानते है।[4] दुर्गों पर

---

1. अर्थ शास्त्र (कांगले द्वारा संपा.) 10.5.16।
2. एरियन इंडिका अध्याय 16।
3. अग्नि पुराण 228/7।
4. आदि पर्व 2/23-27।

आक्रमण एवं उनकी रक्षा के लिए पैदल सैनिक अत्यधिक उपयोगी बताया जाता है। पैदल सेना सभी प्रकार के अस्त्रशास्त्रों के प्रयोग करने में समर्थ थी। इसीलिए आज भी पैदल सेना के युद्ध की रानी कहा जाता है।

अश्व सेना रथ सेना में अधिक गति से चलने के कारण युद्ध स्थल में, रथ सेना से अधिक सक्रिय होती थी। अश्व छोटी, छोटी झाड़ियों, गड्ढो, नालो, आदि को लांघ सकता है जब कि रथ लांघने में असमर्थ है। इनके कार्यों पर दृष्टिपात करने से[1] अश्व सेना के महत्व के बारे में कहा गया है कि जिस प्रकार चन्द्रमा से हीन रात्रि और पति से हीन पतिव्रता स्त्री सुशोभित नहीं होती है उसी प्रकार अश्वों से हीन सेना सुशोभित नहीं होती अपनी शरीर रचना के कारण ये एकत्र होने, फैलने और शत्रु का अन्त कर देने में काल होते हैं।

हस्ति सेना चतुरंगिणी सेना का महत्वपूर्ण अंग था।हस्ति संग्राम अधिकार पावस ऋतु में होता था। मनुस्मृति के टीकाकार का मत है कि अल्पोदक में हाथियों से युद्ध करना उपयोगी होता है, उष्ण देश में हस्ति सेना से काम लेना उपयोगी नहीं होता था। हाथी के लिए जल अति आवश्यक है। वह जल अधिक पीता है तथा स्नान पसन्द करता है। जल के अभाव में उसकी फुर्ती जाती रहती थी।जिस देश में पानी की प्रचुरता हो या परवस ऋतु में संग्राम छेड़ना हो तो संग्राम में हाथी में काम लिया जाता था।[2] सेना के अन्य अंगों से इस सेना का स्थान अत्यधिक महत्वपूर्ण होता था क्योंकि यह अन्य सेना में अत्यधिक उपयोगी होती थी नदी पार करने में भी हाथी बड़ा सहायक होता था। विकट परिस्थितियों में हाथी दल आगे चलता था।सड़को को बराबर करता था, शिविर निर्माण में पूरी सहायता करता था । सेना के पाश्वों की रक्षा करता था, दुर्भेध स्थलों में प्रवेश करना, आग लगाना व बुझाना भागती सेना को इकट्ठा करना, दृढ़ सेना को भी चीर फाड़ का छिन्न भिन्न कर देना, दीवार तथा दुर्ग को नष्ट करने में इसका उपयोग होता था जो अन्य सेना के अंगों के लिए असंभव सा था। युद्ध के समय

---

1. भीष्म पर्व 105/9
2. अर्थ शास्त्र (कांगले द्वारा संपादित), भाग1, 9.1.48 |

हस्ति सैनिक के संकेत पर हाथी, आदि भी घोड़ो व रथो को पकड़कर रौंद देते थे तथा उन्हे चीरकर दूर फेंक देते थे।[1] प्राचीन काल में हस्ति सेना विदेशियों के हृदय में आतंक उत्पन्न करनी थी इसीलिए चन्द्रगुप्त ने सेल्युकस को उसकी पुत्री के बदले 500 हाथी भेंट स्वरूप प्रदान किए हैं। आज के युग में हस्ति सेना का कोई मतलब नही है जब कि प्राचीन काल में वह अपने गुणों के कारण महत्वपूर्ण थी इसीलिए कौटिल्य सेना में हाथी रखने पर जोर देते हैं।

स्थूल भूमि पर तो युद्ध करने के लिए चतुरंगिणी सेना का उपयोग किया जाता था। परन्तु गहेरे जलमें युद्ध करने का एक मात्र साधन नाव ही था जिसे नौ सेना कहते है।जल में एक मात्र युद्ध का साधन होने के कारण इसकी महत्ता स्वयं सिद्ध है। शेष तीन सेना के अंग उपर्युक्त चतुरंगिणी सेना के सहायक मात्र होते थे। चतुरंगिणी सेना की सहायता, रसद आपूर्ति अदि के लिए विष्टि विभाग था जिसे इसके बिना चतुरंगिणी सेना उत्साह एवं कुशलता पूर्वक युद्ध करने में असमर्थ होती है। इस कार्यो को देखतें हुए[2] चतुरंगिणी सेना के ये अनिवार्य एवं अभिन्न अंग मालूम पड़ते है। युद्ध में अत्यधिक घायल होने के कारण उनकी चिकित्सा अनिवार्य होती है। इसके लिए युद्ध स्थल में एक चल चिकित्सालय का प्रबंध किया जाता था। पीड़ित सैनिकों को स्वस्थ एवं ठीक करने से इनकी महत्ता स्वयं सिद्ध हो जाती है। सेना का अन्तिम अंग गुप्तचर एवं दूत था। गुप्त चरों तो राजा का नेत्र है जब कि दूत प्रकाश्य। अपने गुप्तचरो के कारण राजा दीर्घचाक्षुष कहलाता था।[3] इस प्रकार सेना के ये अंग सेना रूपी शरीर के विभिन्न अवयव सिद्ध होते है। जिसमें सभी एक दूसरे के पूरक है। एक के बिना दूसरे का कार्य संभव नहीं है।

सैन्य-संरचना: भारतीय युद्ध-शास्त्र के विद्वानों ने युद्ध क्षेत्र की सफलता के लिए चतुरंगिणी सेना के सामूहिक संगठित रूप पर भी बल दिया था। विद्वानों ने अपने अपने अनुभवों के द्वारा तत्कालीन परिस्थिति एवं युद्ध में शीघ्र

---

1. कर्ण पर्व अध्यसय रु: ।
2. पाण्डे, प. रामर्दन, प्राचीन भारत में सांग्रामिकता पृ. 87 ।
3. अथर्ववेद 16/16/1 ।

तथा पूर्ण सफलता के आधार पर विभिन्न प्रकार के संगठनों का प्रतिपादन किया था। महाभारत काल के पूर्व सैनिक संगठन का कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलता है। इस काल के बाद से सैन्यसंगठन व्यवस्था पर भारतीय विद्वान समय समय पर विचार प्रस्तुत करते रहे हैंजिनका प्रमाण अर्थशास्त्र, शुक्रनीति आदि ग्रन्थों में मिलता है।

महाभारत काल में सेना अनेक टुकड़ियों में विभाजित रहती थी एक रथ, एक हाथी, पांच पैदल तथा तीन घोड़े की सेना को पत्ति कहा गया है। पत्ति की तिगुनी संख्या को सेनामुख, तीन सेनामुखों का एक गुल्म तीन गुल्मों का एक गण तीन गणों का एक वाहिनी तीन वाहिनियों की एक पृतना तीन पृतना की एक चमू तीन चमू की एक अनीकिनी और दस अनिकिनियों की एक अक्षौहिणी होती थी।[1]

मौर्य सेना का संगठन दसा गुणात्मक आधार पर था अर्थ शास्त्र के अनुसार।[2] कौटिल्य के अनुसार दस सैनिको का एक पदिक अधिकारी, दस पदिकों का एक सेनापति और दस सेनापतियों के ऊपर एक नायक होता था। इस प्रकार सेना की सबसे छोटी इकाई दस सैनिकों की होती थी। आचार्य कौटिल्य ने एक रथ और हाथी के साथ पांच पांच घुड़सवार और प्रत्येक घुड़सवार के साथ तीन पैदल सैनिक नियुक्त करने का विधान किया है।[3] इस प्रकार दस सेनांग का अर्थ दस रथ और दस हाथियों के साथ उपर्युक्त विवरण के आधार पर सौ घोड़े तथा तीन सौ पैदल किया जा सकता है और इतने सैनिको के अधिकरी को पदिक कहा जा सकता है। इसी तरह सेनापति उसे कहते थे जो 100 रथ, 100 हाथी, 1000 घोड़े, व 3000 पैदल सैनिको का मालिक होता था। ऐसे ही नायक भी 1000 रथ, 1000हाथी, 1000 घोड़े 30000 पैदल सैनिको का मालिक होता था

केवल पैदल सेना के संगठन का उल्लेख शुक्रनीति में[4] किया गया है। शुक्र ने पांच या छह सैनिको के दल

---

1. आदि पर्व 2/19/26।
2. अर्थ शास्त्र (कांगले द्वारा संपा.) भाग 1, 10.6.45।
3. अर्थ शास्त्र (कांगले द्वारा संपा.) भाग 1, 10.5.10।
4. शुक्र नीति 2/139-41।

के पश्चात 100 सैनिकों का, 1000 सैनिकों का तथा 10,000 सैनिकों का दल बताया है। क्रमश: इनके अधिकारी पत्तिपाल, शतनिक साहसिक और आयुत्तिक कहलाते थे।

सैन्य-अधिकारी : प्राचीन भारत के समस्त सैन्य कर्मचारी को दो वर्गों में विभक्त कर सकते है – सैन्याधिकारी व असैन्य-अधिकारी विभाग।

सैन्याधिकारी के सम्बद्ध सर्वप्रथम राजा का उल्लेख किया जा सकता है। भारतीय राजाओं का व्यक्तित्व दिव्य समझा जाता है।[1] राजा ही सेना का सर्वोच्च अधिकारी होता था।[2] राजा ही प्रजा पालक एवं प्रजा को खुश करने वाला होता था ऐसा उल्लेख प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है। राजा का प्रमुख कर्तव्य तदर्थ सेना रखना तथा उसकी रक्षा करना था। अपने देश की रक्षा तथा शत्रु देश पर विजय करने वाले राजा के लिए योद्धा होना आवश्यक था। इसलिए राजा के सेनापति के समान गुण होना चाहिए।[3] सेना का स्वामी होने के साथ ही साथ रक्षा का उत्तरदायित्व होने के कारण उसे रथाध्यक्ष भी कहा जाता था।[4]

राजा के पश्चात सेना का सबसे बड़ा अधिकारी सेनापति था। सेनापति राजा से न्यून अधिकार रखते हुए राजा के समान सम्मानीय था। वैदिक साहित्य में सेनापति को सेनानी कहा गया है।[5] वैदिक काल के परवर्ती ग्रन्थो में सेनापति को अनिप, दलपति, यूथप, यूथनाथ, यूथपति, महासेनापति, प्रधान सेनापति, यूथपाल, सेनप सेनाध्यक्ष, बलाध्यक्ष गुणबल्लभ, सेनानायक सेनानाथ, सर्वसैन्याधिकारी सेनपाल, सैनेश वाहिनी पति आदि नामो से संबंधित किया गया है।[6]

---

1. रामायण 2/100/5-7, महाभारत शांतिपर्व 118/26, मनुस्मृति 7/4-5, कादम्बरी एक सुव्कयलित अंक अनुवाद 1, पृ. 16-17
2. रामायण 1/20/3 विराट पर्व 24/6, 68/11-13
3. शांतिपर्व 69/64-65, आश्रम वासिक पर्व 63
4. शांति पर्व 1/8/16
5. अनुशासन पर्व 32/8
6. ऋग्वेद 7/20/5, 10/34/12

क्षत्रिय ब्राम्हण के न मिलने पर किसी भी जाति का शूरवीर होने पर सेनापति पद के योग्य माना जाता था[1]। प्राय: सेनापति लोगों की एक सलाहकर समिति हुआ करती थी जो युद्धावसरों पर सेनापति को अपना मत देती थी।संभवत: इस सलाहकार समिति के सदस्य चतुरंगिणी सेना के बलाध्यक्ष ही हुआ करते थे।रावण के सेनापति प्रहस्त के पास इस प्रकार चार मतदाता सचिव थे। उनके नाम नरान्तक, कुम्भ, हतु महानाद और सुमन्त थे।[2] महाभारत काल में सेनापति का चुनाव हुआ करता था। कालान्तर में इस प्रथा का लोप हो गया और राजा स्वयं सेनापति चुनने लगा।

समस्त सेना सेनापति के नियंत्रण में रहती तथा सेना में व्यवस्था और अनुशासन कायम रखने के लिए सेनापति सचेष्टा रहता था। युद्ध के अवसर पर राजा की आज्ञा पाकर चतुरंगिणी सेना को सज्जित करता और कूच के लिए तैयार रहता था।

ग्रामणी वैदिक कालीन सैन्याधिकारी था जो ग्रामाध्यक्ष होता था, वह ग्राम का सेना नायक माना जाता था। डा० राधा कुमुद मुकर्जी के अनुसार ग्रामणी सैनिक पदाधिकारी होता था-ऋग्वेद में ऐसा ही उल्लेख प्राप्त होता है।[3]

राजा के शासन काल में ही छोटा भाई या ज्येष्ठ पुत्र युवराज घोषित होता था।[4]

युद्ध मंत्री का स्थान सैन्याधिकारी में सेनापति और युवराज के पश्चात आता है। आचार्य शुक्र ने युद्धमंत्री को सचिव का नाम दिया है। परन्तु यह नाम साधारणत: उसके लिए प्रयुक्त नहीं होता था। वास्तव में युद्ध के बारे में राजा और सेनापति को राय देने वाली एक समिति होती थी। इस युद्ध के अतिरिक्त सेनापति के पास भी एक समिति होती थी जिसमें तीन या चार सदस्य होते थे। युद्धमंत्री केवल अभियान के समय अथवा युद्ध स्थल में सेनापति को मत ही नहीं देते थे बल्कि युद्ध स्थल पर भी भाग लेते थे। ब्राहमण पुराण के अनुसार स्त्री सेनापति

---

1. शुक्रनीति 2/429-30
2. शुक्र नीति 2/434
3. मुकर्जी राधा कुमुद, हिन्दू सिविलाइजेशन पृ. 19।
4. अयोध्या कांड 3/9

ललिता के पास युद्ध संबंधी दो मंत्री थे। श्री दण्डनाथा व श्री मंत्रिनाथ ।[1] संभवतः सेनापति के युद्धमंत्री चतुरंगिणी सेना के बलाध्यक्ष ही होते थे। गुप्त राज्य में युद्धमंत्री महाबलधिकृत होता था।[2] युद्धमंत्री का युद्ध-कौशल शास्त्र संचालन और सैन्य-संगठन में प्रवीण होना चाहिए

साधिविग्रहिक का सर्वप्रथम उल्लेख महाभारत[3] में हुआ है। यह राजा का परराष्ट्र मंत्री एवं मंत्रिमंडल का सबसे महत्वपूर्ण सदस्य था। सन्धि एवं युद्ध में मामलों में परामर्श देने का कार्य साधिविग्रहिक करता था[4] साधिविग्रहिक का पद गुप्त काल में विशेष रूप से प्रचलित रहा। समुद्र गुप्त के समय हरिषेण इस पद पर था[5] इसी तरह चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का साधिविग्रहिक वीर सेन युद्ध स्थल में गया था।[6]

गुप्तकालीन सेनाधिकारीयों में महासमान्त का उल्लेख। [7]

दुर्ग की रक्षा करने वाले को दुर्ग पाल कहा जाता था। इसे कोहपाल भी कहा जाता है।[8] पत्याध्यक्ष पैदल सैनिक का प्रधान अधिकारी था[9] जिसे अभिलेखों में बलाध्यक्ष या बलाधिकरण भी कहा गया है।[10]

रथ सेना का प्रमुख अधिकारी रथाध्यक्ष कहलाता था। यह सेना में काम आने वाले रथों का अध्यक्ष था।

---

1. ब्राम्हण पुराण- 4/26।
2. एपिग्राफी इंडिका-10,71, ।
3. शांति पर्वअध्याय 85 श्लोक 30।
4. फलीट 35-36।
5. प्रयाग प्रशस्ति के 32वी पंक्ति (सरकार, जी.सी. सेलेक्ट इंसक्रिपशंस), जिल्द1, पृ. 264।
6. कापर्स इंसक्रिप्सन इंडिकेरम, 3,286,4-1,पृ. 259।
7. कापर्स इंसक्रिप्सन इंडिकेरम, 3, 286,4-1,पृ. 259।
8. कापर्स इंसक्रिप्सन इंडिकेरम 4-1,पृ. 367।
9. अर्थ शास्त्र 2.33.7
10. बसरा का मुहराभिलेख हिस्ट्री आफ बंगाल भाग-1, एपेण्डिक्स पृ. 284।

इसके कार्यों का विस्तृत वर्णन अर्थशास्त्र में मिलता है।[1] रथ के अनेक प्रकार के योद्धाओं का वर्णन महाभारत में प्राप्त है, जिन्हें महारथी, रथी, अतिरथी तथा अर्धरथी कहते थे।[2] संभव है कि ये योद्ध भी रथ सेना के प्रमुख अधिकारीयों में गणना किए जाते रहे थे।

राजकीय अश्वों के प्रबंध कर्ता और निरीक्षण कर्ता अधिकारी का नाम अश्वाध्यक्ष था। इसके विस्तृत कार्यों का वर्णन अर्थशास्त्र[3] तथा शुक्रनीति[4] में उपलब्ध होता है। वह अश्व सेना का प्रधान अधिकारी था। नकुल विराट राज्य के यहां अश्वाध्यक्ष थे। गुप्त काल में महाश्वपति का उल्लेख मिलता है।[5] गुप्त अभिलेख में रणभाण्डागाराधिकरण का उल्लेख मिलता है।[6] संभवतः विष्टि भाग का यही सर्वोच्च अधिकारी था ।सेना के सम्पूर्ण अंगों के रसद, आयुध वेष तथा अन्य युद्धोपकरण सम्बन्धि आपूर्ति के लिए रणभाण्डाराधिकरण ही उत्तरदायी था।

हस्त्याध्यक्ष हस्तिसेना का प्रमुख अधिकारी था। इसका विस्तृत वर्णन शुक्र[7] तथा कौटिल्य[8] ने किया है। इसे गजाधिपति, महाप्रभान्तर तथा महापीलु पति के नाम से भी ग्रन्थों[9] एवं अभिलेखों में उल्लेख मिलता है।[10] नावाध्यक्ष नौ सेना का सर्वोच्च अधिकारी था। इसे नौकाध्यक्ष[11] अथवा नावाध्यक्ष[12] भी कहा गया है।

---

1. अर्थ शास्त्र 2.33.1।
2. महाभारत उद्योग पर्व- 165-71।
3. अर्थ शास्त्र (कांगले द्वारा संपा.) भाग1, 2.30.2।
4. शुक्रनीति 2/231-32।
5. कापर्स इंसक्रिप्सन इंडिकेरम 4-1, पृ. 259।
6. कापर्स इंसक्रिप्सन इंडिकेरम 4-1, 259।
7. शुक्रनीति 2/128-30।
8. अर्थ शास्त्र (कांगले द्वारा संपा.) भाग1, 2.31.1।
9. शुक्रनीति 2/128-30।
10. एपिग्राफी इंडिका ,25 पृ. 52।
11. अर्थ शास्त्र ,2.28.1।
12. चक्रवर्ती, पी.सी., दि आर्ट आफ वार इन ऐंश्येंट इंडिया, पृ. 62।

सैन्य संगठन के प्रत्येक इकाई का एक सेनाधिकारी होता था जिसे क्रमशः पत्तिय या पत्तिपाल, सेनामुखपति या पाल, गौल्मिक, गणपति, वंदिनीपति, पृतनापति, चमूपति या चमूप अथवा दण्डानिनाथ, अनीकिपति तथा अक्षौहिणीपति कहते थे। अक्षौहिणी पति को सेना प्रणेतार भी कहा गया है। महाभारत में दस, सौ तथा हजार सैनिकों के एक एक अधिकारी का उललेख है।[1] जिनका तादात्म्य अर्थशास्त्र में वर्णित पदिक, सेनापति तथा नायक से कर सकते है।[2] अधिकारियों के संरक्षण में भारतीय सेना का संगठन उच्च कोटि का हो गया था।[3]

सैन्याधिकारियों के अतिरिक्त सेना में कतिपय वर्ग ऐसे भी थे जो मात्र युद्ध करते अथवा सेना की सेवा सुश्रुता राजा को प्रेरणा और उत्साह प्रदान करते थे। सेना के इन व्यक्तियों को हम असैन्याधिकारी वर्ग के अन्तर्गत रख सकते है। पुरोहित की गणना सर्वप्रथम असैन्याधिकारी के संदर्भ में किया जा सकता है। पुरोहित केवल याचक और पुजारी मात्र नहीं थे बल्कि शब्द की रक्षा भार उन पर सौंपा गया था। एतरेय ब्राहमण में पुरोहित को राष्ट्रगोप कहा गया है।[4] कौटिल्य का कथन है कि युद्ध चलते समय प्रधानमंत्री एवं पुरोहित को चाहिए कि वेदमंत्रो एवं सांस्कृतिक साहित्य के उद्धरणों के द्वारा सैनिकों का उत्साहवर्द्धन करते रहे और मरने वालों के लिए दूसरे जन्म में अच्छे पुरस्कारों की घोषणा करते है।[5] शुक्रनीति का कथन है कि पुरोहित को अन्य गुणों के साथ धर्नुवेद का जानकार, अस्त्रशस्त्र में निपुण, युद्ध के लिए सेना की टुकड़ियां बनाने में दक्ष और प्रभाव शाली होना चाहिए।राजा के साथ युद्ध में एक सचिव भी जाता था। जो कि राजा को आवश्यकतानुसार राय देता था। वैद्य चिकित्सको, तक्षकों, शिविर आदि निर्माण करने वाले अनेक शिल्पियों की गणना इसी असैन्याधिकारी के अन्तर्गत की जा सकती है। ये अपने कर्तव्यों का पालन प्रयाण मार्ग

---

1. शांति पर्व 100/32।
2. अर्थ शास्त्र (कांगले द्वारा संपा.) भाग1, 10.6.45।
3. दि मौर्यान पालिटी पृ. 193-94।
4. एतेरेय ब्राम्हण 40/2 ।
5. अर्थ शास्त्र ,10.3.,34-38।

अथवा शिविर में करते थे। विष्टि भाग के थे समस्त विभाग के समस्त कर्मचारी इसके अन्तर्गत गणना की जा सकती थी।[1]

इनका मुख्य कार्य सेवकों द्वारा प्रमाण से पूर्व मार्गशोधन तथा कूपादि का निर्माण करना था। इस प्रकार से प्राचीन भारतीय सेना सैन्याधिकारीयों तथा असैन्याधिकारियों से परिपूर्ण रहने के कारण अपराजेय थी।

वेतन : प्राचीन काल में सेना के सैनिकों को वेतन का भी प्रावधान था। युद्ध के समय सैनिको को योग्यतानुसार वेतन का अग्रिम भुगतान आवश्यकतानुसार कर दिया जाता था।इस संदर्भ में हमें रामायण एवं महाभरत से जानकारी मिलती है।[2] कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में सैनिकों के वेतन दिए जाने का उल्लेख करता है।[3] अग्नि पुराण के अनुसार सैनिकों को नियमित वेतन देते से सेना सुदृढ़ होती थी।[4] आचार्य शुक्र के अनुसार शिक्षित सैनिको से पूर्ण वेतन देना चाहिए तथा अप्रशिक्षित अथवा प्रशिक्षण प्राप्त करने वाले सैनिकों को आधा वेतन देना चाहिए आपत्ति के समय में यदि राजा असमर्थ हो तो धनी सैनिको को बिना वेतन लिए ही सैनिक कार्य करना चाहिए ।[5] समय पर वेतन देन पर सेना स्वामी से विरक्त हो जाती थी।[6] शास्त्रो मे नकद वेतन के स्थान पर भूमि देने का उल्लेख आता है कौटिल्य के अनुसार वह भूमि कर से मुक्त होती थी।[7] लेकिन अर्थ शास्त्र में इसका स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता जब कि बाद के कालों के अभिलेखों भूमि दान के उल्लेख मिलते है।[8]

सैनिकों के वेतन और भूमिदान के अतिरिक्त युद्ध स्थल पर तथा विजयों के उपरान्त पुरस्कार देने की भी

---

1. शुक्र नीति 21/43-44।
2. शांति पर्व 41/12, वनपर्व 15/21, रामायण 1/7/10 द्रोणपर्व 1/4/6-8, भीष्म पर्व 76/9।
3. अर्थ शास्त्र 8/5/4।
4. अग्नि पुराण 239/31।
5. शुक्रनीति 4/7/393-94, 5/53-54।
6. शांति पर्व 107/13।
7. अर्थ शास्त्र 2/35/1।
8. एपिग्राफी इंडिका, 14 नं.9।

व्यवस्था था ऐसा उल्लेख कामन्दक नीतिसार ,अग्निपुराण और में मिलता है।[1] सैनिको को रत्न,धन, एवं पद से पुरस्कृत किया जाता था।[2] राजा सैनिकों को वेतन भूमिदान व पुरस्कार के अतिरिक्त पर्याप्त सम्मान भी देता था। राजा इस सम्मान का प्रदर्शन विभिन्न प्रकार से करता था। कभी मधुर वाणी, कभी पुरस्कार, दानादि से,कभी पदक देकर प्रेमयुक्त दृष्टिपात से, उपकारी मित्र ही नहीं अपितु सहोदर भाई के समान बतलाकर, सेना में मृत सैनिको के परिजनो के बच्चों को जीवन निर्वाह का प्रबन्ध करके, सम्मान प्रदर्शन किया जाता था।[3]

---

1. कामन्दक नीतिसार 20/18-21, अग्निपुराण 242/34-35 ।
2. रामायण पर्व, 6 । 125/3-6, 10-11 वन पर्व 29/55-50 ।
3. अर्थ शास्त्र 2/3/29-32 ।

द्वितीय अध्याय : अस्त्र-शस्त्र

अध्याय - 2

अस्त्र-शस्त्र

संस्कृति के विकास के साथ-साथ आयुधों में परिवर्तन होता गया । प्रारम्भ में मानव के अस्त्र प्रकृति प्रदत्त थे - दाँत व नाखून । बाद में संस्कृति के विकास के साथ पत्थर, हड्डियों और जानवरों की सींगों से निर्मित आयुधों का प्रयोग होने लगा । कुछ समय बाद गोफन ३स्लिंग३ की खोज हुई, जिनमें पत्थर के टुकड़े को दूर से ही फेंक कर शत्रु को घायल किया जाता था । गोफन से अधिक प्रभावशाली आयुध धनुष- बाण का प्रयोग बाद के समय प्रारम्भ हुआ, जिसकी महत्ता किसी न किसी रूप में आज तक विद्यमान है। क्योंकि आजकल के आदिवासी जातियों का प्रमुख अस्त्र-शस्त्र धनुष-बाण है, जिससे एक तो वह अपनी सुरक्षा करते हैं और दूसरे जंगली जानवरों का शिकार कर अपना जीविकोपार्जन करते हैं ।

धनुष में प्रयोग में लाये जाने वाले बाणों के अग्रभाग पहले कठोर लकड़ी और पशुओं के सींग के बनते थे और उनमें से कुछ विष बुझे होते थे, किन्तु धातुओं के आविष्कार के साथ-साथ काँसे, ताँबे और लोहे के भी फल बनने लगे। लेकिन हमें प्रागैतिहासिक काल के मध्य पषाण के चरण से पत्थरों के बाणाग्र के भी प्रमाण मिले हैं। इस सन्दर्भ में सरायनहरराय से प्राप्त श्वाधान के पसली में पत्थर के बाणाग्र के चिन्ह मिलते हैं।[1] वैदिक काल में आयुध लकड़ी, जानवरों की हड्डियों, सींगों तथा धातुओं से बनते हो ऐसा वर्णन ऋग्वेद में मिलता है। वैदिक संस्कृति का विकास कई चरणों में हुआ है। इसलिए

---

1. शर्मा, जी० आर०, के० सी० चट्टोपाध्याय मेमोरियल वल्यूम, सीजनल माइग्रेशन ऐंड मेसोलेथिक लेक कल्चर ऑफ दि गंगा वैली, **1975**, प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, इलाहाबाद विश्विद्यालय, पृ० **19.**

इन्द्र के बज्र का प्रारम्भ में पत्थर से निर्मित होने का उल्लेख मिलता है।[1] बाद में हड्डियों[2] तथा फिर इसके धातु से बने होने का उल्लेख मिलता है।[3] ऋग्वेद में बांस के डंडे और गदा से शत्रु पर आक्रमण करने का उल्लेख मिलता है।[4] इससे ऐसा लगता है प्रारम्भिक काल से लेकर अब तक के आयुधों का निर्माण लकड़ी और लोहे से होता रहा।[5]

वर्गीकरण:

आयुधों को दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है-आक्रमणात्मक एवं सुरक्षात्मक।शस्त्रों में सुरक्षात्मक ढाल, कवच, सिरस्त्राण, हस्तघ्न, एवं अंगुलित्राण अथवा तल त्राण, कण्ठ त्राण, पदस्त्राण आदि अन्य को रखा जा सकता है। सुरक्षात्मक शस्त्रों को छोड़कर अन्य सभी अस्त्र-शस्त्र को आक्रमणात्मक शस्त्रास्त्र के अन्तर्गत रखा जा सकता है । पुनः दो वर्गों में आक्रमणात्मक अस्त्रों को विभक्त किया जा सकता है- आघात अस्त्र- जैसे तलवार, भाला और संगीन जो निकट से ही प्रयुक्त किए जा सकते हैं। प्रक्षेपी अस्त्र, जैसे - बाण, स्फोटास्त्र, जो शत्रु को दूर से मार सकते हैं।

प्राचीन भारतीय ग्रन्थों[6] में आयुधों को चार वर्गों में विभक्त किया गया है- मुक्त, अमुक्त, यंत्रमुक्त और मुक्तामुक्त। मुक्त अस्त्र उसे कहते हैं जो धनुष या हाथ से फेंके जाते हैं, अमुक्त-अस्त्र उसे कहते हैं जिस शस्त्र को हाथ से पकड़कर प्रहार किया जाय उदाहरणार्थ- गदा, तलवार आदि। यंत्र मुक्त से तात्पर्य किसी मशीन या यंत्र से फेंके जाने वाले शस्त्र से है, जैसे- शोला आदि। मुक्तामुक्त से तात्पर्य ऐसा अस्त्र जो शत्रु पर प्रयोग के बाद हाथ में वापस आने वाले अस्त्र से है,जैसे चक्र,वज्र आदि।

---

1. ऋग्वेद, 2/14/6,7/104/5.
2. ऋग्वेदश् 1/84/13.
3. ऋग्वेद 8/83/3, 10/48/3.
4. दास, अविनाशचन्द्र, ऋग्वैदिक कल्चर, पृ० 331
5. मित्र, राजेन्द्रलाल, इन्डों आर्यन्स, खंड 1, पृ० 295-353.
6. आदि पर्व 129/21-22.

आयुधों के भार, स्वरूप तथा गति के आधार पर अर्थशास्त्र में भेद किया गया है।[1] कौटिल्य ने "स्थिर-यंत्र" और "चल- यंत्र" को गति के आधार पर वर्गीकृत किया है । कौटिल्य ने "हलमुख शस्त्र" स्वरूप के आधार पर बताये हैं।इस श्रेणी में वे शस्त्र हैं, जिनकी नोक हल की भांति होती हो। कौटिल्य ने आकार एवं स्वरूप के अनुसार इनकी कई श्रेणियां बताई हैं। जिनमें खड्ग, धनुष-बाण, क्षुर व अन्य अस्त्र-शस्त्र हैं।

दस प्रकार के शस्त्रों का स्थिर यंत्रों की श्रेणी में उल्लेख हुआ है- सर्वतोभद्र, जामदन्य, बहुमुख, विश्वासघाती, संघारि, यानक, पर्जन्यक, बाहुयंत्र, उर्ध्वबाहु तथा अर्धबाहु ।

सत्रह प्रकार के चल यंत्र[2] बताए गए हैं- पंचालिक, देवदंड, सूकरिका, मूसलयष्टि, हस्तिवारक, तालवृत, मुद्गर, द्रुघण, गदा, स्पृक्तला, कुदाल, आस्फोटिम, उद्घाटिम, उत्पाटिम, शतघ्नी, त्रिशूल व चक्र ।

ग्यारह प्रकार के अस्त्रों को हलमुख[3] की श्रेणी में रखा गया है: शक्ति, प्रास, कुन्त, हाटक, भिंदिपाल, शूल, तोमर, बराहकर्ण, कणय, कर्पण तथा तासिका।

अन्य श्रेणी में[4]सर्वप्रथम धनुष को चार वर्ग में - कार्मक, कोदंड, धनु और द्रूण। बाण को पांच वर्ग में -वेणु, शर, श्लाका, दंडासन तथा नाराच। खड्ग को तीन प्रकार- निस्त्रिंश, मंडलाग्र तथा असियष्टि। क्षुर को सात प्रकार -परशु, कुठार, पट्टस खानित, कुदाल, क्रकच, कांड, छेदन। आयुध को पांच वर्गों में - यंत्र पाषाण, गोष्पण पाषाण, मुष्टिपाषाण, रोचनी तथा दृषद् ।

1- अर्थशास्त्र कांगले द्वारा सम्पादित, भाग 1, 2.18.6
2- अर्थशास्त्र 2.18.6
3- अर्थशास्त्र 2.18.7
4- अर्थ शास्त्र 2.18.8.

धनुष

धनुष-बाण को एक प्रधान आयुध वैदिक काल से ही माना जाता रहा है। मृतक संस्कार का अंतिम कृत्य ऋग्वेद के अनुसार मृत व्यक्ति के दाहिने हाथ से धनुष को ले जाना था। इस तथ्य से साफ जाहिर होता है कि इस काल में सदैव धनुष धारण किया जाता था और वैदिक काल का प्रधान अस्त्र-शस्त्र था।[1] मैकडोनल तथा कीथ का विचार है कि व्यवहारतः वैदिक कालीन युग में कोई अन्य आयुध का महत्वपूर्ण स्थान नहीं था।[2] शत्रु के ऊपर प्रयोग किए जानेवाले आयुधों का अथर्ववेद के एक श्लोक में उल्लेख मिलता है। इसमें सर्वोपरि स्थान धनुष-बाण को प्रदान किया गया है।[3] राजा का अत्यावश्यक गुण यजुर्वेद में धनुर्विद्या में प्रवीण होना माना गया है। राजा को शतधन्व के नाम से पुकारा जाता था।[4]

धनुष-बाण को महाकाव्य काल में भी महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया गया है। धनुर्विद्या का पूर्णतः विकास महाकाव्य काल तक हो चुका था। प्राचीन भारतीय वीरों को धनुर्विद्या में निपुण होने का स्पष्ट वर्णन बौद्ध जातकों में हुआ है।[5] अष्टाध्यायी में पाणिनि ने धनुष का उल्लेख करते हुए लिखा है कि बड़े धनुष को महेष्वास[6] तथा धनुष-बाण से लड़ने वाले को धानुष्क कहा जाता था।[7] धनुष-बाण चतुर्थ शताब्दी ई. पू. में भी प्रधान अस्त्र था। इस काल में सभी पैदल-सैनिक धनुष धारण करते थे।

---

1. ऋग्वेद 10.18.9.
2. कीथ एन्ड मैकडानल, वैदिक इन्डेक्स 1.388.
3. अथर्ववेद 11.9.1.
4. यजुर्ववेद 16.29.
5. महाउम्मग्ग जातक, (कोसल्यायन द्वारा अनु.) श्लोक 219, पृ. 492.
6. अष्टाध्यायी, 6.2.8
7. अष्टाध्यायी 4.4.58, द्रष्टव्य- अग्रवाल, वी. एस. पाणिनि कालीन भारत, पृ. 416

ऐसा वर्णन यूनानी लेखक एरियन ने किया है।[1] महाभाष्य में भी बड़े धनुष को महेस्वास कहा गया है।[2] पतंजलि ने गांडीव, अजगव और शारंग आदि प्रसिद्ध धनुष के नाम का उल्लेख महाभाष्य में किया है।[3] पतंजलि के अनुसार इष्वास नामक धनुष एक कोस की दूरी से भी लक्ष्य भेद कर सकता था।[4] हाथ में धनुष लिए हुए सैनिकों का वर्णन कालिदास ने भी किया है।[5] कालिदास ने अपने ग्रन्थों में अधिकांश सैनिकों को धनुर्धारी बताया है। कालिदास ने रघुवंश में बाए हाथ में बाण एवं दाहिने हाथ में धनुष लिए सैनिको द्वारा शर-संधान का उल्लेख है, जिससे सैनिको का निपुण होना सिद्ध होता है।[6] इससे यह स्पष्ट होता है कि गुप्त काल तक धनुर्विद्या में सैनिक सव्यसाची होते थे।

शिल्पकला में धनुष बाण का अंकन

शुंग-कालीन धनुष-बाण का अवलोकन भरहुत[7] और साँची की मूर्ति कलाओ में किया जा सकता है। भरहुत के एक स्तूप में नाव, रथ, तलवार के साथ सैनिकों का एक समूह चित्रित है जो हाथों में धनुष व बाण लिए हुए है। सांची स्तूप के दक्षिणी द्वार के निचले भाग में एक दृश्य का अंकन है इसमें लगभग प्रत्येक पैदल सैनिक धनुष-बाण से अपने शत्रु पर प्रहार कर रहें हैं।[8] विभिन्न

---

1. मजूमदार, आर. सी., क्लासिकल एकाउन्टस ऑफ इंडिया, पृ. 320
2. महाभाष्य 6.2.38
3. महाभाष्य 3.2.5
4. महाभाष्य 2.3.7
5. मालविकाग्नि मित्रम, अध्याय 5, पृ. 182; अनुवाद-नाथ, भटनागर
6. रघुवंश 7.57
7. कनिंघम, ए. दि स्तूप ऑफ भरहुरा, फलक 32
8. कनिंघम, ए. दि भिलसा टोप्स, पृ. 217, मार्शल, जी., गाइड टू साँची, फलक 4,5,26,27, द्रष्टव्य चित्र फलक 12.

प्रकार के धनुषों का अंकन सांची के अन्य दृश्यों में है।[1] अमरावती[2] गान्धार और नागार्जुनकोंडा की शिल्पकला में भी इस प्रकार के अनेक दृश्यों में विविध प्रकार के धनुषों का अंकन मिलता है। श्याम जातक दृश्य के चित्रण में राजा को शिकार करने की वेश-भूषा में गान्धार कला में दिखाया गया है, जो संयुक्त धनुष अपने बायें हाथ में लिए हुए है।[3] नागार्जुन कोंडा की शिल्प- कला में द्वितीय शताब्दी ई. के धनुष का अंकन देखने को मिलता है। इस शिल्पकला में एक व्यक्ति को धनुष लिए हुए दिखाया गया है।[4] ये धनुष अपेक्षाकृत लम्बे है जो गुप्तों एवं मौर्यों के बीच की स्थिति को प्रदर्शित करता है। ऐसे ही दृश्यों का अंकन अन्य शिल्प कलाओं में हुआ है। उदाहरणार्थ- मार आक्रमण[5] के दृश्य में मार के बाएं हाथ में तथा एक अन्य दृश्य में ललितासन में स्थित सिद्धार्थ के हाथ में धनुष का अंकन है।[6]

धनुष बाण का अंकन प्राचीनतम मूर्तिकला में भी हुआ है। शुंग कालीन कामदेव की कुछ प्रतिमाओं को नागर ने प्रकाशित किया है। इनमें घुमावदार धनुष का अंकन एक प्रतिमा के बाएं हाथ में हुआ है।[7] कुषाण कालीन अष्टभुजी विषणु की आकृति मथुरा संग्रहालय में सुरक्षित है जो एक

---

1. कनिंघम, ए. दि भिलसा टोप्स, पृ.216 -
2. शिवराममूर्ति, सी., अमरावती स्कल्पचर्स इन दि मद्रास गर्वनमेन्ट म्यूजियम, फलक 10, द्रष्टव्य चित्र फलक 13.
3. कृष्णामूर्ति, के., गांधार स्कल्पचर्स : ए कल्चरल सर्वे, पृ.108, द्रष्टव्य चित्र फलक 14.
4. कार्ल खंडेलवाल: इण्डियन स्कल्पचर्स एण्ड पेंटिंग्ज प्लेट 12 न. 39
5. लौंग हर्स्ट, दि बुद्धिष्ट एंटीक्विटीज ऑव नागार्जुनकोंडा मद्रास प्रेसीडेंसी, फलक-29अ, द्रष्टव्य चित्र फलक 15.
6. लौंगहर्स्ट , दि बुद्धिष्ट एंटीक्विटीज ऑव नागार्जुन कोंडा मद्रास प्रेसीडेंसी फलक 32अ
7. नागर, ए. एम., जरनल ऑफ उत्तर प्रदेश हिस्टोरिकल सोसायटी, जिल्द 17,1944 चित्र 3

हाथ में धनुष लिए हुए है।[1] मथुरा से प्राप्त प्रथम शताब्दी ई. के कुछ मृण्मूर्तियों पर कामदेव का अंकन है, जो बाए हाथ में धनुष तथा बाएं हाथ में बाणों का मुठ्ठा पकड़े हुए है।[2]

बोध गया से प्राप्त एक मूर्ति में सूर्य को अत्यंत गतिमान चार घोड़ों के रथ पर आसीन दिखाया गया है और ऊपर दोनों ओर उनकी पत्नियाँ प्रभा व छाया धनुष के द्वारा तिमिर पर बाण चला रही हैं।[3] नागार्जुनीकोन्डा संग्रहालय में तीसरी शताब्दी ई. की एक कांसे की सुन्दर प्रतिमा[4] उपलब्ध है जिसमें इक्ष्वाकु राजाकुमार सिद्धार्थ एक धनुष को हाथ में लिए हुए खड़े हैं। धनुष काफी लम्बा है एवं सुडौल भी। पर, प्रत्यंचा का स्पष्ट अंकन नहीं है। गुप्तकालीन प्रसिद्ध अभिलेख प्रयाग प्रशस्ति में[5] समुद्रगुप्त की प्रशंसा करते समय हरिषेण ने लिखा है कि सम्राट का शरीर अनन्य शस्त्रों के प्रहार से सुशोभित था, उनमें बाण का भी उल्लेख है। गुप्त कालीन मूर्तियों में भी इनके प्रमाण उपलब्ध है। देवगढ़ के दशावतार मन्दिर में "राम एवं लक्ष्मण आश्रम में" लक्ष्मण द्वारा सूर्पनखा की नाक काटना एवं" अहिल्या उद्धार" जैसे दृश्य हैं, जिनमें धनुर्विद्या की बहुत अधिक सामग्री मिलती है।[6] अहिच्छत्रा से पांचवी शताब्दी ई. की मृण्मूर्तियों के एक फलक में युधिष्ठर एवं जयद्रथ का रथ युद्ध अंकित है जहाँ तीर एवं धनुष द्वारा युद्ध हो रहा है धनुष का स्पष्ट एवं सुन्दर

---

1. अग्रवाल, वी. एस., बहमनिकल, इमेजेज इन मथुरा आर्ट फलक 14, चित्र 3, पृ. 124
2. काला, एस. सी. भारतीय मूर्तिकला, फलक 48
3. मार्शल, जे., जनरल ऑफ रायल एशियाटिक सोसायटी, 1908 पृ.1096, कुमार स्वामी, एच. आई. आई. ए. फलक 61
4. शिवराममूर्ति, सी., साउथ इन्डियन ब्रांजेज फलक-2अ पृ.69
5. सरकार डी. सी., सेलेक्ट इंसक्रिप्सन, जिल्द 1, पृ. 264
6. पंत, जी. एन., भारतीय अस्त्र-शस्त्र, फलक 3, पृ. 65

अंकन है।[1] उदयगिरि में गुफा संख्या 17 से 400ई. की दुर्गा माहिषर्दिनी की मूर्ति प्राप्त हुई है। इसके बांए हाथ में धनुष एवं दाहिने हाथ में बाण है।[2] अजन्ता की गुफा में भी धनुष बाण का चित्रण मिलता है विशेष गुफा संख्या 10 में। जिसमें राजा को धनुष की डोरी को दाहिने हाथ से कान तक खिंचे हुए हैं और बाएं हाथ से धनुष पकड़े हुए है।[3] हरहा और अफसड के लेखों में भी धनुष-बाण का स्पष्ट उल्लेख हुआ है, जिससे ऐसा लगता है परवर्ती गुप्तकाल तक धनुष-बाण एक प्रमुख अस्त्र-शस्त्र के रूप में विद्यमान रहा।[4]

मुद्राओं पर धनुष-बाण का अंकन

धनुष-बाण का अंकन प्राचीन मुद्राओं पर अधिक हुआ है। इस सन्दर्भ में सर्वप्रथम आहत मुद्रा का उल्लेख किया जा सकता है।[5] सीसे के कुछ सिक्कों पर भी धनुष-बाण का अंकन मिलता है उदाहरणार्थ- सातवाहन कालीन एक सिक्के के पुरोभाग पर धनुष की प्रत्यंचा नीचे की ओर, और नुकीला तीर ऊपर की ओर है।[6] धनुष-बाण से युक्त बैक्ट्रियन एवं यूनानी राजाओं के सिक्कों पर देवी-देवताओं को प्रायः अंकित किया गया है।

---

1. पंत, जी. एन., भारतीय अस्त्र-शस्त्र,' फलक 2, पृ.65 द्रष्टव्य चित फलक 16
2. हार्ले, जी.सी.," गुप्त स्कल्पचर" चित्र 16 पृ.35-36
3. याजदानी, जी., अजन्ता, जिल्द 3, फलक 29 पृ. 29-30
4. राय, उदय नारायन, गुप्त राजवंश तथा उसका युग, पृ. 750 व 758.
5. स्मिथ, वी.ए., कैटलाग ऑफ क्वायन्स इन दि इन्डियन म्यूजियम, कलकत्ता ,जिल्द 1, पृ. 140
6. स्मिथ वी. ए. ,कैटलाग ऑफ क्वायन्स इन दि इण्डियन म्यूजियम, कलकत्ता, जिल्द 1, पृ.209

उदाहरण के लिए डेमेट्रियस[1] की चाँदी एवं ताम्र सिक्कों के पृष्ठ भाग पर, अर्टेमिस, यूक्रेटाइडीज एवं अपोलों डोटस के चाँदी एवं ताम्र सिक्कों के पृष्ठ एवं पुरोभाग पर अपोलो के बाएं हाथ में तथा कुछ सिक्कों पर जमीन पर रखे हुए धनुष का अंकन है।[2] धनुष का अंकन स्ट्रैटो प्रथम की ताम्र मुद्राओं के पुरोभाग पर अपोलों के बाएं हाथ में है जिसे वह जमीन पर रखे हुए है।[3] ऐसे ही शक-शासक मावेज[4] के ताम्र सिक्कों के पुरोभाग पर अपोलों के बांए हाथ में एजेज[5] प्रथम की चाँदी की मुद्राओं के पुरोभाग पर राजा के हाथ तथा एजिलिसेज[6] की रजत मुद्राओं के पुरोभाग पर अश्वारोही राजा तथा स्पेलिरिसिस[7] के ताम्र सिक्कों पर टहलते हुए राजा के हाथ में धनुष का अंकन दिखाया गया है। कुषाणवंशी शासक हुविष्क के सिक्कों के पृष्ठ भाग पर देवता का ऐसा ही अंकन है, जो अपने बांए हाथ में धनुष धारण किए हुए है।[8] साहित्यिक,

---

1. स्मिथ, वी. ए., कैटलाग ऑफ क्वायन्स इन दि इण्डियन म्यूजियम, कलकत्ता, जिल्द 1, पृ.9; ह्वाइटहेड, बी.आर.कैटलाग ऑफ क्वायन्स इन दि पंजाब म्यूजियम लाहौर, फलक 1 सिक्का संख्या-22
2. ह्वाइटहेड, बी. आर., कैटलाग ऑफ क्वायन्स इन दि पंजाब म्यूजतयम, लाहौर, जिल्द 1 सिक्का संख्या 293-94 पृ. 43
3. ह्वाइटहेड, बी. आर.,---लाहौर, जिल्द 1, सिक्का संख्या 333-34, पृ.51
4. --फलक 10 सिक्का संख्या 35 खंड 2 पृ.103
5. स्मिथ, वी. ए., कैटलाग ऑफ क्वायन्स इन दि इण्डियन म्यूजियम, कलकत्ता, खंड 2, पृ.51
6. कनिघंम, ए., क्वायन्स ऑफ दि इंडोसीथियंस, शकाज ऐंड कुषाणाज, पृ.47-48
7. ह्वाइटहेड, बी. आर., कैटलाग ऑफ क्वायन्स इन दि पंजाब म्यूजियम, लाहौर, जिल्द खंड 2 पृ.153
8. स्मिथ, वी.ए., कैटलाग ऑफ क्वायन्स इन दि इण्डियन म्यूजियम पृ. 81

अभिलेख भित्ति चित्रों, एवं सिक्कों के माध्यम से ज्ञात होता है कि गुप्त काल में धनुष-बाण सैनिकों का प्रमुख अस्त्र शस्त्र हो गया था, इस सन्दर्भ में सर्वप्रथम समुद्र गुप्त कालीन धनुर्धारी प्रकार के सिक्कों का वर्णन किया जा सकता है, जिसके पुरोभाग पर राजा बायें हाथ में धनुष तथा दाहिने हाथ में बाण लिए हुए है।[1] समुद्र गुप्त के व्याघ्र निहंता प्रकार के सिक्कों पर राजा को बाएं हाथ से धनुष की प्रत्यंचा को खींचते हुए तथा दाहिने हाथ में बाण पकड़ें हुए अंकित किया गया है।[2] इसी प्रकार का अंकन चन्द्रगुप्त द्वितीय के सिक्कों पर भी हुआ है।[3] इन सिक्कों से तथा गुप्त कालीन साम्राज्य की सम्पन्नता से ऐसा लगता है। इन गुप्त राजाओ की भांति कुमार गुप्त, स्कन्दगुप्त, पुरुगुप्त, नरसिंहगुप्त, कुमारगुप्त द्वितीय, बुद्धगुप्त, विष्णु गुप्त, वैन्य गुप्त एवं प्रकाशदित्य के सिक्कों में भी भारतीय धर्नुविघा की सुन्दर झांकी मिलती है।

इस प्रकार प्राचीन शिल्प- कला, अभिलेख भित्ति चित्र व मुद्रा कला में जो अंकन धनुष बाण के सन्दर्भ में मिलते हैं, उससे ऐसा लगता है, कि प्रारम्भिक काल से लेकर छठीं शताब्दी ई. तक धनुष बाण का प्रचलन मुख्य आयुध के रूप में बना रहा इसीलिए प्राचीन स्रोतों में इस सन्दर्भ में पर्याप्त जानकारी होती है।

धनुष की नाप

धनुष की लम्बाई आवश्यकता अनुसार भिन्न भिन्न होती थी। इस सन्दर्भ में महाभारत में धनुष की लम्बाई छह हाथ होती थी।[4] द्रोणाचार्य का धनुष आदि पर्व में छह हाथ लम्बा बताया गया है।[5] ज्यादातर सैनिकों की लम्बाई के बराबर ही धनुष की लम्बाई होती थी । धनुर्वेद

---

1. अल्टेकर, अनन्तसदाशिव, गुप्तकालीन मुद्राएं, पृ.38
2. एलन, जे.कैटलाग ऑफ दि क्वायंसऑ गुप्ता डाइनेस्टीज ऐंड आफ श्शांक किंग ऑफ गौड, पृ.17 दृष्टव्य चि.फ.16 A 3.
3. अल्टेकर, ए.एस. गुप्तकालीन मुद्राएं, पृ.75
4. जनरल आफ दि ओरियन्टल सोसायटी 13,370
5. आदिपर्व 166/25,26,

उसी धनुष को उत्तम बताता है जिसकी लम्बाई धनुर्धारी की शक्ति के अनुकूल हो। कुछ विद्वानो के अनुसार साधारण धनुष की लम्बाई साढ़े चार हाथ तथा सींग से बने धनुष की लम्बाई साढ़े तीन हाथ होनी चाहिए ।[1] चतुर्थ शताब्दी ईस्वी पूर्व पैदल सैनिक अपनी ऊंचाई के बराबर एरियन के अनुसार धनुष धारण करते है।[2] इसी माप के कुछ धनुषों का अंकन सांची के स्तूप में भी है किन्तु अन्य छोटे है।[3] धनुर्धारी के बराबर धनुष का अंकन मुद्राओ पर भी है। उदाहरणार्थ कुषाण शासक हुविस्क की मुद्राओ के पुरोभाग पर एवं धनुर्धारी का अंकन है। जो अपने बराबर धनुष धारण किए हुए है।[4] धनुष की लम्बाई कौटिल्य ने पांच हाथ मानी है।[5] महेष्वास नामक धनुष की यही उंचाई थी। सिकन्दर के विरूद्ध वितास्ता के तट पर लड़े गए युद्ध में राजा पुरु. के पदाति सैनिको ने इसी प्रकार के धनुष से युद्ध किया था।[6] गुप्त सिक्को पर अंकित धनुष की लम्बाई लगभग साढ़े पांच फुट चक्रवर्ती के अनुसार प्रतीत होती है।[7] अग्नि पुराण चार हाथ लम्बा धनुष को निम्नकोटि का बताया है। इससे यह प्रतीत होता है कि धनुष की अधिकतम लम्बाई लगभग छह हाथ तथा न्यूनतम तीन हाथ होती थी।

धनुष निर्माण सामग्री एवं प्रकार:

धनुष कमानी और डोरी या प्रत्यंचा में विभक्त होता है। कमानी के सन्दर्भ में यह कहा जा सकता है कि

---

1. पंत, जी एन, इन्डियन आर्चरी, पाद टिप्पणी 144
2. मैक्रिडल, ऐंश्येंट इन्डियन एज डिस्क्राइब्ड बाई मैगस्थनीज ऐंड एरियन पृष्ठ 220,21
3. कनिंघम, ऐ, दि भिलसा टोप्स पृष्ठ 216
4. कनिंघम ए, क्वायंस आफ दि इंडो सीथियस, शकाज एंड कुषाणाज, 1971 पृष्ठ 63
5. अर्थशास्त्र 10.5.6
6. अग्रवाल, वासुदेव शरण, पाणिन कालिन भारतत, पृष्ठ 416
7. चक्रवर्ती, पी.सी, दि आर्ट आफ वार इन ऐंश्येंट, इंडिया, पादटिप्पणी , पृष्ठ 156

वह लकड़ी या सींग या धातु की बनी होती थी। बाँस से बनी कमानी का प्रयोग अधिक होता था क्योंकि इसमें लोच होती है। धनुष मजबूत डंडे का ऋग्वेद काल में बना होता था, जिसे झुकाकर धनुष की आकृति दे दी जाती थी। जिसका मध्यम भाग स्त्री के भृगुटी के सदृष्य होता था।[1] अब प्रश्न यह उठता है धनुष की प्रत्यंचा किस सामग्री की बनी होती थी । इस सम्बन्ध में अथर्ववेद में रेशम, गाय, भैंस, और बकरी चमड़े से निर्मित प्रत्यंचा को उत्तम बताया गया है।[2] अर्थशास्त्र के अनुसार मूर्वा आख सन गवेधुका वेणु और तांत की प्रत्यंचा बननी चाहिए[3] ताल से निर्मित धनुष का उल्लेख् अष्टाध्यायी एवं महाभावष्य में हुआ है।[4] धनुष निर्माण सामग्री एवं उनके विभिन्न नामों का उल्लेख कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में किया है। बांस के धनुष कोदंड् ताल की लकड़ी के बने धनुष को कार्मुक, दारू की लकड़ी से बने धनुष को द्रुण और सींग से बने धनुष को सारंग कहा गया है।[5] कमानी का निर्माण उर्पयुक्त वस्तुओं से किया जाता था, सिर्फ आग्निपुराण में ही धातु की कमानी का उल्लेख है।[6]

धनुष को निर्माण सामग्री के आधार पर दो भागों में बाटा जा सकता है साधारण व संयुक्त धनुष वह धनुष जो बांस या लकड़ी के टुकड़े से निर्मित होता था। साधारण धनुष कहलाता है। इस प्रकार के धनुष का प्रयोग प्राय हुआ है और इसका वर्णन साहित्य, मुद्रा एवं शिल्प कला[7] में किया गया है। वह धनुष जो एक से

---

1. ऋग्वेद 6/75/11
2. पंत जी एन, स्टडीज इन ऐश्येंट वेपंज एन्ड वारफेयर, पृष्ठ 63
3. अर्थशास्त्र कागले द्वारा संपा.,भाग 1,2,18,9।
4. अष्टाध्यायी,4/3/152;महाभाष्य 4/3/152
5. अर्थशासत्र 2,18,8
6. अग्निपुराण 249/4
7. लौंग हर्स्ट, ए. एच. दि बुद्धिस्टिक ऐंटिक्विटिज ऑव नागार्जुनकोन्डा मद्रास प्रेसीडेंसी, फलक 27 स.; जनरल आफ न्यूमिसमेटिक सोसायटी ऑव इन्डिया, जिल्द 23, चित 84.

अधिक वास्तुओ से निर्मित होता था सयुक्त धनुष कहलाता है। अग्नि पुराण के गद्यों में संयुक्त धनुष का उल्लेख हुआ है। धनुष का निर्माण पहले गद्य के अनुसार सींग औसम्मिश्रण लोहे के से होता था।[1] दूसरे में मध्य भाग लकड़ी के टुकड़े से जुड़ा हुआ था। शिल्प कला प्रमाण के रूप में गान्धार कला में सिर्फ संयुक्त धनुष का अंकन हुआ है। इसमे अंकित धनुष की आकृति से स्पष्ट होता है कि धनुष की कमानी में तीन घुमाव होते है और धनुष के दोनो कोनो पर छिद्र बने हुए रहते थे, जिनमें प्रत्यंचा बाधी जाती है।[2] संयुक्त धनुष का अंकन श्याम जातक के दृश्य में राजा के हाथ में हुआ है इस दृश्य में राजा बाये हाथ से संयुक्तधनुष पकड़े हुए है और दाहिने हाथ से धनुष की प्रत्यंचा खींचे हुए बाण छोड़ने की मुद्रा मे है।[3] ऐसा ही अंकन नागार्जुनकोन्डा के शिल्प-कला में हुआ है रसेल स्मिथ के अनुसार शको ने सर्वप्रथम सयुक्त धनुष का आविष्कार किया था।[4] संभवतः द्वितीय शताब्दी में भारत मे गान्धार में इसका प्रचलन हुआ । इस प्रकार के धनुष का अंकन सांची, आमरावती और नागार्जुनकोडा की शिल्प-कला में बहुत ही कम हुआ है। किन्तु गुप्त काल में इसका प्रचलन सामान्य हो गया था, जैसा कि समुद्रगुप्त[5] के सिंह निहता और व्याघ्रनिहता प्रकार के सिक्को में मिलता है।

---

1. अग्निपुराण, 343/4-10.
2. लौंगहर्स्ट, ए. एच., दि बुद्धिष्ट....मद्रास प्रेसीडेंसी फलक 29-अ.
3. कृष्णमूर्ति, के., गान्धार स्कल्पचर्स; ए-कल्चरल सर्वे पृ.108.
4. गोर्डे, पी. के., द्वारा उद्धृत बुलेटिन ऑव दि डेक्कन कालेज रिसर्च इंस्टिट्यूट, पूना, जिल्द 3, पृ. 38, दृष्टव्य- कृष्णमूर्ति, के., नागार्जुनकोन्डा ए. कल्चरल स्टडी, पृ.205.
5. प्रकाश, विद्या, जनरल ऑव न्यूमिसमेटिक सोसायटी ऑव इंडिया, जिल्द 23, पृ.284, चित्र 177.

धनुष चलाने के आठ पैतरों का उल्लेख धनुर्वेद में मिलता है। जिनमें कुछ इस प्रकार है अंगूठा, गुल्फ, हाथ तथा पैर सहित यदि शिलष्ठ हो तो लक्षण से यह स्थान समपाद देखा गया है। इस प्रकार के आसन का चित्रण भरहुत में रुरु जातक के दृश्य में हुआ है।[1] दूसरे विषहमपाद आसन अमरावती कला में देखने को मिलता है।[2] अमरावती स्तूप में अंकित एक दृश्य में रथ पर सवार होकर आलीढ़ मुद्रा में खड़ा योद्धा धनुष बाण चला रहा है।[3] कालिदास के अनुसार रघु ने इन्द्र के साथ युद्ध में इस प्रकार के आयन का प्रयोग किया था।[4] रानीगुम्फा व नागार्जुनकोंडा[5] के विकट आसन का चित्रण एवं अंकन हुआ है। जिसमें दोनों पैरों के बीच की दूरी अधिक होती है तथा दाया पैर कसा होता है। यूनानी इतिहासकारों के अनुसार बड़े धनुष का सिरा भूमि पर टेक बांए पांव से सहारा देकर दाहिने हाथ से डोरी खींची जाती है, सैनिक धनुष की कमानी को बाए हाथ में पकड़ता था और दाहिने हाथ से डोरी को कान तक खींचता था।[6] धनुष बाण चलाने की पद्धति का वर्णन करते हुए मिलिन्द पहन्हो में कहा गया है कि धनुष-बाण चलाने के लिए धर्नुधारी अपने पैरों को पृथ्वी पर ठीक से जमाता है। और घुटनों को सीधा करता है। तूणीर को कमर से आड़ देकर स्थिर रखता है, सारे शरीर को रोक कर एक हाथ से धनुष

---

1. कनिंघम, ए. दि स्तूप ऑफ भरहुत, उद्धृत पंत, जी. एन., स्टडीज इन ऐश्यंट वेपंस एन्ड वार फेयर, पृ. 67
2. पंत, जी. एन., स्टडीज इन ऐश्येंट वेपंस एन्ड वार फेयर, पृ. 67
3. शिवराममूर्ति, सी., अमरावती स्कल्पचर्स, दृष्टव्य पंत, जी. एन. स्टडीज इन ऐश्यंट वेपंस एन्ड वार फेयर, पृ. 622
4. रघुवंश 3.52
5. कृष्णमूर्ति, के., गान्धार स्कल्पचर्स: ए कल्चरल सर्वे, पृ. 205
6. रामायण 4.11.91, 3.51.9, अग्रवाल, वी. एस., हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन पृ. 89

पकड़ कर दूसरे से तीर चढ़ा देता था। मुठ्ठी को कसकर दबाता था और उंगलियों को सटा लेता था गला खींचकर मुह तथा एक आंख बन्द कर निशाना सीधा करके मन में दृढ़ विश्वास करके कि मैं निशाना ही मार दूगा धनुष से बाण छोड़ दिया जाता था।[1] अग्नि पुराण के मंडल[2] और वंडायता[3] पैतरों का उल्लेख है। इससे ऐसा लगता है कि हिन्दुओं धनुर्विद्या में अत्यन्त परिश्रम और तत्परता से इतनी उन्नत की थी कि घोड़े की पीठ पर से भी धनुष का प्रयोग करते थे।[4]

बाण:

बाणों का उल्लेख भी धनुष-बाण के साथ प्रचुर मात्रा में प्राचीन ग्रन्थों में हुआ है । बाण के लिए ईषु, शर्य, बाण, सायक आदि शब्दों का प्रयोग ऋग्वेद में हुआ है।[5] बाण शब्द की उत्पत्ति वण् धातु से हुई है । बाण छोड़ते समय गति में तीव्रता के कारण जो ध्वनि उत्पन्न होती है - इसलिए उसे बाण कहते हैं । सायक शब्द वध करने वाले अर्थ में सौ धातु से निष्पन्न होता है अत: वध करने में समर्थ होने के कारण वह सायक कहलाता है। ईषु शब्द हिंसा वाची ईष् धातु से बना है । शर, शारी व चस शब्द श्रृ हिंसा वाची इष् धातु से निष्पन्न है । अत: हिंसक होने के कारण उसके ये नाम है । शतपथ ब्राह्मण में शर शब्द की उत्पत्ति के बारे में रोचक कथा है ।[6]

बाण के तीन भाग होते हैं।[7] शरीर- यह नरकुल का बना होता था, बाण का अग्रभाग- यह सींग, कांसे, ताँबे या लोहे का बना होता था। पूँछ-बाण के दूसरे सिरे

---

1. मिलिन्द प्रश्न 6.7.7 परिच्छेद 6, पृ. 510-11, भिक्षु जगदीश कश्यप द्वारा हिन्दी अनुवाद
2. अग्नि पुराण 249.11
3. अग्नि पुराण 249.18
4. दीक्षितार वी.आर.आर वार इन ऐश्येंट इण्डिया, पृ.97
5. ऋग्वेद, 10.18.19
6. शतपथ ब्राह्मण 2.2.4 एवं 4.5.2-10
7. पंत, गायत्रीनाथ, इंडियन आर्चरी, पृ. 149-94

पर पंख लगा हुआ होता था, जिससे वह हवा को चीरते हुए तेजी से आगे बढ़ता था।[1] सरकंडे, बाँस या अन्य प्रकार की लकड़ी या लोहे का बाण का शरीर या मुख्य भाग बना होता था । प्रयुक्त सामग्री के आधार पर बाण के अनेक नाम बताये गए हैं । बांस से बने बाण को वेणु, सरकंडे के बने बाण को "शर", अन्य लकड़ी के दंड से निर्मित बाण को "श्लाका", आधे लोहे और आधे लकड़ी के बने बाण को "दंडासन" तथा सम्पूर्ण लोहे से बने बाण को "नाराच" कौटिल्य ने कहा है।[2]

महाभारत में दो प्रकार के बाणों का उल्लेख हुआ है – वैणव– यह संभवतः सरकंडे का बना होता था । आयस– यह लोहे का बना होता था । नाराच के बाण का भी उल्लेख महाभारत में हुआ है । नाराच का प्रयोग हाथियों को मारने के लिए चक्रवर्ती के अनुसार किया जाता था ।[3] नाराच लोहे के बाण का उल्लेख कालिदास ने भी किया है ।[4]

मुद्राओं पर अंकन:–

बाण का अंकन प्राचीनतम मुद्राओं पर मिलता है । उदाहरण के लिए आहत सिक्कों के पुरोभाग पर बाण का अंकन हुआ है।[5] दोनों हाथ से बाण पकड़े यूनानी शासक अपोलोडोटस के ताम्र सिक्कों के पुरोभाग पर अपोलों को दिखाया गया है ।[6] स्ट्रैटो प्रथम[7] तथा डाइनिसस[8] के

---

1. ऋग्वेद 3.30.15
2. अर्थशास्त्र (कांगले द्वारा संपा.) 2.18.10
3. चक्रवर्ती, पी.सी., दि आर्ट ऑफ वार इन ऐंश्येंट इण्डिया, पृ. 158
4. रघुवंष 4.41
5. स्मिथ, वी. ए., कैटलाग ऑफ क्वायन्स इन दि इन्डियन म्यूजियम, कलकत्ता, जिल्द 1 पृ.140
6. ह्वाइटहेड, बी. आर., कैटलाग ऑफ क्वायन्स इन दि पंजाब म्यूजियम, लाहौर, खंड एक सिक्का संख्या 332 पृ.46
7. ह्वाइटहेड बी. आर. ----------पृ. 51
8. ----------------खंड–1, फलक 7, सिक्का संख्या 520 पृ. 64

ताम्र सिक्कों पर अपोलों को दो हाथ से बाण पकड़े दिखाया गया है । ज्वायलस बाण के सिक्कों पर भी ऐसा ही अंकन हुआ है।[1] डिमेड्रियस की रजत-मुद्राओ के पुरोभाग पर आर्टेमिस की आकृति अंकित है जो अपने दाहिने हाथ से पीठ पर स्थित तरकस से बाण खींच रही है।[2]

बाण शक शासक मावेज के ताम्र सिक्कों के पुरोभाग पर चढ़ी प्रत्यंचा पर अंकित है।[3] तीर की नोक पश्चिमी क्षहरात क्षत्रप भूमक के ताम्र सिक्कों के पुरोभाग पर ऊपर की तरफ तथा तीर की नोक नहपान के चाँदी के सिक्कों के पृष्ठभाग पर नीचे की ओर अंकित है।[4] देवता द्वारा अपने हाथ से तरकस के बाण खींचते हुए कुषाण कालीन राजा हुविष्क के सिक्कों के पृष्ठभाग पर दिखाया गया है।[5] राजा के दाहिने हाथ में बाण का अंकन गुप्त शासक समुद्रगुप्त के धनुर्धारी प्रकार के सिक्कों पर है ।[6] गुप्त कालीन चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य कुमार गुप्त, स्कन्दगुप्त, घटोत्कच, नरसिंह गुप्त व अन्य राजाओ के सिक्कों पर बाण का अंकन दिखाया गया है ।[7]

---

1. ---- फलक 7, सिक्का संख्या 541-45, स्मिथ, वी. ए., कैटलाग ऑफ क्वायन्स इन दि इन्डियन म्यूजियम कलकत्ता, जिल्द 1, पृ. 28-29
2. स्मिथ, वी. ए., कैटलाग ऑफ क्वायन्स इनदि इन्डियन म्यूजियम, कलकत्ता, जिल्द 1, पृ. 9
3. ह्वाइटहेड, बी. आर., कैटलाग ऑफ क्वायन्स इन दि पंजाब म्यूजियम, लाहौर, फलक 10, सिक्का संख्या 17, 18 पृ. 100
4. रैप्सन, ई. जे., कैटलाग ऑफ दि क्वायन्स ऑफ दि आन्ध्र डाइनेस्टी, दिवेस्टर्न क्षत्रप ऐंड बैकूटक डाइनेस्टी ऐंड बोधि डाइनेस्टी, पृ. 63-65
5. कनिंघम, ए., क्वायन्स ऑफ दि इंडोसीथियंस शकाज ऐंड कुषाणाज, पृ. 63
6. अल्टेकर, यस., गुप्तकालीन मुद्राएं, पृ. 38
7. अल्टेकर, ए. एस., गुप्तकालीन मुद्राएं पृ. 63, 117, 185, 188, 190, 192, 195-96, 198 दृष्टव्य चित्र फलक 17

उत्खनन से प्राप्त बाणाग्र

लोहा, हड्डी, एवं हाथी-दाँत आदि के बाणाग्र पुरातात्विक उत्खनन से प्राचीन स्थलों से प्राप्त हुए हैं- लोहे के बाणाग्र पुरातात्विक उत्खनन में अनेक स्तरों से प्राप्त हुए हैं 605 ई.पू. 580 ई. तक कौशाम्बी[1] से, 600 ई. पू. से 100 ई. पू. तक श्रावस्ती[2] से 600 ई. पू., 200 ई. तक सोनपुर[3] से , अतरंजीखेड़ा से चित्रित धूसर मृद्‌भाण्ड काल से[4] जखेड़ा से चित्रित धूसर मृद्‌भाण्ड काल से[5] ,600 ई.पू. से 300 ई.पू. उज्जैन से[6], 600 ई.पू. से 300 ई.पू. तक हस्तिनापुर[7] से, तुमैन से 600 ई.पू. से 100 ई. तक[8], 300 ई. पू. से 200 ई.पू. तक सानूर से[9], 400 ई.पू. से 900 ई.पू. तक पाटन[10] से, 300ई. पू. से ईसवी सन के प्रारम्भ तक नगरा से[11],

---

1. शर्मा, जी. आर., एक्सकेवेशंस ऐट कौशाम्बी, फलक 40-41, 45-46 दृष्टव्य चित्त फलक 18 व 18 ए
2. सिन्हा, के.के., एक्सकेवेशंस ऐट श्रावस्ती पृष्ठ 68
3. सिन्हा, बी. पी., ऐंडवर्मा, बी. एस., सोनपुर एक्सकेवेशंस, फलक 44, पृ.128-207
4. गौड़, आर. सी. एक्सकेवेशंस ऐट अंतरंजीखेड़ा, फलक 47, 1-8 पृ. 219.2
5. इण्डियन आर्क्योलाजिकल रिव्यू, 1974-75, फलक 35 पृ. 44
6. इण्डियन आर्क्योलाजिकल रिव्यू,1956-57,पृ.36
7. ऐंश्येंट-इण्डिया संख्या 10, व 11, 1954-55, चित्र 31,19,पृ. 99
8. इण्डियन आर्क्योलाजिकल रिव्यू, 1972-73, पृ. 16
9. ऐंश्येंट इण्डिया संख्या 15, 1959चित्र 11, पृ. 37, दृष्टव्य चित्त फलक 19
10. इण्डियन आर्क्योलाजिकल रिव्यू, 1956-57 फलक 36 अ पृ. 37
11. मेहता, आर. एन., एक्सकेवेशंस ऐट नागरा पृ. 111-12, दृष्टव्य चित्त फलक 20

एलेश्वरम् से 200 ई.पू. से 100 ई. पू. तक[1], कौंडिन्यपुर से प्राक मौर्य कालीन[2], जोधपुर से उत्तरी कृष्णमार्जित मृद्भाण्ड काल[3] से, सोहगौरा से उत्तरी कृष्ण मार्जित मृद्भाण्ड काल का द्वितीय चरण से[4], मथुरा से एन. बी. पी. काल तक द्वितीय चरण में[5], सित्तनवासलसे लगभग प्रथम शताब्दी ई.पू. कालीन[6], वैशाली से 200 ई. पू. से 600 ई. तक[7], नेवासा से 150 ई. पू. से 200 ई.तक[8] पौनारसे 100 ई. पू. से 300 ई तक[9] ।

हाथी दांत एवं हड्डी के बाणाग्र

हाथी दात एवं हड्डी के निर्मित बाणाग्र भी लोहे के बाणाग्रों की भांति विभिन्न स्थलों से प्राप्त हुए है कौशाम्बी से 600 ई पूर्व से 200 ई पूर्व तक[10], सोनपुर से 650 ई. पूर्व से तक,[11] अतरंजीखेडा चित्रत धूसर

---

1. ए. डब्लू. एम. डी.,ऐ मोनोग्राफ ऑन एलेश्वरम एक्सकेवेशंस, फलक 13-ब
2. दीक्षित, मोरेश्वर, जी., एक्सकेवेशंस ऐट कौंडिन्यपुर, फलक 43,1-21,पृ.113-15
3. इण्डियन आर्क्योलाजिकल रिव्यू,1972-73 पृ.29
4. इण्डियन आर्क्योलाजिकल रिव्यू,1974-75 पृ.47
5. इण्डियन आर्क्योलाजिकल रिव्यू, 1976-77 फलक 56,57पृ.54-55 दृष्टव्य चित्र फलक 21
6. इण्डियन आर्क्योलाजिकल रिव्यू 1975-76 पृ.48
7. सिन्हा, बी.पी. ऐंड 214, सीताराम, वैशाली एक्सकेवेशंस, फलक 86, 87, पृ. 191-200
8. सांकलिया, हंसमुखधर ऐंड देव, एस. बी. ऐंड अंसारी, फाम हिस्ट्री टू प्री हिस्ट्री ऐट नेवासा पृ. 424-27
9. देव, एस.बी., ऐन्ड धवलिधर, एम. के. पौनार, फलक 31,चित्र 29,9,14,15,16, पृ. 94-95
10. शर्मा जी आर, एक्सकेवेशन एट कौशाम्बी, फलक 38 प्रष्ठ 47,56 दृष्टव्य चित्र फलक 22
11. सिन्हा बी पी ऐड वर्मा ,बी एस सोनपूर एक्सकेवेशान, फलक 46,1.23 पुष्ट 130/31

मृदभांड कालीन[1] तुमैन से 600ई पूर्व से 100 ई पूर्व तक[2], नगरा से 300 ई पूर्व से 100 ई तक[3], भड़ौच[4] से लगभग 300 ई पूर्व के अदि प्राप्त हुए हैं। सींग लकड़ी, हड्डी तथा धातु के बाण के फल बनते हैं। ये फल प्रारम्भिक अवस्था में पत्थर के बनते हैं। बाद के कालों में अन्य सामग्रियों को प्रयोग में लाया जाने लगा । लोहे लकड़ी तथा हड्डी फलों का उल्लेख अर्थ शास्त्र में हुआ है।[5] बन्दर गाय तथा हाथी के हड्डी के फलों का वर्णन द्रोणपर्व में हुआ है।[6] हेरोटोडस का कथन है कि 325 ई पूर्व में जिन भारतीय सैनिकों ने ईरानी सम्राट क्षयार्ष (जरक्सीज) की कमान मे यूनान के विरूद्ध युद्ध किया था, उसमें उन्होने लोहे के नोक या फाली लगे हुए बेत के बाणों का प्रयोग किया है।[7] अष्टाध्यायी में वर्णन आया है कि बाणों में लोहे का आँकुड़े लगे रहते थे, जिनसे बहुत ही पीड़ा होती थी।[8] मालवों के दुर्ग में युद्ध करते हुए ऐसा ही एक रूपतबाण सिकन्दर के कवच को छेदता हुआ उसके शरीर में घुस गया था, जिसके कारण उसे मरणांत तक पीड़ा हुई थी।[9]

---

1. गौड़ आर सी, एक्सकेवशन एट अतरंजीखेड़ा, फलक 44,118 पृष्ठ 217 412,-14
2. इण्डियन आर्कलोजिकल रिव्यू, 1972,73 पृष्ठ10
3. इण्डिया आक्येलोजिकल रिव्यू, 1963,64 फलक 6अ पृष्ठ 10
4. इण्डिया आर्कोलोजिकल रिव्यू, 1959,60 फलक 20 अ पृष्ठ 19
5. अर्थशास्त्र कांगले द्वारा संपा भाग 1, 2.18.11
6. द्रोणपर्व 188/11
7. मुकर्जी राधाकुमुद, हिन्दू सभ्यता, पृष्ठ 15
8. अग्रवाल वी. सी. पाणिनी कालीन भारतवर्ष पृ.,411
9. मैक्रिडल इंडिया ऐंड इट्स इनवेजन बाई अलेक्जेंडर, पृष्ठ 207

विभिन्न उल्लेख बाणों की लम्बाई एवं आकार के विषय में मिलते हैं

बाण की लम्बाई पांच विलिस्ता अर्थात तीन फुट के लगभग शतपथ–ब्राम्हण में बताई जाती है।[1] सबसे अच्छे बाण की लम्बाई 36 इंच, मध्यम बाण की 33 इंच तथा निम्न कोटि के बाणों की लम्बाई शिव धनुर्वेद के अनुसार 30 इंच होती है।[2] पोरस और सिकन्दर के विरूद्ध युद्ध में प्रयुक्त बाणों की तीव्रता एवं लम्बाई के विषय में एरियन लिखता है कि भारतीय सैनिकों द्वारा छोड़ें बाणों को किसी प्रकार की ढाल या कवच अथवा अन्य सुरक्षात्मक वस्तु रोकने में असमर्थ थी। भारतीय बाणों की लम्बाई तीन क्यूबिट से कुछ कम होती थी।[3] मौर्यकालीन बाणों की लम्बाई स्ट्रैबों ने तीन हाथ बताई है।[4] मौर्यकालीन कुछ बाणों की लम्बाई नौ फुट बताई गई है।[5] जो असम्भव प्रतीत होती है। इस असम्भव के सन्दर्भ में कौटिलय ने बताया है, कि बणों को झोले में रखकर हाथियों के हौदे में लटका दिया जाता था।[6] कनिंघम ने सांची में अंकित बाणों की लम्बाई तीन से पांच फुट तक आंकी है।[7] सर्वश्रेष्ठ बाण अग्नि पुराण के अनुसार बारह फुट लम्बा होना चाहिए[8] शुक्रनीति[9] के अनुसार बाण की लम्बाई क्रमशः तीन व दो हाथ होना चाहिए। इन तथ्यों का विश्लेषण करने से यही निष्कर्ण निकलता है कि बाणों की औसत लम्बाई 2 से 3 हाथ होती थी रघुवंश[10] और

---

1. शतपथ ब्राहमव, 6/512/10
2. पंत, गायती नाथ, इंडियन आर्चरी प्रष्ठ 169–71
3. मजूमदार आर सी द क्लासिकल एकाउंटस आफ इंडिया, पृष्ठ 230
4. मजूमदार आर सी दि क्लासिकल एकाउटस आफ इंडिया पृष्ठ 208
5. मैक्रिडल, ऐंश्येंट इंडिया पृष्ठ 73
6. पंत, जी. एन. इंडियन आर्चरी पृष्ठ 171
7. कनिंघम, ए, मिलसाटोप्स पृष्ठ 216
8. अग्निपुराण 249/36
9. शुक्रनीति 4/7/212
10. रघुवंश 3/59, 4/63

कुमार सम्भव[1] में अर्द्धचन्द्र की आकृति तथा अग्नि के फल के सदृश, फलवाले, जलते हुए मुख वाले तथा नासयुक्त बाणों का वर्णन कालिदास ने किया है।

पंख युक्त बाणों का उल्लेख भी प्राचीन साहित्य में मिलता है। बाणों की चौथाई वाले भाग मे इन पंखों को कसकर बांध दिया जाता था। हापकिंस के अनुसार श्येन या बाजा, राजहंस, तथा सारस के पंख प्रमुख रूप से लगाए जाते थे। रामायण में गिद्ध के पंखो के प्रयोग का उल्लेख है।[2] बाणों में बंधे हुए पंखों का उल्लेख कालिदास ने भी किया है।[3] एक मृण्मयी फलक में धनुर्धारी स्त्री का चित्रण है, जो दाहिने हाथ से पीठ पर बंधे तरकस से पंखयुक्त बाण खींच रही है[4] अत्याधिक मोटे तथा अत्यंत पतले टूटे हुए पुर्ननिर्मित छेदयुक्त बाणों का युद्ध में प्रयोग नहीं करना चाहिए।[5] मनुस्मृती के अनुसार विष से बुझे हुए जहरीले एवं कांटेदार बाणों के प्रयोग को वर्जित माना गया है।[6] कही कही अग्नि बाण का भी उल्लेख मिलता हैं। अर्थशास्त्र में अग्नि बाण बनाने की विविध विधियों का उल्लेख किया है। उनका प्रयोग घर जलाने के लिए किया जाता था, चिड़ियों और बन्दरों का प्रयोग अग्नि वाहक के रूप में उल्लेख किया जाता था।[7] कालिदास ने भी जलते हुए मुखों वाले बाणों का उल्लेख किया है।[8]

---

1. कुमार संभव 16/11, 17/4, 3/55
2. युद्धकांड 99/29, (रामनारायण संपा.) पृ. 861
3. रघुवश 3/56
4. पंत, जी. एन., इंडिया आर्चरी पृष्ठ 205/206
5. द्रोणपर्व 189/11-12
6. मनुस्मृति 7/90
7. अर्थशास्त्र (कागले संपा.), भाग 1 13.4.14 व 16
8. कुमार संभव 16/11, 17/4

तरकस :

तरकस के लिए निषंग इषुधि[1] तूण तूणीर उपासंग आदि शब्द भी मिलते हैं। हापकिन्स के अनुसार तरकस योद्धा की पीठ पर दायें भाग में बंधा होता था। प्रत्येक तरकस में लगभग दस से लेकर बीस बाण तक रखे जाते हैं।[2] ऋग्वैदिक काल मे योद्धा केवल एक तरकस धारण करता था किन्तु महाकाव्य काल में दो तरकस धारण करने का भी उल्लेख है। इन तरकसों को वे घोड़ों रथों और हाथियों पर रखकर आरूढ़ होते थे।[3] महाभारत में बड़े तरकसों को उपासंग कहा गया है जो घोड़े या हाथी की पीठ पर बंधे होते थे। और जिनमें अधिक संख्या में बाण रखे जाते थे।[4] ऋग्वेद में सोने के बने तरकस का उल्लेख है किन्तु इस वर्णन से स्पष्ट नहीं होता कि ये तरकस वास्तव में सोने द्वारा निर्मित होते थे या कवि की कोरी कल्पना मात्र हैं। कालिदास ने मालविकाग्निमित्रम[5] तथा रघुवंश[6] के तूणीर का उल्लेख किया है। हर्षचरित में चमड़ें से बने तरकस का उल्लेख है।[7]

मुद्राओ का अंकन :

प्राचीन सिक्कों पर भी तरकस का अंकन मिलता है।' शतपथ ब्राह्मण में प्युक्षण कहा गया है।[8] उदाहरण के लिए, शक शासक मावेज[9] के ताम्र सिक्को के पृष्ठ भाग पर तथा एजेज प्रथम के ताम्र सिक्कों पर राजा दो कूबड़ वाले ऊंट पर आसीन है जो दाहिने हाथ में कुल्हाड़ी लिए

---

1. ऋग्वेद 1/33/3
2. जनरल आफ दी अमेरिकन ओरिएन्टल सोसायटी 13,274
3. आदि पर्वस 255/22,23, उद्योगपर्व 60/12
4. द्रोणपर्व 29/16; शल्यपर्व 24/13
5. मित्र राजेन्द्र लाल, इंडोआर्यन्स खंड 1 पृष्ठ 303
6. मालविकाग्निमित्रम 5/10
7. रघुवंश 3/64
8. सूर्यकान्त, वैदिक कोश, पृष्ठ 311
9. ह्वाइटहेड, बी. आर. कैटलाग आफ दि क्वायंस इन दि पंजाब म्यूजियम, लाहौर, फलक 10, सिक्का संख्या 35 पृष्ठ 103

है तथा पीठि खोल का अंकन है।[1] इसी प्रकार पहलव शासकों की कुछ मुद्राओं के पृष्ठ भाग पर धनुष के साथ धनुष की खोल अंकित है।[2]

यूनानी शासक डेमेट्रियस के चांदी के सिक्कों के पुरोभाग पर आर्टेमिस को दाहिने हाथ से तरकस से बाण खींचते हुए[3] तथा अपोलोडोरस के ताम्र सिक्कों के पुरोभाग पर अपोलो की पीठ पर तरकस अंकित है।[4] आर्टेमिडोरस[5] के चांदी के सिक्को पर आर्टेमिस की पीठ तथा ज्वायलस[6] के सिक्को पर अपोलो की पीठ पर तरकस का अंकन है। कुषाणवंशी राजा हुविष्क के सिक्कों के पृष्ठ भाग पर एक देवता को दाहिने हाथ में पीठ पर बधे तरकस के बाण खींचते हुए दिखाया गया है।[7] इसी प्रकार गुप्त वंशी राजा चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य को दाहिने हाथ से तरकस से बाण खींचते हुए अंकित किया गया है।[8]

---

1. ह्वाइटहेड, बी. आर. कैटलाग आफ क्वायंस इन दि पंजाब म्यूजियम, लाहौर पृ.,124
2. कनिंघम, क्वायंस आफ दि इंडोसीथियंस शकाज एंड कुषाणाज पृष्ठ 65
3. ह्वाइटहेड बी. आर. कैटलाग आफ क्वायंस इन दि पंजाब म्यूजियम, लाहौर फलक/1 सिक्का संख्या 21, पृष्ठ 13, स्मिथ वी. ए. कैटलाग आफ क्वायंस इन दि इंडियन म्यूजियम, कलकत्ता, जिल्द 1 पृष्ठ 1
4. ह्वाइटहेड बी. आर. ...... लाहौर खण्ड 1 सिक्का संख्या 322 पृष्ठ 46
5. फलक सिक्का संख्या 7, 551 पृ. 68
6. स्मिथ वी. ए. कैटलाग आफ क्वायंस इन दि इंडियन म्यूजियम, कलकत्ता जिल्द 1 पृष्ठ 29
7. कनिघम, ए. क्वायंस आफ दि इंडोसीथियंस सकाज ऐंड कुषाणाज फलक 22 पृष्ठ 63
8. अल्टेकर ए. एस., गुप्तकालीन मुद्राएं पृष्ठ 66

शिल्प कला में अंकन

प्राचीन शिल्प कला में अनेक दृश्यों में तरकस का अंकन देखने को मिलता है। सांची स्तूप के दक्षिणी तोरण द्वार पर श्याम जातक दृश्य में योद्धाओं की पीठ पर तरकस अंकित है जो चर्मपट्ट में बंधा रहता है।[1] इसी प्रकार गान्धार कला में श्याम जातक दृश्य बाणों से परिपूर्ण तरकस अंकित है।[2] अजन्ता की गुफा संख्या सतह में बाण युक्त तरकस का चित्रण है, जो घोड़ो के जीन से बंधा हुआ है।[3]

प्राचीन भारत में नजदीक से लड़ाई करने में गदा का प्रयोग मुख्य रूप से किया जाता था। वैसे भी यह युद्ध में प्रयुक्त होने वाला प्रमुख आयुध था। सिन्धु घाटी के मोहनजोदड़ो एवं हड़प्पा घाटी के उत्खनन के परिणाम स्वरूप पत्थर व ताम्र गदा के प्रकाश में आने से ऐसा लगता है कि इसका उपयोग अति प्राचीन काल से होता रहा है।[4] वैदिक साहित्य में गदा के लिए विघन तथा द्रुघण शब्द का प्रयोग किया जाता था।[5] महाकाव्य काल में गदा एक प्रमुख अस्त्र के रूप में प्रयोग किया जाता था।[6] महाभारत में हमें आयोमयी गदा या सर्वायसी[7] गदा के नाम से जाना जाता है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि यह लोहे से बनी होती थी । गदाएं घण्डा तथा कंटक युक्त भी होती थी । लोहे की गदाओं पर स्वर्ण पत्र भी मढ़ दिए जाते थे।[8] गदा

---

1. मार्शल जे, एन्ड फुशे ए, मोनुमेंट आफ सांची फलक65
2. मार्शल, जे., दि बुद्धिष्ट आर्ट आफ गान्धार, फलक 73 चित्र 105
3. याजदानी, जी., जिल्द 4, पृष्ठ 74
4. मार्शल, जे., मोहनजोदड़ो एंड दि इंडस सिविलाइजेशन, पृ. 136
5. कीथव मैकडाल, वैदिक इन्डेक्स, पृष्ठ 329 तैतरीयसंहिता 3/2/411, शब्दार्थ कौस्तुभ 1094 अथर्ववेद 7/28/1
6. भीष्म पर्व 19/13
7. द्रोणपर्व 15/4, शल्यपर्व 32/37
8. हरिवंश विष्णुपर्व 90/43,97/12, भविष्यपर्व 50/7, उद्योगपर्व 51/8

युद्ध करते हुए योद्धा पैंतरे बदलकर मण्डालाकार घूमा करते थे। भीष्मपर्व तथा द्रोण पर्व के अनुसार क्रमश यह चार हाथ लम्बी तथा चार बालिस्त लम्बी षडभुजाकार होती थी।[1] इन गदाओ का युद्ध में निरन्तर प्रयोग होता रहा। यूनानी इतिहासकारों के अनुसार गदासिवि जाति का प्रमुख आयुध था।[2] मल्लाई लोगों की राजधानी में सिकन्दर की गर्दन पर गदा से प्रहार किया गया, जिससे पीड़ित होकर उसे स्वयं को संभालने के लिए प्लूटार्क के अनुसार दीवार का सहारा लेना पड़ा।[3] रघुवंश[4] में कालिदास ने गदाधारी रथारोहियों का उल्लेख किया है। शुक्रा इसे अष्टभुजाकार बताते है, ऐसा ही उल्लेख महाभारत के उद्योगपर्व में मिलता है।[5] आदिपर्व में प्रच्छेप विच्छेप परिच्छेप तथा अभिच्छेप ये चार विधिया गदा प्रहार की दी गई हैं। अग्नि पुराण के अनुसार तथा शल्यपर्व के अनुसार इसके प्रहार की अनेक विधियां है। अभिलेख में भी गदा मुद्रा का वर्णन है ।[6]

मुद्राओ पर गदा का अंकन :

साहित्य अभिलेखो तथा विदेशी विवरण के अतिरिक्त गदा का प्राचीन मुद्रा एवं शिल्प-कला में भी मिलता है। मुद्राओ पर गदा का अंकन प्रचुरता से मिलता है। हिन्द-बैक्ट्रियन तथा हिन्द यवन शक कुषाण शासकों के सिक्कों पर प्राय हेराक्लीज को गदा से युक्त दिखाया गया

---

1. महाभारत भीष्मपर्व 51/28, द्रोणपर्व, 134/10/11
2. मैक्रिडल इंडिया ऐंड इटस इनवेजन बाई अलेक्जेन्डर पृष्ठ 34/266
3. मैक्रिडल, अलेक्जेन्डर पृ. 312
4. रघुवंश 7152
5. उद्योग पर्व 51/8
6. कार्पस इंस किप्संस इंडिकेरम 3, 184 इंडियन एण्टिक्वेरी 11, 111 आदि

है। हिन्द-यवन[1] के रजत एवं ताम्र मुद्राओ के पुरोभाग एवं पृष्ठभाग पर हेराक्लीज को कभी बाये हाथ में तथा कभी दाहिने हाथ में, कभी घुटने पर रखे हुए तथा कभी जमीन पर गदा रखे हुए अंकित किया गया है शक शासक मावेज, ऐजेज प्रथम, एजिलिसेज बोनोनीज एवं स्पलेहर के रजत एव ताम्र सिक्को पर हेराक्लीज के हाथ में गदा का अंकन हुआ है।[2] इसी प्रकार कुषाण वंशी राजा कुजुल कडाफिसेजा की ताम्र मुद्राओ पर हेराक्लीज को गदा से युक्त अंकित किया गया। विमकडाफिसेजा के स्वर्ण सिक्कों के पुरोभाग पर राजा दाहिने हाथ में गदा लिए हुए है। विमकडाफिसेजा के कुछ सिक्कों के पुरोभाग पर गदा कंधे पर रखे हुए है और कभी ऊपर उठे हुए दाहिने हाथ में गदा लिए हुए अंकित किया गया है।[3] गुप्त कालीन स्वर्ण मुद्रा के राजारानी प्रकार व चक्रविक्रम प्रकार के सिक्कों

---

1. स्मिथ, वी. ए. कैटलाग्स आफ क्वायंस इन दि इंडिया म्यूजियम कलकत्ता, जिल्द 1 फलक 1 सिक्का संख्या 2,3,4,5,6, फलक 14 सिक्का संख्या 14 पृष्ठ 8 व 9 ह्वाइटेड, वी. ए., कैटलाग्स आफ क्वायंस इन दि पंजाब म्यूजियम लाहौर, खंड 1 फलक 1 सिक्का संख्या 6, 8, 18, 22, 27, फलक 5 सिक्का संख्या 366, 367, 368, फलक 8 सिक्का संख्या 362 फलक 7 सिक्का संख्या 522, 523, 524, पृष्ठ 51, 65, 77
2. ह्वाइटेड ...... लाहौर, फलक 10, सिक्का संख्या 25, 250; फलक 12 सिक्का संख्या 254, फलक 14, सि.स., 357, पृष्ठ 123,138,141
3. ह्वाइटेड ...... लाहौर, खंड 3 फलक 17 सिक्का संख्या 1,8,33, फलक 19 सिक्का संख्या 162 पृष्ठ 179, 184, 201, कनिंघम ए क्वायनस आफ दि इंडो सीथियन्स शकाजा ऐंड कुषाणाज फलक 15 सिक्का संख्या 1,2, पृष्ठ 29,30

पर राजा को बाए हाथ में गदा का अंकन है।[1]

शिल्प कला में गदा का अंकन :

गदा का अंकन प्राचीन भारतीय शिल्प कला में भी मिलता है जिसका प्रयोग युद्ध में होता था। यह नजदीकी लड़ाई का प्रमुख आयुध था, जिसे पैदल सैनिक अपने पास रखते थे। सांची-स्तूप के दक्षिणी तोरण द्वार के युद्ध दृश्य में आक्रमणकारियों एवं सुरक्षा करने वाले दोनो को गदा धारण किए हुए दिखाया गया है। इस दृश्य में एक सैनिक गदा दुर्ग की दीवार पर प्रहार करते हुए अंकित है। दुर्ग द्वार के दाहिनी तरफ अनेक पदातिसैनिक अपने दोनो हाथो मे गदा को पकड़कर सिर के ऊपर उठाए हुए दिखाये गए हैं। संभवतः ये गदा लकड़ी के बने होते थे तथा इनको मजबूती प्रदान करने के लिए कभी कभी चमड़े का खोल लपेट दिया जाता था।[2] अमरावती की कला में दो प्रकार की गदा का अंकन है। पहला छोटा एवं ठिगना जिसे एक छोटा सैनिक धारण किए हुए और दूसरा लम्बा और अधिक सुंदर है।[3] गांधार कला में केवल दो स्थानो पर गदा का अंकन हुआ है। दोनो स्थानों पर यह पुरुष संरक्षक द्वारा धारण किए हुए दिखाया गया है।[4] नागार्जुनकोंडा में गदा की दो आकृतियां मिलती हैं प्रथम कृति में इसका सिरोभाग मोटा और मुठिया की तरफ क्रमशः पतला होता गया है तथा द्वितीय कृति का शिरोभाग गोल है जिसमें एक पतला डंडा जुड़ा हुआ है। दो प्रकार की गदा का अंकन प्रथम आकृति मे भी है,

---

1. स्मिथ, वी. ए. कैटलाग आफ क्वायन्स इन दि इंडियन म्यूजियम, कलकत्ता, जिल्द 4, पृष्ठ 99, अल्टेकर गुप्त कालीन मुद्रा पृष्ठ 102
2. मार्शल जे., ऐंड फूशे ए., दि मानुमेन्टस आफ सांची रीमेन्स, फलक 15, 61, दृष्टव्य चित्र फलक 12
3. शिवराम मूर्ति सी., अमरावती स्कल्पचर्स इन दि मद्रास गर्वमेन्ट म्यूजियम फलक 10, 18, दृष्टव्य चित्र फलक 13
4. इन घोल्ट, हेराल्ड गान्धार आर्ट इन पाकिस्तान, चित 2, 3, दृष्टव्य चित्र फलक 14

छोटी गदा और लम्बी गदा दोनो मे केवल लम्बाई के अंतर है इन दोनों प्रकार की गदाओ को पैदल सैनिको बौने सैनिको द्वारा हाथ में धारण किए हुए दिखाया गया है। संभवत छोटी गदाओ का प्रयोग प्रक्षेपास्त्र के रूप में किया जाता था। इस कला मे इसका तीन प्रकार का अंकन है बेलनाकार[1], शुंडाकार[2] तथा वक्रीय[3]। बड़ी आकृति वाले गदा में भी दो प्रकार का अंकन[4] है, बेलनाकार लम्बी गदा तथा शुंडाकार लम्बी गदा। द्वितीय प्रकार की आकृति वाली गदा का अंकन केवल एक स्थान पर हुआ है। शिविरजातक दृश्य के अंकन में एक पुरुष परिचारक को इस गदा से युक्त अंकित किया गया है।[5]

बेग्राम से प्राप्त प्रथम शताब्दी ई. की हेराक्लीज की कांसे की छोटी मूर्ति मिली है जो काबुल संग्रहालय में सुरक्षित हैं, जिसमें हाथ में गदा लिए हुए दिखाया गया है।[6] मथुरा संग्रहालय में कुषाण कालीन चार भुजा वाले विष्णु की आसन मूर्ति सुरक्षित है इसके पीछे दाहिने हाथ में गदा है। कुषाण कालीन एक अन्य मूर्ति में विष्णु अपने ऊपर बांए हाथ में गदा लेकर गरूड के ऊपर आसीन हैं।[7] अम्बर संग्रहालय में सुरक्षित मालव नगर से प्राप्त दूसरी-तीसरी शताब्दी ई. की केयोलिन की बनी मूर्ति में तांबे से निर्मित देवता के शरीर का कुछ भाग प्राप्त हुआ है, जो बांए हाथ में चक्र तथा दाहिने हाथ में गदा पकड़े

---

1. लौंगहर्स्ट, ए. एच., फलक 37अ दि बुद्धिस्टिक ऐंटीक्विटज आफ नागार्जुनकोंडा, दृष्टव्य चित्र फलक 15
2. लौग हर्स्ट, ए. एच., फलक 33ब
3. लौंगहर्स्ट, ए. एच., फलक 41ब
4. लौग हर्स्ट, ए. एच., फलक 47अ 10अ, दृष्टव्य कृष्णमूर्ति के., नागार्जुनकोंडा कल्चरल स्टडी, पृष्ठ 195/96
5. लौग हर्स्ट, ए. एच., 42ब
6. अग्रवाल, पृथ्वी कुमार, अर्ली इण्डियन ब्रांजेज पृ. 100
7. कृष्णय नंदिध, दि आर्ट ऐंड आइकनोग्राफी ऑफ विष्णु नारायण, पृ.98

हुए है।[1] कुषाणकालीन चतुर्भुजी विष्णु की चार मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं, जो परस्पर भिन्न हैं। इनमें से बाईं तरफ से दूसरी मूर्ति के ऊपर दाहिने हाथ में गदा है। इस बात की ज्यादा संभावना है कि यह मूर्ति पहली शताब्दी ई. की है।[2] मथुरा से कुषाण कालीन कनिष्क की मस्तिष्क विहीन मूर्ति मिली है जो दाँए हाथ में गदा लिए है।[3] कंकाली टीला से प्राप्त कुषाण कालीन सूर्य की मूर्ति दोनों हाथों में गदा धारण किए हुए है।[4] इलाहाबाद संग्रहालय की मृण्मयी मूर्तियों में एक पुरुष मूर्ति में पुरुष अपने बाँए हाथ में गदा लिए हुए है। इसका समय 100 से 300 ई. है।[5] चौथी शताब्दी ई. की कई[6] मूर्तियाँ इलाहाबाद के भीटा, झूंसी, ऊंचाडीह के आस– पास स्थलों से प्राप्त हुई हैं जो लगभग चौथी शताब्दी ई. की है जिसमें देवताओ को दाँए हाथ में गदा धारण किए हुए दिखाया गया है। झूंसी वाली मूर्ति में देवता अपने दाँए हाथ में छोटी गदा पकड़े हुए हैं। भीतरी गाँव से गुप्त कालीन विष्णु की सिरविहीन मूर्ति मिली जिसमें वध दृश्य में दोनों

---

1. अग्रवाल, पृथ्वीकुमार, अनपब्लिश्ड स्कल्पचर्स ऐंड टेराकोटाज भाग राजस्थान जनरल ऑफ इण्डियन हिस्ट्री जिल्द 42, 1964, पृष्ठ 538 व आगे , चित्र 2
2. अग्रवाल, वी. एस.,"ब्राह्मनिकल इमेजेज इन मथुरा आर्ट" जनरल आफ दि इन्डियन सोसायटी ऑफ ओरिएंटल आर्ट, कलकत्ता जिल्द 5, 1937, पृ. 124
3. रोजनफील्ड, जे. एम. डायेनस्टिक आर्ट ऑफ दि कुषाणाज पृ. 179, ए. एस. आर., 1911-12 पृ. 123
4. रोजनफील्ड, जे. एम., डायनेस्टिक आर्ट ऑफ दि कुषाणज पृ. 189-90
5. काला, सतीशचन्द्र, "टेराकोटा इन दि इलाहाबाद म्यूजियम" चित्र 247 पृ. 89 दृष्टव्य चित्र फलक 23
6. प्रमोद चन्द्रा, स्टोन स्कल्पचर्स इन दि इलाहाबाद म्यूजियम

जंघा के बीच गदा दिखाया गया।[1] गुप्तकालीन मृण्मूर्तियों में राजघाट से गणेश की चतुर्भुजी मूर्ति प्राप्त हुई है जो ऊपर वाले बाए हाथ में गदा लिए हुए है।[2]

मुहरों पर गदा का अंकन :

गदा का अंकन प्राचीनतम मुहरों पर भी हुआ है। तक्षशिला से प्राप्त प्रथम शताब्दी ई. की एक ताम्र मुहर पर शिव के दाहिने हाथ में गदा का अंकन है।[3] कनिंघम ने एक यवन-कुषाण-शैली के मुहर में चतुर्भुज देवता का अंकन है जिसमें देवता निचले हाथ में गदा पकड़े हुए है।[4] एक अन्य कुषाण कालीन मुहर में हेराक्लीज को दाहिने हाथ में गदा लिए हुए दिखाया गया है।[5] राजघाट से प्राप्त गुप्तकालीन मुहरों पर गदा का अंकन हुआ है।[6] गुप्तकालीन एक अन्य मुहर पर गरूड़ के दाहिने हाथ में गदा अंकित है।[7]

मुसल :

गदा के लिए मुसल शब्द भी मिलता है । महाभारत में वर्णित एक प्रसंग से ऐसा लगता है कि गदा और मुसल में सूक्ष्म अंतर होता था। परन्तु यह अंतर किस प्रकार का था-स्पष्ट नहीं है। यह लोहे तथा लकड़ी का बना होता था। इसके दोनों तरफ शंखाकार नोक होती थी

---

1. कृष्णनदिय, दि आर्ट ऐंड आइक्नोग्राफी ऑफ विष्णु नारायण पृ. 98
2. श्रीवास्तव, एस. के., छवि: स्वर्ण जयन्ती अंक चित्र 540, दृष्टव्य चित्र फलक 24
3. आर्कियोलाजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया: एनुअल रिपोर्ट, 1914-15 फलक 247 पृ. 35, मार्शल जे., तक्षशिला जिल्द 2 संख्या 26 पृ.681
4. न्यूमिस्मेटिक क्रानिकल्स, तीसरी सिरीज, खंड 13, फलक 3, पृ. 126-27
5. थप्ल्याल, के. के. सील्स एन्ड सीलिंग्स पृ. 336
6. प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, मुहर संख्या 2
7. भारत कला भवन, वाराणसी संख्या 18900, इलाहाबाद संग्रहालय, संख्या 114,116 व 117

और मध्य भाग में छोटी सी मुठिया लगी होती थी। इसका आकार संभवतः आजकल गाँवों में अनाज कूटने के लिए प्रयुक्त मूसल जैसा होता था। महाकाव्यों में[1] एवं अर्थशास्त्र[2] में युद्धभूमि में प्रयुक्त होने वाले आयुध के रूप में इसका वर्णन किया गया है। प्राचीनकाल में सैन्य-आयुध के रूप में इसका महत्वपूर्ण स्थान था। शिल्पकला में अपेक्षाकृत कम अंकन हुआ है। सांची स्तूप संख्या एक के पश्चिमी तोरण द्वार में इसे केवल मारसेना के सैनिकों द्वारा ही धारण किए हुए दिखाया गया है।[3] मथुरा में जनसुटी गाँव से प्राप्त बलराम की मूर्ति में कन्धे पर हल और बांए हाथ में मूसल का चित्रण है।[4]

तलवार

तलवार का प्रयोग धनुष की तुलना में अपेक्षाकृत बाद में हुआ। यद्यपि वैदिक आर्य का प्रमुख अस्त्र-शस्त्र धनुष-बाण ही था। किन्तु तलवार, फरसा, भाला आदि भी युद्ध में प्रयुक्त होते थे। कृपाण[5] शब्द ऋग्वेद में मिलता है, जिसका अर्थ तलवार किया गया है । अतः हम कह सकते हैं कि युद्ध में तलवार का प्रयोग वैदिक काल से होता रहा है । तलवार कई नामें से प्रसिद्ध था। तलवार के लिए वैदिक काल में "निषंगी" तथा म्यान के लिए "निषंगधि" शब्द मिलता है।[6] तलवार के लिए "असि" शब्द का प्रयोग भी किया गया है। असि शब्द अस धातु से बना है जिसका अर्थ फेंक कर मारने वाला होता है। इस कारण तलवार को असि कहा जाता है।[7] म्यान के

---

1. (रामायण श्रीरामनारायन द्वारा अनुदित) 1.27.12, 6.53.8
2. अर्थशास्त्र 2.18.6
3. मार्शल, जे. ऐंड फूसे, दि मानुमेन्ट्स ऑफ सांची रीमेन्स, फलक 61
4. अग्रवाल, वी. एस., भारतीय कला, पृ. 243, द्रष्टव्य चित्र फलक 24
5. ऋग्वेद 10.12.10
6. उपाध्याय, बलदेव, वैदिक साहित्य और संस्कृति पृ. 479
7. अमरकोष, पृ. 293

लिए "वांजि" शब्द मिलता है।[1] सर्वदमन सिंह ने असि का अर्थ लम्बी तलवार, खड्ग अर्थ चौड़ी तलवार तथा निस्त्रंश का अर्थ छोटी तलवार किया है।[2] महाभाष्य में भी तलवार के लिए असि शब्द का प्रयोग किया गया है और इससे लड़ने वाले को आस्क कहा गया है।[3] पतंजलि के अनुसार धनुष-बाण के बाद असि का सर्वाधिक प्रयोग किया गया है।[4] कौटिल्य ने तलवार के लिए अर्थशास्त्र में निस्त्रिश, मंडलाग्र तथा असि शब्द का प्रयोग किया है।[5] बौद्ध ग्रन्थों के अनुसार पैदल सैनिक युद्ध में तलवार का प्रयोग करते थे।[6] तलवार का पूर्ण विकास हमें गुप्त युग में दिखाई पड़ता है। कालिदास के साहित्य में खंग, करवाल, असि एवं शस्त्र नामक तलवारों का उल्लेख मिलता है।[7] लवार का वर्णन चीनी यात्री ह्वेनसांग ने भी किया है।[8]

मुद्राओ पर तलवार का अंकन

तलवार का अंकन तत्कालीन मुद्राओ पर प्रायः मिलता है । केवल तलवार की मूठ का अंकन आहत रजत

---

1. सूर्यकान्त , वैदिक कोश, पृ. 30
2. सिंह, सर्वदमन, ऐंश्येंट इंडियन वार फेयरः विद स्पेशल रिफरेंस टु दि वैदिक पीरियड, पृ.109
3. अग्रवाल, वासुदेव शरण, पाणिनिकालीन भारत, पृ. 414
4. महाभाष्य 2.2.66 पृ. 392
5. अर्थशास्त्र कांगले संपादित, भाग 1, 2.18.12
6. औपपाति सूत्र 31, पृ. 132, विपाकसूत्र 2, पृ. 13, उद्धृत (जैन जगदीश चन्द, जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज) महाउम्मग जातक, 546, श्लोक 216,217
7. कुमार संभव, (कौशल्यायन) खण्ड 6, पृ. 491, 16.15, 17.45
8. वाटर्स, थामस, आन युवाङ्-च्वाङ. ट्रैवेल्स इन इण्डिया, जिल्द 1, पृ. 171

मुद्राओं पर हुआ है।[1] इसके अतिरिक्त सिक्कों पर तलवार तथा कहीं कहीं म्यान का अंकन हुआ है। ताम्र सिक्कों के पृष्ट भाग पर क्रमशः डायस्क्यूरी तथा पल्लास के कमर में लटकती हुई तलवार का अंकन मिलता है। ये सिक्के यूनानी व पह्लव राजा यूक्रेटाइडीज[2] व बौनीनीज[3], के हैं। इसी प्रकार एजिलिसेज के रजत-सिक्कों के पृष्ट भाग पर डायस्क्यूरी बांए हाथ में तलवार की मूठ पकड़े हुए हैं।[4] कनिष्क के सिक्कों के पुरोभाग पर तलवार का अंकन है। अन्य कुषाणवंशी राजा हुविष्क, वासुदेव तथा कनिष्क तृतीय की स्वर्ण मुद्राओं के पुरोभाग पर लटकती तलवार व मूठ का अंकन है।[5] ऐसा ही अंकन समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त द्वितीय व अन्य गुप्त राजाओं के सिक्कों पर तलवार का अंकन है। यहाँ पर समुद्र गुप्त की परशुधारी प्रकार ,चन्द्रगुप्त की अश्वारोही प्रकार,चक्रविक्रम प्रकार तथा कुमार गुप्त गेंडावध प्रकार के सिक्कों का विशेष उल्लेख किया जा सकता है।[6]

शिल्प-कला में तलवार का अंकन

प्राचीन शिल्प-कला में सर्वप्रथम तलवार का अंकन द्वितीय शताब्दी ई. पू. में मिलता है । सांची की कला

---

1. स्मिथ,वी.ए., कैटलाग ऑफ क्वायन्स इन दि इण्डियन म्यूजियम,कलकत्ता जिल्द 1,पृ. 140
2. स्मिथ-----------कलकत्ता पृ. 13
3. स्मिथ--------- कलकत्ता, खंड 3- पृष्ठ 41
4. ह्वाइटहेड, बी.आर., कैटलाग ऑफ क्वायन्स इन दि पंजाब म्यूजियम, लाहौर, फलक 13,सिक्का संख्या 32,9
5. स्मिथ- कलकत्ता, पृ. 84, 127, ह्वाटहेड --- लाहौर पृ. 195,मुखर्जी,बी.एन.,कुषाण क्वायन्स ऑफ दि लैंडऑफ दि फाइव रिवर्स, पृ. 34
6. अल्टेकर,ए.एस., गुप्तकालीन मुद्राएं पृ. 41, एलन, जे. कैटलाग ऑफ दि क्वायंस ऑफ दि गुप्ता डाइनेस्टीज ऐट ऑफ शशाकांकिंग ऑफ गौड पृ. 45

में दो प्रकार की तलवार का अंकन है। सांची स्तूप संख्या दो में घोड़े पर आरूढ़ अश्वारोही के दाहिने हाथ में एक चौड़ी तलवार है।[1] इसी स्तूप में यक्ष द्वारा आम्र के वृक्ष में तलवार लटकाए जाने का अंकन है[2] तथा एक अन्य जुलूस के दृश्य में भी योद्धा एवं परिचारकों के हाथ में तलवार लिए हुए अंकित किया गया है।[3] भरहुत में प्रदर्शित योद्धा की कमर पेटी से एक दुधारी तलवार लटक रही है। तथा शिल्प कला में म्यान का भी अंकन मिलता है।[4] भाजा की गुफा से पहली शताब्दी ई. में तलवार के विकास का प्रमाण प्राप्त होता है।। इस गुफा में एक सैनिक को तलवार लिए हुए दिखाया गया है।[5] कौशाम्बी से प्राप्त कुषाण कालीन फलक में स्पक्ष सिंह से लड़ते हुए एक पुरूष की आकृति है जिसके दाहिने हाथ में तलवार है।[6] मथुरा संग्रहालय की प्रथम शताब्दी ई. की सम्राट कनिष्क की प्रतिमा में मथुरा शैली में एक हाथ में लम्बी, दुधारी, दीर्घ व चौड़ी तलवार का अंकन हुआ है। आरंभिक कुषाण काल की सूर्य की एक प्रतिमा पाई गई, जिसमें उदीच्य वेश में सूर्य दो घोड़ो वाले रथ पर आसीन है और बांए हाथ में तलवार लिए हुए हैं।[7] पटना संग्रहालय में सुरक्षित बुलन्दीबाग से प्राप्त कुषाण कालीन

---

1. मार्शल, जे., एन्ड फुशे, ए., दि मानुमेन्ट्स ऑफ सांची रीमिन्स फलक 90 द्रष्टव्य चित्र फलक 12
2. मार्शल, जे. एन्ड फुशे, ए. दि मानुमेन्टस ऑफ सांची रीमिन्स फलक 66
3. मार्शल, जे. एन्ड फुशे, ए., दि मानुमेन्टस ऑफ सांची रीमिन्स फलक 61
4. कनिंघम, ए स्तूप ऑफ भरहुत, 1962, फलक 32 चित्र 1 पृ. 32-33
5. कुमारस्वामी, ए., हिस्ट्री ऑफ इंडियन ऐंड इंडोनेशियन आर्ट, फलक 7, चित्र 25
6. काला, सतीशचन्द्र, भारतीय मृतिका कला, चित्र 52 पृ. 26
7. अग्रवाल, वी. एस., भारतीय कला , पृ. 269

हाथीदांत के फलक में एक सैनिक को दांए हाथ में तलवार तथा बाएं हाथ में ढाल लिए हुए दिखाया गया है।[1] भाटग्राम से प्राप्त कनिष्क की मस्तिलकालि बिन मूर्ति में अलंकृत तलवार, मूठ व म्यान का अंकन मिलता है।[2] उदयगिरि की गुफा के रानी गुफा के तीसरे दृश्य में स्त्री का पुरुष तलवार से द्वन्द युद्ध करते हुए दिखाए गए हैं।[3]

इसी गुफा में एक अन्य दृश्य में शक जातीय राजकुमार को कमर में म्यानसहित छोटी तलवार को लटकते दिखाया गया है।[4] अजन्ता की गुफा में विभिन्न प्रकार के तलवारों का चित्रण मिलता हैं। उदाहरण के लिए मोर सेना के आक्रमण के दृश्य में सैनिकों को तलवार से युक्त दिखाया गया।[5] गुफा संख्या सत्रह में राजा सुदास को नंगी तलवार एवं ढाल से युक्त दिखाया गया है तथा एक अन्य दृश्य में घायल सैनिक को तलवार संयुक्त दिखाया गया है।[6] गुप्तकालीन मूर्ति कला में भी तलवार का अंकन मिलता है। देवगढ़ से प्राप्त एक प्रस्तर खंड में लक्ष्मण एक तलवार के शूपानखा की नाक काट रहे हैं। एक अन्य दृश्यमें कापल पर चढ़े हुए सवार की कमर में एक दुधारी तलवार लटक रही है।[7] कुछ प्राचीन स्थलों-

---

1. गुप्ता, परमेश्वरी लाल, पटना म्यूजियम कैटलॉग ऑफ एँटिक्विटीज फलक 57
2. अग्रवाल, वी.एस., भारतीय कला, पृ. 193
3. हमीद, एम., दि ऐंश्येंट मानुमेंट आफ बिहार ऐंड उड़ीसा (आर्क्योलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, प्रकाशन) चित्र 142
4. अग्रवाल, वासदेवशरण, भारतीयकला, पृष्ठ 193
5. याजदानी, जी, अजन्ता, जिल्द 1, फलक 28 पृ. 70
6. याजदानी, जी. अजन्ता, जिल्द 1, फलक 28 पृ. 70
7. राष्ट्रीय संग्रहालय, जनपथ, नई दिल्ली की गुप्त कला वीथि में प्रदर्शितः उद्धृत , पंत, जी.एन, भारतीय अस्त्रशस्त्र पृ. 86, फलक 7 द्रष्टव्य चित्र फलक 25

एलेश्वरम[1], सित्तानवासल[2] एवं तक्षशिला[3] आदि स्थलों से उत्पन्न में लोहे की तलवार प्राप्त हुई है। ऐसी स्थिति में यह कहा जा सकता है कि तलवार प्रायः पदाति सैनिकों द्वारा धारण किया जाने वाला प्रमुख अस्त्र शस्त्र था।

तलवार की आकृति व माप

विभिन्न प्रकार की माप व आकृति तलवार की होती थी चतुर्थ शताब्दी ई. पू. में भारतीय सैनिक साधारणतया छोटी और चौड़ी आकृति वाली तलवारों का प्रयोग करते थे।[4] अर्थशास्त्र में कौटिल्य ने तीन प्रकार (निस्त्रिंश, मंडलाग्र व असियष्टि) के आकारवाली तलवारों का वर्णन किया है।[5]

कौटिल्य द्वारा उल्लिखित तलवार के विभिन्न प्रकारों का अंकित रूप प्राचीन शिल्प कलामें भी देखने को मिलता है। मंडलाग्र , असियष्टि एवं स्त्रिंश तलवारों का स्पष्ट अंकन गान्धार कला में है ।[6] अमरावती की शिल्प कला में एक स्थान पर एक सैनिक द्वारा ऊपर उठाए हाथ में मंडलाग्र प्रकार की तलवार तथा एक अन्य दृश्य में असियष्टि का चित्रण हुआ है। अमरावती की कला में कुछ तलवारों का आकार कमल पंखुड़ी के समान तथा कुछ का आकार बांस की पत्ती के समान है।[7] कमलकी

---

1. खान, अब्दुल वहीप, एलेश्वरम एक्सकेवेशंस, फलक 12 ए ई.
2. इण्डियन आर्क्योलॉजिकल रिव्यू, 1975-76, पृ. 42
3. मार्शल जे., तक्षशिला, पृ. 545
4. मजुमदार, आर.सी., क्लासिकल एकाउंट्स ऑफ इंडिया, पृ. 230
5. अर्थशास्त्र 2.18.12
6. इन घोल्ट, हेराल्ड, गांधार आर्ट इन पाकिस्तान चित्र संख्या 63,92,118, कृष्णमूर्ति, के, गांधार स्कल्पचर्स कल्चरल सव पृष्ठ 109, दृष्टव्य चित्र फलक 14
7. शिवराममूर्ति, सी, अमरावती स्कल्पचर्स इन दि मद्रास गवर्नमेंन्ट म्यूजियम फलक 10, चित्र 1,6,8, दृष्टव्य चित्र फलक 13

पंखुड़ी के समान फलवाली तलवार को श्रेष्ठ समझा जाता है।[1] इससे ऐसा लगता है कि प्रथम शती या प्रथम शताब्दी ई. में तलवार के आकार प्रकार के काफी विकास हो गया था इसी प्रकार नागार्जुनकोंडा[2] के शिल्प में मंडलाग्र असियष्टि एवं शूलाग्र प्रकार की तलवार का अंकन है ।इसमें अंकित शूलाग्र प्रकार की निस्त्रिश समता कौटिल्य द्वारा वर्णित निस्त्रिंश प्रकार की तलवार से की जा सकती है।

महाकाव्यों में तलवार की लम्बाई के विषय में कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है। एरियन के अनुसार चतुर्थ शताब्दी ई पूर्व में भारतीय सैनिकों की तलवारे तीन बालिश्त से अधिक लम्बी नही थी।[3] अच्छी तलवार की लम्बाई अग्नि पुराण के अनुसार 25 अंगुल से अधिक तथा 20 अंगुल से कम होनी नहीं चाहिए। तलवार के दो भाग मूठ व फल होते है।[4] तलवार की मूठ भैसे की सींग गेंडे और हाथी के दांत, मजबूत लकड़ी या बांस की जड़ बनायी जाती है।[5] कौटिल्य के अनुसार सोने की मूठ वाली तलवार का महाभारत तथा जातकों में उल्लेख है।[6] हर्ष की तलवार की मूठ मोती जड़े होने का उल्लेख बाण ने किया है[7] इन विवरण से स्पष्ट होता है कि संभवत इन मूठवाली तालवारो का प्रयोग नायक और सेना के उच्च

---

1. अग्नि पुराण 251/78
2. लौंगहर्स्ट, ए. एच.,"दि बुद्धिस्टिक एंटिक्विटीज आफ नागार्जुनकोंडा मद्रास प्रेसिडेंसी आफ आर्क्योलोजिकल सर्वे आफ इंडिया, संख्या 54 फलक 19ब, 27स, 30अ, 34ब, 42अ, 47अ, दृष्टव्य चित्र फलक 15
3. मजुमदार आर सी क्लासिकल एकाउन्टेन्सी आफ इंडिया, पृष्ठ 230
4. अग्नि पुराण, 243/23 कौसल्यन द्वारा सम्पादित खण्ड 6, लोक 215 पृष्ठ 491
5. अर्थशास्त्र 2/18/13
6. महाउमग जातक 215
7. अग्रवाल, वी एस हर्ष चरित एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृष्ठ 44,45

अधिकारियों द्वारा होता था। सामान्य सैनिक साधारण तलवार का ही प्रयोग करते रहे होंगे ।

प्राचीन भारत में कुछ क्षेत्र अच्छी तलवारों के निर्माण के लिए प्रसिद्ध हो । निषाद और अपरांत देश की बनी तलवार की प्रशंसा महाभारत में की गई है।[1] खट्टूर देश की बनी तलवारे अपनी सुन्दरता के लिए, सूर्पारक की बनी तलवार अपनी मजबूती के लिए, अंगदेश की तलवार अपनी तेज धार के लिए, बंग देश की तलवार प्रतिपक्षी का आक्रमण रोकने के लिए अग्नि पुराण में सर्वश्रेष्ठ कही गई है।[2]

अब प्रश्न यह उठता है कि प्राचीन काल में तलवारों के लटकाने का प्रचलन दोनो तरफ था या एक तरफ । इस सन्दर्भ में साधारणतया तलवार को मेखला के सहारे बाई तरफ लटकाया जाता था, जैसा कि सांची[3] भरहुत एवं गांधार कला [4] में दृष्टव्य है। इसी प्रकार का अंकन सिक्कों पर भी हुआ। उदाहरण के लिए कुषाण राजा कनिष्क के सिक्को पर इसे बाई तरफ लटकाते हुए अंकित किया गया है।[5] नागार्जुनकोंडा के कुछ अंकनों में इसे बेल्ट के सहारे दाहिनी तरफ लटकाते हुए दिखाया गया है।[6] इसी प्रकार का अंकन मुद्राओ पर देखने को मिलता है।[7] इस प्रकार स्पष्ट होता है कि तलवार को दोनों तरफ लटकाये का प्रचलन था, किन्तु सामान्यतया इसे बाई ओर ही धारण किया जाता था ।

---

1. महाभारत, विराटपर्व 42/14, सभापर्व 15/28
2. अग्नि पुराण, 245/22/27
3. मैसे सांची एन्ड इटस रीमेन्स, फलक, 35 चित्र26/28
4. इन घोल्ट, हेराल्ड, गांधार, आर्ट इन पाकिस्तान, फलक 22, चित्र 2
5. रोजर्स, सी. जे., कैटलाग आफ क्वायन्स इन दि गवर्नमेंट म्यूजियम लाहौर पृष्ठ 18
6. लौंग हर्स्ट, ए. एच, दि बुद्धिस्टिक एंटिक्विटीज आफ नागार्जुनकोंडा मद्रास प्रेसीडेंसी, फलक 22ब, 38ब
7. एलन जे, कैटलाग आफ दि क्वायन्स आफ दि गुप्त डाइनेस्टीज ऐंड आफ शशांक किंग आफ गौडफलक9 सिक्का संख्या15/17फलक12सिक्का संख्या15, 18

भाला ,बल्लम आदि

शस्त्रास्त्रों के चौथा स्थान भाला,बल्लम तथा इनकी आकृति के अन्य शस्त्रों को युद्ध भूमि में प्राप्त था। अर्थशास्त्र में इनके स्वरूप के आधार भाला बल्लभ आदि को हलमुख शास्त्रास्त्रों की श्रेणी में रखा है। क्योंकि इनकी नोक हल की भांति होती थी । इस श्रेणी में शक्ति पट्टिश, तोमर, प्रास कुंत भिंदिपाल, कणय, कर्पण् आदि अस्त्र आते है। महाकाव्य में अनेक स्थानों पर इन अस्त्रशस्त्रों का उल्लेख मिलता है, किन्तु इनमें अंतर कर पाना कठिन है। इसीलिए विद्वानों में इनके आकार और उपयोग के विषय में गहरा मतभेद दिखाई देता है। हापकिन्स ने शक्ति पिट्टश, कुंत और कणय को एक श्रेणी में रखा है और भिंदिपाल को इनके भिन्न माना है।[1] शक्ति कुंत, तोमर, प्रास, भिंदिपाल, कणय और कर्पण को एक अलग श्रेणी के रूप में चक्रवर्ती ने माना है।[2] सिंह ने शक्ति, महाशक्ति, रथशक्ति,ऋष्टि, तोमर, प्रास, महाप्रास, कर्पण और शूल ,पट्टिश, कुंत तथा कणय की एक दूसरी ही श्रेणी बनायी है।[3]

युद्ध भूमि में भाले का प्राय प्रयोग होता था। यसह वैदिक आर्यों का प्रमुख अस्त्र था[4] भाले के प्रयोग का अधिक वर्णन महाकाव्य काल में भी मिलता है।[5] विदेशी लेखकों ने लिखा है कि भारतीय सैनिक युद्ध में भाले का प्रयोग करते थे।

---

1. जानरल आफ दि अमेरिकन ओरियंटल सोसायटी, अंक 13 (1889) पृष्ठ 289 व आगे
2. चक्रवर्ती, पी. सी., दि आर्ट आफ वार इन ऐंश्येंट इंडिया, पृष्ठ 166,68
3. सिंह सर्वदमन, ऐश्येंट इंडियन वार फेयर विद स्पेशल रिफरेंस टु दि वैदिक पीरियड पृष्ठ 107,109
4. दास, ए सी, ऋग्वैदिक कल्चर, पृष्ठ 334,35
5. रामायण, युद्धकाण्ड (श्री रामनारायण अनूदित) 51/25,25 पृष्ठ द्रोणपर्व 25/23 आदिपर्व 19/12

साहित्यिक ग्रन्थों के अतिरिक्त मुद्राओ एवं प्राचीन शिल्प कला में भालों का अंकन हुआ है। मुद्राओ के तीन प्रकार भालों ज्वेलिन, स्पीयर, लैंस का अंकन है इन अंकनों में इसे कही पर सैनिको द्वारा, कही पर राजा द्वारा और कही पर देवताओ द्वारा धारण किए हुए दिखलाया गया है।

मुद्राओ पर भाला का अंकन

ज्वेलिन का अंकन मुद्राओ पर बहुत कम हुआ है। केवल हिन्द यूनानी शासक आर्चेबिअस तथा मेनांडर के रजत सिक्कों पर राजा दाहिने हाथ में ज्वेलिन द्वारा भोकते हुए तथा मेनांडर के कुछ सिक्कों पर राजा को जेवालिन पकड़े हुए दिखाया गया है।[1]

प्रायः मुद्रा एवं शिल्पकला में स्पीयर का अंकन मिलता है इससे ज्ञात होता है कि इस अस्त्र का युद्ध भूमि में अपेक्षाकृत अधित्व प्रयोग होता रहा होगा। यूनानी[2] ताम्र एवं रजत सिक्कों के पृष्ठ एवं पुरोभाग में पल्लास के दाहिने हाथ में भाले का अंकन मिलता है। यह सिक्का डायोडोरस का था। इसी तरह डेमेट्रियस की रजत मुद्राओ के पृष्ठ भाग पर अश्वारोही डायस्क्यूरी के हाथ में, एगाथोक्लीज के सिक्को के पुरोभाग पर तथा टेलिफस के ताम्र सिक्कों के पृष्ठ भाग पर पुरुष की आकृति के बांए कंधे पर भाले का अंकन मिलता है। शक शासक मावेज[3]

---

1. ह्वाइटेड बी. आर., कैटलाग आफ दि क्वायन्स इन दि पंजाब म्यूजियम लाहौर, फलक 4 सिक्का संख्या 229, फलक 6 सिक्का संख्या 382, फलक7 सिक्का संख्या 503 पृष्ठ 39,55,व 61
2. ह्वाइटेड.......... लाहौर, खंड,1 फलक1,सिक्का संख्या 4, फलक 2 सिक्का संख्या 43,216 फलक 8 सिक्का संख्या 640 पृष्ठ 7/10,17,37,79, स्मिथ,वी. ए., कैटलाग आफ क्वायंस इन दि इंडियन म्यूजियम , कलकत्ता, खंड 1, पृष्ठ 9
3. ह्वाइटेड.......... लाहौर, खंड,2 फलक 10 सि, सं, 25 पृष्ठ 101

के चांदी के सिक्कों के पुरोभाग पर पुरूष देवता को बायें हाथ में ऐजज[1] के रजत सिक्कों के पृष्ठ भाग पर पल्लास को एजिलिसेज[2] के चांदी के सिक्कों के पष्ठ भाग पर डायस्क्यूरी को हाथ में तथा कुछ मुद्राओ पर राजा को बाएं हाथ में [3] भाला लिए हुए दिखाया गया है। पह्लव राजा गोंडोफरस[4] के सिक्को के पृष्ठ भाग पर पल्लास के हाथ में सोटरमेगस[5] की ताम्र मुद्राओ के पुरोभाग पर राजा के हाथ में भाला अंकित है एवंयिर कुषाण राजा विमकडाफिसेज के ताम्र सिक्को के पृष्ठ भाग पर भाले से युक्त सैनिक आकृति का अंकन है।[6] कनिष्क राजा के स्वर्ण मुद्रा से पुरोभाग पर राजा के बाएं हाथ में[7] तथा इसी राजा के कुछ सिक्को पर युद्ध देवता के दाहिने हाथ में भाले का अंकन है।[8] हुविष्क[9] की स्वर्ण मुद्रओ के पुरोभाग पर राजा बाएं हाथ में तथा कुछ सिक्कों पर गजारोही अपने हाथ में [10] तथा कनिष्क तृतीय

---

1. .... फलक 13 सिक्का संख्या 327 पृष्ठ 134
2. ......फलक 13......329, पृष्ठ 114
3. कनिंघम, ए.,क्वायन्स आंफ दि इंडो सीथियन्स, शकाज एन्ड कुषाणाज पृष्ठ 52
4. कनिघम, ए.,......... कुषाणाज पृष्ठ 59; ह्वाईटेड........लाहौर खंड 2 फलक 15 सि. सं. 38 पृष्ठ 150
5. ह्वाइटेड लाहौर.......... फलक 16 सि. सं., 94 पृष्ठ 160
6. कनिंघम ए.,कुषाणाज,पृ.59 ह्वाइटेड ..लाहौर खंड 2 फलक 15 सि. सं. 38 पृष्ठ 150
7. ह्वाइटेड........लाहौर खंड 3 फलक 17 सिक्का संख्या 53,37,पृष्ठ 186, 188, स्मिथ वी ए, कलकत्ता पृष्ठ 66
8. स्मिथ कलकत्ता, पृष्ठ 69
9. ह्वाइटेड, बी. आर., कैटलाग आफ दि क्वायन्स इन दि पंजाब म्यूजियम, लाहौर पृष्ठ 196
10. ह्वाइटेड, बी. आर., लाहौर फलक 18, सिक्का संख्या 137 पृष्ठ 198

की स्वर्ण मुद्राओ के पुरोभाग पर राजा अपने बाएं हाथ के भाला पकड़े हुए अंकित है[1]

लैंस का अंकन भी सिक्कों पर मिलता है। हिन्द यूनानी शासक डिमेट्रियस[2] के रजत सिक्को के पृष्ठ भाग पर पल्लास के दाहिने हाथ में, यूक्रेटाइडीज[3] के चांदी एवं तांबे के सिक्को के पृष्ठ भाग पर डायस्क्यूरी के हाथ में तथा डियोमेडीज की रजत मुद्रा के पृष्ठ भाग पर अश्वारोही डायस्क्यूरी के हाथ में लम्बा भाला अंकित है।[4] शक शासक मावेज [5] की ताम्र तथा एजेज[6] की रजत मुद्राओ के पृष्ट भाग पर अश्वारोही राजा के हाथ में तथा एजिलिसेज[7] की ताम्र मुद्राओ के पुरोभाग पर राजा अपने हाथ में लैंस पकड़े हुए अंकित है।नोकदार भाले का उल्लेख समुद्र गुप्त की प्रयाग प्रशस्ति में हुआ है।[8]

प्राचीन शिल्प कला में भाले का अंकन

भाले का स्पष्ट अंकन प्राचीन शिल्प में दिखाई देता है। सांची स्तूप के दक्षिणी तोरण द्वार में युद्ध के दृश्य में पैदल सैनिको को भाले से युक्त अंकित किया गया है। दुर्ग की दीवालों एवं बुर्जों पर स्थित सैनिक हाथ में

---

1. मुखर्जी, बी. एन., कुषाण क्वायंस आफ दि लैंड आफ दि फाइव रिवर्स, पृष्ठ 34
2. स्मिथ ,वी. ए., कलकत्ता पृष्ठ 9, हवइटेड लाहौर फलक 4 सि. सं. 213
3. स्मिथ....... कलकत्ता, पृष्ठ 11
4. स्मिथ......कलकत्ता, पृष्ठ 16
5. हवाइटेड.....लाहौर , फलक 10 सि. सं. 27, पृष्ठ 102
6. हवाइटेड......लाहौर ,फलक 11, सिक्का संख्या 127 पृष्ठ 112 सिक्का संख्या 179 फलक 12
7. हवाइटेड......लाहौर पृष्ठ 139
8. सरकार , दिनेश चन्द, सेलेक्स इसक्रिप्सन जिल्द 1 पृष्ठ 264

माला लिए हुए इसी तोरणद्वार में अंकित है।[1] अन्य दृश्यों में भी सैनिक को भाला लिए दिखाया गया है।[2] सांची के स्तूप में तीन प्रकार के भाले अंकित हुए हैं शंखाकार तथा त्रिभुजाकार अग्रभाग वाला (बाण की आकृति के सदृश[3]) पत्ती के आकार के सदृश लम्बा और शंखाकार अग्रभाग वाला[4] तथा फीतायुक्त सदृश दुधार तथा कांटेदार अग्रभाग वाला[5] लाहौर संग्रहालय के प्रथम शताब्दी ई. की गांधार कला में निर्मित रोमा या एथिना देवी की मूर्ति सुरक्षित है। इसमें देवी हाथ में माला लिए हुए है।[6] लाहौर संग्रहालय में ही पेशावर से प्राप्त एक राजकीय व्यक्ति की मूर्ति सुरक्षित है इसमें राजा यूरोपियन वेश भूषा में सिंहासन पर बैठा है और बाये हाथ में लम्बा भाला पकड़े हुए हैं। इस मूर्ति की पहचान कुबेर से की जाती है।[7] कुषाण कालीन षडभुजी महिषामर्दिनी की मूर्ति में दुर्गा के हाथ में भाले का अंकन हुआ है।[8]

दो प्रकार के भालो का अंकन गांधार शिल्प में हुआ है। प्रथम प्रकार के भाले को साधारणतया योद्धा, स्त्री संरक्षिका और सेनापति द्वारा धारण किए हुए अंकित किया गया है। एक दृश्य में योद्धा को पहले प्रकार का भाला लिए हुए दर्शाया गया है।[9] ऐसे ही दो मल्लो को पहले प्रकार से भाला पकड़े हुए दर्शाया गया है।[10]द्वितीय

---

1. मार्शल, जे. एन्ड फूशे, मानूमेंटस आफ सांची फलक 62, दृष्टव्य चित्र फलक 2
2. मार्शल..फलक 61, चित्र9, दृष्टव्य चित्र फलक 12
3. मार्शल.....फलक 62, दृष्टव्य चित्र फलक 12
4. मार्शल.....फलक 25, दृष्टव्य चित्र फलक 12
5. मार्शल....फलक 66, दृष्टव्य चित्र फलक 12
6. स्मिथ, वी.ए., ए हिस्ट्री आफ फाइन आर्ट इन इंडिया ऐंड सीलोन ,फलक 34अ पृष्ठ 224
7. स्मिथ......., फलक 33 पृष्ठ 59
8. अग्रवाल, वी.एस. , ब्राह्मानिकल इमेजेज इन मथुरा आर्ट, फलक 11, पृष्ठ 570 और आगे।
9. इनघोल्ट हेराल्ड, गांधार आर्ट इन पाकिस्तान चित्र संख्या 151 दृष्टव्य चित्र फलक 14
10. इनघोल्ट......पाकिस्तान चित्र 158

प्रकार के भाले का अंकन पुरुष सैनिक के हाथ में मिलता है।[1] इसी प्रकार मार और उसकी सेना के आक्रमण के दृश्य में मार की सैनिकों के हाथ में[2] तथा एक अन्य स्थल पर पंचिका के हाथ में द्वितीय प्रकार के भाले का अंकन है।[3] स्पीयर तथा जेवलिन प्रकार के भाले का अंकन अमरावती शिल्प में मिलता है।[4]

उन्नतोदर नतोदर तथा सीपाकार के भालों का अंकन नागार्जुनकोंडा की शिल्प कला में हुआ है। इस प्रकार के भालों में युक्त शकयोद्धाओं[5], यक्षों[6], अश्वारोही[7] एवं पैदलसैनिकों[8] को दिखाया गया है। नागार्जुनकोंडा के महल के कुछ स्तंभो में शक शासक की आकृति अंकित है, जिसे हाथ में भाला लिए हुए दिखाया गया है।[9] उदय गिरि की गुफा संख्या तीन में कार्तिकेय के दाहिने हाथ में लम्बा भाला लिए हुए चित्रित किया गया

---

1. इनघोल्ट......पाकिस्तान चित्र 444, दृष्टव्य कृष्णमूर्ति के., गांधार स्कलपचर्स एक कल्चरल सर्वे पृष्ठ 106
2. इनघोल्ट......पाक, चित्र 63
3. इनघोल्ट......पाक, चित्र 338
4. शिवराम मूर्ति, सि, अमरावती स्कल्पचर्स इन दि मद्रास गवर्मेंट म्यूजियम फलक 10, चित्र 1, फलक 27, चित्र 1अ दृष्टव्य चित्र फलक 13
5. लौंगहर्स्ट, ए. एस., दि बुद्धिस्टिक एंटीक्विटीज आफ नागार्जुनकोंडा मद्रास प्रसीडेंसी फलक 10स
6. लौंग......प्रेसीडेंसी, फलक 31ब, 49ब
7. लौंग..........प्रेसीडेंसी, फलक 10अ
8. राव, पी. आर. रामचन्द्र, दि आर्ट आफ नागार्जुनकोंडा ,फलक 55, रामचन्द्र, मेमायर आफ आर्क्योलाजिकल सर्वे ऑव इण्डिया, नागार्जुनकोंडा, 1938,संख्या 71, फलक 30अ, दृष्टव्य चित्र फलक15
9. रोजनफील्ड, जे. एन.,डायनेस्टिक आर्ट आफ दि कुषाणाज चित्र 257 पृष्ठ 224, दृष्टव्य चित्र फलक29

है।[1] अजंता की गुफा संख्या 17 के दृश्य में राजा अपने परिचारकों के साथ जाते हुए अंकित है । इनमें सैनिक हाथ में भाला लिए हुए है।[2] इसी गुफा में राजा सुदास को जेवलिन प्रकार के भाला फेकते हुए चित्रित किया गया है।[3]

उत्खनन से प्राप्त भाले एवं भालाग्र

लोहे के विविध प्रकार के भाले एवं भालाग्र प्राचीन स्थलों के पुरातात्विक उत्खनन से प्राप्त होता है। 700-300 ई. बहल[4] चित्रित धूसर मृद्भाण्ड काल जखेड़ा[5], 650 ई. से 200 ई. पूर्व सोनपुर[6], तुमैन-600 ई. पूर्व 100 ई.[7], प्रमाण पाटन 400 ई. पूर्व 100 ई पूर्व[8] कौंडन्यपुर 300 ई. पूर्व 200 ई.पू. एवं मौर्योत्तर काल[9], उत्तरी कृष्ण मार्जित मृद्भाण्डकाल मथुरा[10], चित्रित मृद्भाण्ड काल अतरंजीखेड़ा[11] 605-45 ई. पूर्व कौशाम्बी[12] 300

---

1. हावेँ, जे०सी०गुप्ता स्कल्पचर, फलक 10, पृष्ठ 34
2. याजदानी, जी. अजंता, जिल्द 4 फलक 12 पृष्ठ34
3. याजदानी, जी. अजंता, जिल्द 4 फलक 37 पृष्ठ 61
4. इंडियन आर्क्योलोजिकल एनुअल रिपोर्ट, 1956-57, पृष्ठ 58
5. आई. ए. ए. आर., 1975-76 पृष्ठ 51
6. आई. ए. ए. आर., 1974-75 फलक 155, 8, 16 पृष्ठ 128-29
7. आई. ए. ए. आर., 1972-73, पृष्ठ 16
8. आई. ए. ए. आर., 1956-57, पृष्ठ 27
9. दीक्षित, मोरेश्वर जी. एक्सकेवेशंस ऐट कौडिन्यपुर फलक 44
10. इंडियन आर्क्योलोजिकल रिव्यू 1956-57, फलक 56,57,ब पृष्ठ 44-45
11. गौड, आर. सी, एक्सकेवेशंस ऐट अतरंजीखेडा, फलक 49,9 पृष्ठ 424-27
12. शर्मा डी. आर., एक्सकेवेशंस ऐट कौशाम्बी, फलक 42 चित्र संख्या 27,32, पृष्ठ 48,54,55, दृष्टव्य चित्र फलक 26

ई. पूर्व से 500 ई. पूर्व[1] नगरा 300 ई. पूर्व से ई. सन् के प्रारम्भ तक[2] श्रावस्ती 300 ई. से 500 ई.[3] सानूर 300 ई. पूर्व से 200 ई. पूर्व[4] 200 ई. पूर्व से 100 ई. पूर्व एलेश्वरम[5], नेवासा[6] 150 ई. पूर्व से 200 ई. 100 ई. पूर्व -300 ई. पौनार[7] आदि।

शक्ति

शक्ति को प्राचीन साहित्य में भाले का एक प्रकार कहा गया है। यह लोहे का बना होता था तथा नुकीला होता था।[8] महाभारत में उल्लेख मिलता है कि इसे कभी कभी घंटियों से सजाया जाता था।[9] अर्थशास्त्र के अनुसार इसकी लम्बाई चार हाथ, आकार कनेर की पत्ती की भांति तथा मुठिया गाय के स्तन के अग्रभाग की तरह होता था।[10] अष्टाध्यायी में भी शक्ति का उल्लेख हुआ है और इसे धारण करने वाले को शक्तीक कहा है।[11] इसे अत्यन्त चमकने वाला अस्त्र कालिदास ने बताया है।[12]

---

1. मार्शल जे. तक्षशिला, फलक 164, चित्र संख्या 63-71 पृष्ठ 546-412, द्रष्टव्य चित्र फलक 27
2. मेहता आर. एन. एक्सकेवेशंस ऐट नगरा, पृष्ठ 11-12
3. सिन्हा, के. के., एक्सकेवेशंस ऐट श्रावस्ती, पृष्ठ, 68
4. ऐंश्येंट इंडिया, संख्या 15 (1959) चित्र 9,10, पृष्ठ 35, द्रष्टव्य चित्र फलक28
5. खान, अब्दुलवहीद एलेश्वाम एक्सकेवेशंस फलक, 30 ए
6. सांकालिया, देव, एंड अंसारी फ्रम हिस्ट्रीस टु पीहिस्ट्री ऐट नेवासा, पृष्ठ 428
7. देव एंड धवालिखा , एक्सकेवेशंस ऐट पौनार, फलक 29, चित्र 291
8. भीष्म पर्व, 87/28
9. वन पर्व 270/3
10. अर्थशास्त्र, (कांगले द्वारा संपा.), भाग 1,2.18.7
11. अष्टाध्यायी 4/4/59
12. रघुवंश 13/16

साहित्यिक प्रमाणों की पुष्टि प्राचीन कालीन शिल्प-कला से भी होता है। मथुरा से प्राप्त कुषाणकालीन मूर्तियों में कार्तिकेय की मूर्ति का बायां हाथ काटिविन्यस्त शक्ति पर स्थित है।[1] गुप्तकालीन मृण्मूर्तियों में मयूर पर आसीन कार्तिकेय को बांये हाथ में शक्ति लिए दिखाया गया है।[2] इस मृण्मूर्ति एवं मुहरों की प्राप्ति राजघाट से हुई है। मुहरों पर भी शक्तिका अंकन हुआ है। गुप्तकालीन मुहर पर दुर्गा के दाहिने हाथ में शक्ति का अंकन है।[3]

भिंदिपाल

संभवतः भाले की श्रेणी का ही अस्त्र भिंदिपाल था । इस अस्त्र का वर्णन महाकाव्य में मिलता है। महाभारत के उद्योग पर्व, भीष्मपर्व तथा द्रोणपर्व में भिंदिपाल का वर्णन हुआ है। भाले की तरह इसे दूर से ही फेंका जाता था । भिंदिपाल एक भारी सिरे वाला एक छड़ होता था। अर्थशास्त्र में भिंदिपाल का उल्लेख शक्ति प्रास और तोमर के साथ किया है और कौटिल्य ने कहा है कि इसकी धार हल के फाल की तरह होती थी।[4] संभवतः इस अस्त्र में लकड़ी का हत्था लगा रहता था।[5] इस अस्त्र का उपयोग शत्रु के सिर को खंडित करने तथा घायल करने के लिए अग्नि पुराण के अनुसार किया जाता था।[6] भिंदिपाल[7] का मुख्य काम था -दाहकता उत्पन्न करना, काटना, तोड़-फोड़ और दंड या लुगड़[8] के जैसे आघात करना आदि। अनेक स्थलों पर महाकाव्य में इसका उल्लेख हुआ है।[9] बाद के ग्रन्थों में भिंदिपाल का

---

1. अग्रवाल, वी. एस., इंडियन आर्ट, फलक 179
2. श्रीवास्तव, एस. के. छवि, गोल्डेन जुबली, चित्र 539
3. बनर्जी, जे. एन. ,डेवलपमेंट आफ हिन्दू आइकनोग्राफी, पृष्ठ 198
4. अर्थशास्त्र ,कागले संपा. भाग 1, 2.18.7
5. हापकिन्स पृ. 290
6. अग्निपुराण 252.15
7. उपाध्याय, भगवतशरण, कालिदास का भारत पृ.265
8. अग्निपुराण पृ. 405
9. रामायण, युद्धकांड 51.24-25, द्रोणपर्व, 108.30-31

प्रयोग युद्ध में होता था । राजा कुणिक के पैदल सैनिकों को भिंदिपाल किए हुए जैन ग्रन्थों में बताया गया है।[1] समुद्र गुप्त की प्रयाग प्रशस्ति में भिंदिपाल का उल्लेख है।[2] कालिदास ने भी अपने ग्रन्थों में इसका उल्लेख किया है।[3] बाद के काल में भी इसका उल्लेख मिलता है, विषेषरूप से हर्ष के समय में।[4]

तोमर

तोमर लोहे की बनी हुई एक बर्छी या नेजा होता था, जिसका मुख्य शरीर लकड़ी का बना होता था।[5] महाभरत के अनुसार यह जैवलिन की तरह ही होता था और इसका अग्रभाग बाण के समान तीखा होता था। आदिपर्व में इसकी तीखी नोंक के लिए 'सुतीक्ष्ण' शब्द आया है।[6] संभवतः जैवलिन की तरह हाथ से फेंककर चलाते थे। रामचन्द्र के अनुसार[7] यह दो प्रकार का होता था- लोहे की गदा व जेवलिन। चक्रवर्ती[8] ने भी तोमर को जेवलिन की श्रेणी में रखा है। अर्थशास्त्र[9] के अनुसार यह बाण के समान तेज मुख वाला होता था तथा चार हाथ लम्बा तोमर अधम, साढ़े चार हाथ का मध्यम तथा पांच हाथ का उत्तम माना जाता था। तोमर को बर्छी मानने पर इसका संबन्ध प्रयाग प्रशस्ति में उल्लिखित बर्छी से कर सकते हैं, जिसमें अन्य अस्त्र-शस्त्रों के साथ बर्छी का

---

1. उववाई सूत्र, समवसरणाधिकरण सूत्र 121
2. सरकार, दिनेशचन्द्र, सेलेक्ट इंन्सक्रिप्सन, जिल्द 1 पृ. 264
3. रघुवंश 4.77
4. अग्रवाल, वासुदेवशरण, हर्षचरितः एक सांस्कृतिक अध्ययन पृ. 150
5. हापकिन्स, जनरल ऑफ अमेरिकन दि ओरिएंटल सोसायटीश् पृ. 290-91
6. आदि पर्व 19.12
7. दीक्षितार, बी.आर.आर., वार इन ऐंश्येंट इंडिया पृ.107
8. चक्रवर्ती, पी.सी., दि आर्ट ऑफ वार इन ऐंश्येंट इण्डिया, पृ. 166.67
9. अर्थशास्त्र ॠकांगले संपा.ऋ भाग 1, 2.18.7

उल्लेख आया है।[1]

कुन्त :

कुन्त का उल्लेख अर्थशास्त्र में मिलता है। कुंत को भाले की श्रेणी में रखा जा सकता है। अर्थशास्त्र में कुन्त की धार को हल के फल की तरह बताया गया है। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में अच्छे कुन्त की लम्बाई सात, मध्यम की छह तथा निम्नकोटि की पाँचहाथ बताई है।[2]

पी.सी. चक्रवर्ती ने भाले की श्रेणी में प्रास को रखा है।[3] महाकाव्य के अनुसार प्रास तेज और चौड़ा होता था।[4] प्रास चौबीस अंगुल लम्बा और दो धार वाला अर्थशास्त्र के अनुसार होता था।[5] प्रास लाल रंग वाले बांस का बना होता था जिसका शिर धातु एवं निचले भाग का अंतिम भाग नुकीला होता था।[6]

शतघ्नी :

कुछ स्थिर यंत्रों का उल्लेख प्राचीन भारतीय साहित्य में मिलता है। जो दुर्ग, महल, राजधानी आदि महत्वपूर्ण स्थानों की रक्षा के लिए प्रयोग में लाए जाते थे। शतघ्नी भी एक चलयंत्र है।[7] इसके प्रयोग व स्वरूप के विषय में विद्वानों में मतभेद है। शतघ्नी से तात्पर्य है सैकड़ों लोगों को मारने वाले यंत्र से। चूंकि इसे दुर्गों की दिवालों पर रखा जाता था इसलिए विद्वानों ने इस अस्त्र को मोटी और लम्बी -लम्बी कीलों से युक्त विशाल स्तम्भ के समान यंत्र बताया है। अन्य विद्वानों ने इसे सौ गोले फेंकने वाला यंत्र कहा है। हालहेड ने शतघ्नी को तोप

---

1. सरकार, डी.सी.सेलेक्ट इंस्क्रिप्सन्, जिल्द-1पृ.264
2. अर्थशास्त्र (कांगले संपा.) भाग, 2.18.7
3. चक्रवर्ती, पी.सी., दि आर्ट ऑफ वार इन ऐश्येंट इण्डिया, पृ. 167
4. आदि पर्व 19.12
5. अर्थशास्त्र 2.18.7
6. ओफर्ट जुस्ताव, आन दि वेपंस, आर्मी आर्गनाइजेशन ऐंड पालिटिकल मैक्सिम ऑफ दि ऐंश्येंट हिन्दूज,पृ. 19
7. अर्थशास्त्र (कांगले संपा.) भाग 1, 2.18.6

कहा है। शतघ्नी को राकेट के नाम से विल्सन और ओपार्ट ने संबोधित किया है।[1] शतघ्नी का प्रयोग नगर की सुरक्षा के लिए प्राचीरों और मुख्यत: द्वारों के आस-पास लगाकर किया जाता था, जिनसे शत्रु के ऊपर पत्थर गिराए जाते थे ऐसा हापाकिन्स का विचार था।[2]

शतघ्नी को गोफन या गुलेल जैसा कोई यंत्र वैध ने बताया है।[3] दीक्षितार ने शतघ्नी को प्रस्तर या लकड़ी से निर्मित भारी खंभा माना जै, जिस पर लोहे की नुकीली कीलें लगी रहती थी । इसे दुर्ग की प्राचीरों पर रखा जाता था।[4] शतघ्नी को चक्रवर्ती के अनुसार किले की दीवार पर रखा जाता था।[5] शुक्र एवं वशिष्ट ने इसे तोप माना है, किन्तु अन्य विद्वान इस मत से सहमत नहीं है। आचार्य कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में इसे चलयंत्र के रूप में उल्लिखित किया है।

शतघ्नी को दो भागों में प्राचीन लेखकों ने विभाजित किया है - प्रथम सुरक्षात्मक अस्त्र एवं द्वितीय प्रक्षेपास्त्र। सुरक्षात्मक अस्त्र को दुर्ग की दीवाल पर रखा जाता था महाकाव्य में उल्लेख मिलता है कि इन्द्रप्रस्थ, अयोध्या[6] और लंका[7] आदि सभी शतघ्नी के साथ सुरक्षित थे। कौटिल्य के अनुसार यह किले की दीवाल के ऊपर रखा जाने वाला, बड़े स्तम्भ की आकृति का यंत्र

---

1. विल्सन, वर्क्स 4, 302, ओपर्ट, आन दि वेपंस आर्मी आर्गनाइजेशन, पृ. 22
2. हापकिन्स, ई. डब्ल्यू. जनरल ऑफ अमेरिकन दि ओरिएंटल सोसायटी पृ. 228. 301
3. जे. बी. बी. आर. ए.एस.(जनरल ऑफ बाम्बे ब्रांच ऑफ रायल एशियाटिक सोसायटी) 1992 पृ.32
4. दीक्षितार वी.आर.आर. वार इन ऐंश्येंट इण्डिया, पृ. 105
5. चक्रवर्ती, पी. सी., "दि आर्ट ऑफ वार इन ऐंश्येंट इण्डिया" पृ. 174
6. रामायण, अयोध्या कांड (श्री रामनारायण अनूदित) 5.11
7. लंका कांड, 3.13

होता था।[1] दूसरे प्रकार की शतघ्नी को प्रक्षेपास्त्रों की श्रेणी में रखा गया है। जिसका संबंध साधारण प्रक्षेपास्त्रों जैसे भाला आदि से और भाले को छोटी-छोटी घंटियों से सजाया जाता था उसी प्रकार शतघ्नी को सजाया जाता था।[2] शल्य पर्व के एक प्रसंग के अनुसार इसे गदा, तलवार और हथौड़े की तरह हाथ से चलाया जाता था।[3] कालिदास ने रघुवंश में शतघ्नी का उल्लेख किया है।[4]

इन विवरणों से स्पष्ट हो जाता है कि शतघ्नी दो प्रकार की होती थी- (1) नगर के परकोटों तथा प्रवेश-द्वारों पर स्थित होकर शत्रु पर पत्थर, लकड़ी और धातु के टुकड़ों को बरसाने के लिए लगाया जाने वाला यंत्र। (2) छोटी तथा हल्की शतहनी, जिसे योद्धा गदा, तलवारया अन्य अस्त्रों की भांति चला सकते थे। दोनों प्रकार की शतघ्नी के विवरणों पर विचार करने के बाद चक्रवर्ती का मत है कि दोनों प्रकार की शतघ्नियों का आकार-प्रकार एक ढंग का होता था। दूसरे प्रकार की शतघ्नी पहले की अपेक्षा छोटी तथा हल्की होती थी और इसलिए उसका प्रयोग प्रक्षेपास्त्र के रूप में किया जाता था।[5]

कटार

कटार को मौस्टिक तथा वापिस[6] के नाम से प्राचीन भारत में जाना जाता था । यह पैदल सैनिक तथा गजरोही सैनिक का व्यक्तिगत अस्त्र था। इसका प्रयोग द्वन्द- युद्ध तथा प्रक्षेपास्त्र के रूप में किया जाता था।[7] इसकी लम्बाई एक बीता, अंतिम भाग नुकीला, गर्दन

---

1. अर्थशास्त्र,(कांगले संपा.) 2.18.6
2. वनपर्व, 286.3
3. शल्यपर्व 45.9-10
4. रघुवंश 12.96
5. चक्रवर्ती, पी.सी., दि आर्ट ऑफ वार इन ऐंश्येंट इण्डिया, पृ. 174
6. ऋग्वेद 1.68.3
7. पंत, जी. एन., वेपंस इन ऐंश्येंट इण्डिया पृ. 422

और मध्य भाग चौड़ा तथा अलंकृत होता था।[1] मिलिंदपन्हो ने इसे क्षुरिका नाम दिया गया है। इसकी मूठ सींग, लकड़ी और हाथी दांत की बनी होती थी।[2] जातकों में इसे मणि जटित भी बताया गया है।[3]

मुद्राओ पर अंकन

कटार का मुद्रा पर अंकन न के बराबर है। पंचमार्क एवं जनपदीय सिक्कों पर ये सर्वथा अनुपस्थित है। इण्डो- ग्रीक, इण्डो-बैक्ट्रीयन एवं इण्डों-पार्थियन शासकों ने भी इसकी ओर विशेष रुचि नहीं दिखाई किन्तु दक्षिण भारत के पाण्डय[4] सिक्कों पर इसके अंकन उस क्षेत्र में इसकी महत्ता एवं लोकप्रियता को व्यक्त करते हैं। गुप्तकालीन सिक्कों पर यदा कदा कटार का अंकन मिलता है केवल कुमार गुप्त प्रथम अपने गजारूढ़ खंग-निहन्ता-प्रकार में।[5] कटार लिए मिलता है । इससे ऐसा लगता है कि कटार का प्रयोग किसी विशेष या आपात समय में प्रयोग किया जाता था ।

शिल्प-कला में कटार का अंकन:

शिल्प-कला में भी कटार का अंकन मिलता है। इसकी पुष्टि सांची स्तूप में अंकित कटार से होती है। इसमें शेर से लड़ते हुए व्यक्ति ने अपने बचाव के लिए कटार का उपयोग करता है।[6] श्याम जातक[7] दृश्य में

---

1. ओपर्ट, गुस्ताव, आनदि वेपंस आर्मी आर्गनाइजेशन ऐंड पोलिटिकल मैक्सिम्स ऑफ दि ऐंश्येंट हिन्दूज, पृ. 21-22
2. मिलिन्दपन्हों, सेक्रेड बुक ऑफ दि ईस्ट सीरीज, जिल्द 2 पृ. 227
3. जातक 5.522
4. देशिकाचारी, टी., साउथ इंडियन क्वायंस 1933, दृष्टव्य, पंत, जी.एन., इण्डियन आर्मी ऐन्ड आर्मर, जिल्द 2, पृ. 143
5. अल्टेकर, ए.एस. गुप्त कालीन मुद्राएं1972, पृ.137
6. मार्शल, जे एन्ड फूशे, ए. मानुमेंटस ऑफ सांची, फलक 91 चित्र 88, दृष्टव्य चित्र फलक 12
7. मार्शल, जे. एन्ड फूशे, ए. मानुमेंट्स ऑफ सांची, फलक 65 चित्र 1

सैनिक को तथा बकरी पर आरूढ़ व्यक्ति को कटार लिए हुए दिखाया गया है।[1] इसी स्तूप में आक्रमण के दृश्य में सैनिक को धनुष-बाण व कटार से युक्त दिखाया गया है।[2] "मार सेना" के दृश्य में सैनिकों को कटार युक्त गान्धार कला में अंकित किया गया है।[3] इसमें एक योद्धा कटार पकड़े हुए है।[4] जो सींग से निर्मित फल वाले कटार का अनुकरण है।[5] चार प्रकार की कटार का अंकन नागार्जुन कोंडा के शिल्प में हुआ है।- अंगाकार कटार को तब धारण किया जाता था जब शत्रु पर आक्रमण करना हो ऐसा अंकन नागार्जुन कोंडा में हुआ है।[6] म्यानाकार प्रकार की कटार का दो बार अंकन हुआ है। प्रथम अंकन में एक स्त्री संरक्षिका तथा द्वितीय में एक सैनिक इस प्रकार की कटार धारण किए हुए है।[7] "शिवि जातक" दृश्य के अंकन में एक राजकीय संरक्षक तथा राजा शिवि को पत्राकार प्रकार की कटार लिए हुए दिखाया गया है।[8] मार आक्रमण दृश्य में एक बौने के दाहिने हाथ में उन्नतोदर

---

1. मार्शल, जे. एन्ड फूशे, ए. मानुमेंट्स ऑफ सांची, फलक 42
2. मार्शल, जे., ए गाइड टू सांची फलक 4,26,27, आदि
3. इनघोल्ट, हेराल्ड, गान्धार आर्ट इन पाकिस्तान, पृ. 64, दृष्टव्य चित्र फलक 14
4. कृष्णमूर्ति, के. गान्धार स्कल्पचर्स: एक कल्चरल सर्वे फलक, 24.3, पृ. 107
5. पंत, जी. एन., इंडियन आर्म्स ऐन्ड आर्मर जिल्द 2 पृष्ठ 141
6. लौंगहर्स्ट, ए. एच. दि बुद्धिस्टिक ऐन्टीक्विटीज ऑफ नागार्जुन कोंडा मद्रास प्रेसीडेंसी फलक 33ब, दृष्टव्य चित्र फलक 15
7. लौंगहर्स्ट, ए. एच. दि बुद्धिस्टिक ऐन्टीक्विटीज ऑफ नागार्जुनकोंडा मद्रास, प्रेसीडेंसी, 30अ, ऐनुअल रिपोर्ट ऑफ आर्क्योलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, 1930-34 फलक 31अ
8. लौंगहर्स्ट, ए. एच. दि बुद्धिस्टिक ऐन्टीक्विटीज ऑफ नागार्जुन कोंडा मद्रास प्रेसीडेंसी, 42 अ

कटार का अंकन है।[1] इसी प्रकार एक राजमहल में लगे खंभे में अंकित एक व्यक्ति को प्रत्येक हाथ में कटार लिए हुए दिखाया गया है।[2] अमरावती शिल्प-कला में भी कटार का अंकन हुआ है।[3] कटार की सबसे अच्छी किस्म अजंता गुफा संख्या 17 में देखने को मिलती है।[4]

कटार के पुरातात्विक प्रमाण

प्राचीन ऐतिहासिक स्थालों की खुदाई में विविध प्रकार एवं अनेक धातुओं के निर्मित कटारें प्राप्त हुई हैं। उदाहरणार्थ -

महुरजरी - 800 ई. पूर्व-300ई.[5]
जखेड़ा - चित्रित धूसर मृदभांड काल[6]
रोपड़ - 600 ई. पूर्व-200 ई. पूर्व[7]
सानूर - 300 ई. पूर्व-200 ई. पूर्व[8]
सोनपुर - 200 ई. पूर्व-200 ई.[9]
वैशाली - 200 ई.पू.-200 ई.पू.[10]

---

1. कृष्णमूर्ति, के. गान्धार स्कल्पचर्स पृ. 201
2. राव, पी.आर., रामचन्द्र दि आर्ट ऑफ नागार्जुन कोंडा फलक 55, दृष्टव्य कृष्णमूर्ति, के. गान्धार स्कल्पचर्स चित्र 13,16 पृष्ठ 201
3. शिवराममूर्ति, सी., अमरावती स्कल्पचर्स इन दि मद्रास गवर्नमेन्ट म्यूजियम, फलक 10 चित्र 9
4. धवलिकर, एम. के., ए स्कल्पचरल स्टडी ऑफ अजंता ,चित्र 27, 16 पृ. 109
5. इंडियन आर्क्यॅलोजिकल रिव्यू 1970-71, फलक 41ब, 4, पृष्ठ 25
6. इंडियन आर्क्यॅलोजिकल रिव्यू 1975-76,पृष्ठ 51
7. पास्ट पैन्टर्स इन लिविंग एज अन फोल्डेड बाई एक्सकेवेशंस ऐट रोपड़ ललित कला संख्या 1-2 नई दिल्ली-1955-56 पृष्ठ 14
8. ऐंश्येंट इंडिया, संख्या 15, चित्र 10 पृष्ठ 35
9. सिन्हा, बी/पी. ऐड वर्मा, वी.एस., सोनपुर एक्सकेवेशंस फलक 44, संख्या 15, पृष्ठ 129
10. सिन्हा बी.पी. ऐन्ड राव, सीताराम, एक्सकेवेशंस ऐट वैशाली फलक 76,77 पृष्ठ 199-200

तक्षशिला	– 200 ई. पू.– 100 ई.[1]
शिशुपाल गढ़	– 200 – 350 ई.[2]
माहेश्वर	– 400 ई. पूर्व 500 ई.[3]
मित्तनवासल	– लगभग प्रथम शती ई. आदि[4]

अन्य अस्त्र–शस्त्र

धनुष–बाण, गदा, मूसल तलवार, भाला, बल्लभ, शक्ति, भिदिंपाल, तोमर, कुन्त, प्रास, शतघ्नी व कटार के अतिरिक्त कुछ अन्य अस्त्रशस्त्रों का प्राचीन भारतीय साहित्य, अभिलेख , सिक्कों एवं उत्खनन से पता चलता है। लेकिन इसके महत्व के सन्दर्भ में सन्देह है। ऋग्वेद में परशु का उल्लेख हुआ है किन्तु युद्ध में प्रयुक्त होने वाले हथियार के रूप में इसका बहुत ही कम प्रयोग होता था।[5] वैदिक देवताओ को परशु से युक्त बताया गया है। परशु, कुठार, कुलिश परस्वध आदि भिन्न नामों का उल्लेख महाभारत में हुआ है । युद्ध भूमि में इनका प्रयोग अस्त्र शस्त्र के रूप में राजपुरुषों द्वारा होता था।[6] कौटिल्य ने इसे छुरे के समान तेज धार वाला आयुध माना है और पट्टिश, परशु तथा कुठार आदि नामों से संबोधित किया है।[7] पंत ने कला के चित्रण के आधार पर परशु को आठ भागों में विभक्त किया है।[8]

---

1. मार्शल, जे., तक्षशिला, फलक 18, संख्या 59, 62 पृष्ठ 545
2. ऐश्येंट इंडिया सख्या 5 पृष्ठ 91–95
3. संकलिया हसमुखधार ऐन्ड ब्रदर्स, एकसकेवेशंस ऐट माहेश्वर ऐन्ड नवादाटोली पृष्ठ 22
4. इंडिया आर्क्यलोजिकल रिव्यू 1975–76 पृष्ठ 42
5. दास, अविनाश चन्द्र, ऋग्वैदिक इंडिया पृष्ठ 335
6. अर्थशास्त्र (कांगले) भाग,1 2.18.14
7. अर्थशास्त्र 2.18.14
8. पन्त जी. एन. वेपंस इन ऐंश्येट इंडिया, जिल्द 2, पृष्ठ 431–32

परशु

प्राचीनतम अभिलेखों में परशु शब्द आया है। प्रयाग– प्रशस्ति में समुद्र गुप्त को आहल बताया गया है जिसमें विभिन्न अस्त्र शस्त्रों के साथ परशु का भी उल्लेख मिलता है।[1] परशु का त्रिशूल से जुटा हुआ भारती की प्राचीनतम मुद्राओं पर दिखाया गया है।[2] औदुम्बर शासक तथा क्षत्रप शासक जयदामन[3] के सिक्कों पर त्रिशूल के साथ परशु का अंकन मिलता है। शक शासक स्पौलिरिसिस के ताम्र सिक्कों के पुरोभाग पर राजा के हाथ में परशु लिए है।[4] कुषाण–शासक विम कैडफिसेज के स्वर्ण सिक्को के पृष्ठ भाग पर शिव के दाहिने हाथ में लम्बा परशु अंकित है।[5] गुप्त वंशी राजा समुद्र गुप्त के परशु धारी प्रकार के सिक्को के पुरोभाग पर राजा के बाए हाथ में परशु अंकन मिलता है।[6]

परशु का अंकन बहुत ही कम प्राचीन शिल्प कला में हुआ है। सांची स्तूप के युद्ध दृश्य में परशु का चित्रण है।[7] इसमें एक पैदल सैनिक का अंकन कंधे पर रखे हुए परशु के साथ है, जिसे वह दोनो हाथ से पकड़ हुए है। गांधार कला के मार सेना की दृश्य में परशु का अंकन

---

1. सरकार डी. सी. सेलेक्ट इंस्क्रिप्सन, पृष्ठ 264
2. एलन .जे.ए कैटलाग आफ दि इंडिया क्वायन्स इन दि ब्रिटिश म्यूजियम, पृष्ठ 123
3. रैफसन, इ.जे., कैटलाग आफ क्वायंस आफ दि आन्ध्र डायनेस्टी वेस्टर्न क्षत्रपाज, त्रैकूटक डायनेस्टी ऐन्ड बोधि डायनेस्टी पृष्ठ 76
4. ह्वाइटहेड, वी. आर., कैटलाग आफ दि क्वायन्स इन दि पंजाब म्यूजियम, लाहौर फलक 14 सि. सं. 397 पृ. 144
5. ह्वाइटहेड, लाहौर खंड 3, फलक 17 सि.सं.32,34 पृष्ठ 183–84
6. स्मिथ, वी.ए. कैटलाग आफ दि क्वायन्स इन दि इंडियन म्यूजियम कलकत्ता पृष्ठ 104
7. मार्शल, जे एन्ड फूशे, ए, मानुमेंटस आफ फलक 61

है[1] और अमरावती[2] तथा नागार्जुनकोंडा में भी केवल एक-एक स्थान पर परशु अंकित है।[3]

मार्शल महोदय को भीटा के उत्खनन से कुल्हाड़ी के दो शीर्ष प्राप्त हुए हैं। इनमें से एक कुषाण कालीन है जो सात इंच लम्बी तथा पौने चार इंच चौड़ी है तथा दूसरी गुप्तकालीन है जो पौने चार इंच लम्बी तथा 1.718 इंच चौड़ी है।[4]

पाश

एक अत्यन्त प्राचीन अस्त्र पाश था। पाश शब्द का प्रयोग वैदिक देवताओ में बांधने की रस्सी के अर्थ में हुआ है। पाश से युक्त कुछ वैदिक देवताओ को बताया गया है। पाश वरूण का प्रिय अस्त्र था।[5] शल्यपर्व व कर्णपर्व में अनेक स्थालों पर पाश के प्रयोग का उल्लेख है।[6] यह दस हाथ लम्बी रस्सी का बना होता था, जिसके एक सिरे पर फंदा रहता था और दूसरा सिरा पर प्रयोग करने वाले के हाथ में रहता था। इसे शत्रु सैनको पर गिरा कर उनहें कैद कर लिया जाता था।[7] वह पटसन या मूंजघास या पशुचर्म का बना होता था। प्राय: 10 हाथ लम्ब तथा कभी कभी 30 हाथ लम्बा होता था जिसे तीन तह करके रखा जाता था।[8]

---

1. इनघोल्ट, हेराल्ड, गांधार ' आर्ट इन पाकिस्तान चित्र 3
2. शिवराम मूर्ति, सी., अमरावती स्कल्पचर्स इन दि मद्रास गर्वमेंट म्यूजियम, फलक 10 चित्र 3 पृष्ठ 126
3. ए. ए. जिल्द 28, चित्र 12 पृष्ठ 212
4. आर्क्येलोजिकल सर्वे आफ इंडिया रिपोर्ट 1911-12, पृष्ठ 64
5. उपाध्याय, बलदेव, वैदिक साहित्य एवं संस्कृति, पृ० 463-64
6. महाभारत, शल्यपर्व 45/108, कर्णपर्व 52/53
7. अग्नि पुराण 222/5
8. अग्नि पुराण 251/2

दंड

कभी कभी युद्ध में दंड का प्रयोग किया जाता था। रामायण के अनुसार राक्षसों ने डंडो से वानरों पर प्रहार किए।[1] दंड का प्रयोग शिल्प कला में भी देखा जा सकता है। सांची के स्तूप संख्या दो में दंड अंकित है।[2] उदयगिरि के गुफा के रानी गुम्फा के दृश्य में स्त्रियों एवं पुरूषों को भारी दंड द्वारा आत्म रक्षा करते हुए दिखाया गया है।[3] नागार्जुनकोंडा के वेस्सन्तर जातक के एक दृश्य में एक ब्राहमन दाहिने हाथ में दंड लिए हुए अंकित है। उसे एक सीधे दंड द्वारा मारते हुए अंकित किया गया।[4] इसी प्रकार का अंकन एक अन्य दृश्य में हुआ है, किन्तु इसमें में दंड सीधे नहीं, बल्कि कुछ झुके हुए है।[5]

पत्थर

युद्ध-भूमि मे सैनिको द्वारा संभवतः प्रक्षेपास्त्र के रूप में पत्थर के टुकड़ो का प्रयोग किया जाता था। युद्ध भूमि में महाकाव्य काल में अस्त्र के रूप में पत्थरों का प्रयोग मिलता है।[6] पत्थर को हाथ से फेंकने का उल्लेख अर्थशास्त्र में है।[7] प्राचीन भारतीय शिल्प कला में प्रछेपास्त्र के रूप में प्रयोग करते हुए दिखाया गया। सांची स्तूप के युद्ध दृश्य में सैनिक को पत्थर लेकर शत्रु के ऊपर फेकने की मुद्रा अंकित है।[8] नागार्जुनकोंडा में बड़े व

---

1. युद्ध कांड 31/22-23
2. आर्क्योलोजिकल सर्वे आफ इंडिया रिपोर्ट, 1927-28, फलक 52
3. अग्रवाल, वी. एस., भारतीय कला, चित्र 292, दृश्य 2 पृष्ठ 188-189
4. रामचन्द्रन, टी. एन., नागार्जुनकोंडा, मेमायर्स आफ आर्क्योलोजिकल सर्वे आफ इंडिया रिपोर्ट संख्या 71, फलक 33 डी.
5. रामचन्द्रन ....संख्या 71, फलक 15
6. युद्धकांड श्री रामनारायण अनूदित 58/9, 42/15
7. अर्थ शास्त्र कांगले संपा. भाग 1, 2.18.151
8. मार्शल, जे., ए गाइड टू सांची, फलक 4,5,26,27

छोटे आकार के पत्थरों का अंकन है। उदाहरणार्थ- एक दृश्य में सैनिकों द्वारा बड़े आकार वाले पत्थरों को दोनों हाथों से शत्रु के ऊपर फेकते हुए दिखाया गया है।[1] मार विजय में बौने सैनिक को पत्थर के द्वारा बुद्ध पर आक्रमण करते हुए अंकित किया गया है[2] इसी स्तूप के एक दृश्य में पैदल सैनिक हाथ में छोटे आकार वाले पत्थर को शत्रु पर फेकते हुए अंकित है ।[3]

सुरक्षात्मक- शस्त्र

युद्ध में प्रायः आक्रमणात्मक अस्त्रशास्त्रों का प्रयोग होता था लेकिन परिस्थित के अनुसार सुरक्षात्मक अस्त्रों का प्रयोग भी किया जाता रहा। प्रारंभिक युग में अलग अलग श्रेणी के आयुधों का कोई भी विवरण नहीं मिलता। किन्तु बाद में काल से दोनों प्रकार के अस्त्रशास्त्रों अलग अलग मिलने लगते हैं।

कवच :

सेनापति तथा उच्च पदों पर आसीन योद्धा भूमि में शत्रु के बाणों से शरीर की रक्षा के लिए कवच धारण करते थे। अथर्ववेद में सर्वप्रथम कवच शब्द का उल्लेख मिलता है।[4] दाविस और वर्मन शब्द कवच के लिए ऋगवेद में आया है। किंतु यह किस धातु का बनता था, ज्ञात नहीं है। अनुमानतः यह कहा जा सकता है कि यह धातु और चर्म के मिश्रण से निर्मित होता था। कवच निर्माण की विधि का उल्लेख ऋगवेद में मिलता है।[5] धातु के बने कवचों का उल्लेख उपनिषदों में मिलता है।[6] चर्मन शब्द

---

1. लौंग हर्स्ट, ए. एच. दि बुद्धि स्टिक एंटीक्विटीज आफ नागार्जुनकोंडा, मद्रास प्रेसीडेंसी फलक 49-अ
2. कृष्णमूर्ति, के. नागार्जुनकोंडा : ए कल्चरल स्टडी, पृष्ठ 191
3. राव रामचन्द्र पी. आर. दि आर्ट आफ नागार्जुनकोंडा, फलक 21
4. अथर्ववेद 11/10/22
5. ऋगवेद 1/31/15, ब्राहमण 10/101/18
6. जैमनीय उपनिषद ब्राहमण 4/1/3

परवर्ती साहित्य में कवच के लिए मिलता है, जो संभवतः गैंडे की मजबूत खाल का बना होता था। कौटिल्य ने[1] अर्थशास्त्र में छह प्रकार के कवचों का उल्लेख किया है। लोहजाल सिर से पैर तक ढकने वाला, लौह जालिका सिर के अलावा सारे शरीर को ढकने वाला, लोहपट्ट- बांहो को छोड़कर सारे शरीर के ढकने वाला, लोहकवच -केवल पीठ तथा छाती को ढक देने वाला, सूत्र कवच-सूत का बना कवच, गैंडा मछली, नीलगाय, हाथी तथा बैल- इन पांचों के चमड़े खुर तथा सींगों को मिलकर बनाया हुआ कवच। इसके अतिरिक्त सिरस्त्राण, कंठत्राण, कूर्पास, कंचुक, वारवाब, पट्ट, नागोदारक प्रकार के आवरण शरीर पर धारण किए जाते थे। चमड़े की पेटी, मुंह ढंकने का आवरण, लकड़ी की पेटी, सूत की पेटी, लकड़ी का पट्टा, चमड़ा एवं बांस को कूटकर बनायी गयी पेटी, पूरे हाथों को ढ़कने वाला आवरण और किनारों पर लोहे के पत्तों से बधा आवरण आदि अनेक प्रकार के कवच का उल्लेख कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में किया है।[2]

कवच के सोने के निर्मित होने का उल्लेख महाभारत[3] के एक प्रसंग में हुआ है मणिजटित कवच का वर्णन जातकों में मिलता है।[4] एक यूनानी इतिहासकार के अनुसार झेलम के युद्ध में पोरस अभेध कवच पहनकर उतरा था। मनुमृति में कवच विहित सैनिक को मारने का निषेद किया गया है, जो कवच के विद्यमान होने का सूचक है[5] अनेक प्रकार के कवचों का उल्लेख कालिदास ने किया था।[6] तीन प्रकार के पाजामों- स्पस्थान, पिंगा, सतुला

---

1. अर्थ शास्त्र (कांगले सं पा०) भाग 1, 2.18.16.1
2. अर्थ शासन 2.18.16
3. भीष्म पर्व, 19/31-32
4. महानुभाजातक, (कौसल्यायन द्वारा संपा.) श्लोक 219 पृष्ठ 492
5. मनुस्मृति , 7/19
6. कालिदास, रघवंश 15/5, 4/64, कुमार संभव 1615,6

और चार प्रकार के कोटों- कचुल, चीन, चोलक बारबाण और कूर्पासिक का वर्णन हर्षचरित में आया है।[1] घोड़ो, हाथियों रथों को भी सैनिको को अतिरिक्त कवचित करने का वर्णन ग्रन्थों में मिलता है। उदाहरणार्थ अर्थशास्त्र[2] में कवच युक्त घोड़े एवं लोहे की परतों से मढ़े हुए रथों जैन ग्रन्थों के[3] कवच युक्त हाथियों एवं महाभाष्य के चीते और व्याघ्र आदि के चमड़ो से रथों को कवचित करने का उल्लेख है।[4]

प्राचीन शिल्प कला में कवच का अंकन

कवच युक्त सैनिको का अंकन प्राचीन शिल्प कला में भी मिलता है।

सांची स्तूप के सैन्य प्रयाण दृश्य में एक सैनिक वक्षात्राण पहने हुए दिखाया गया है।[5] भरहुत स्तूप में एक सैनिक लम्बी बांहों वाला चोगा पहने हुए है, जो लगभग जांघों तक लम्बा है।[6] इस स्तूप में एक जूलूस के चित्रण में हिमालय क्षेत्र के सैनिकों को कवचयुक्त अंकित किया गया है। जो संभवत: चमड़े का बना है और जिसका प्रयोग कनिष्क के काल में होता था[7] उदयगिरि गुफा के गणेश गुफा के एक खंड की शोभापट्टी के दाहिने किनारे पर एक शक जातीय कुंत धारण किए हुए राजमानुष उत्कीर्ण है जो उदीच्य,वेष में है अर्थात कसा हुआ वारवाण, पटका, जिससे म्यान में रखी छोटी तलवार लटक रही है, पिंडली

---

1. अग्रवाल, वी. एस., हर्षचरित: एक सांस्कृतिक अध्ययन पृष्ठ 151
2. अर्थ शास्त्र 2.18.181
3. उतराध्ययनसूत्र 418, औपपातिकसूत्र 31, पृष्ठ 132 (जैन जगदीश) जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज पृ. 99
4. महाभाष्य 4/2/12
5. मार्शल, जे. एन्ड फूशे,ए. मानुमेंटस आफ सांची फलक 61
6. कनिघंम,ए.स्तूप आफ भरहुत, फलक 32 चित्र 1
7. दीक्षीतार, वी.आर.आर.वार इन ऐंश्येंट इंडिया पृष्ठ 133

तक पैरों को ढकने वाले भारी जूते पहने हुए है।[1] कौशाम्बी से प्राप्त शुंगकालीन वृत्ताकार फलक में एक पुरुष की आकृति को शेर के साथ लड़ते हुए दिखाया गया है, जो कवच पहने हुए है।[2] कौशाम्बी से ही प्राप्त दूसरे फलक में एक योद्धा रथ पर सवार है जो अपने हाथ में धनुष-बाण लिए हुए है। इसमें योद्धा और सारथी दोनों कवच पहने हुए है।[3] मथुरा संग्रहालय में चस्टन की मूर्ति सुरक्षित है, जो एक पूरी आस्तीन वाला लम्बा कोट पहने हुए है। उसकी कमर में एक बेल्ट बंधी हुई है।[4] नागार्जुन कोंडा के पांच राजकीय अलकृत खंभो मे से एक खंभे में एक शक योद्धा को शिरस्त्राण एवं पूरी आस्तीन वाला कोट पहने हए दिखाया गया है।[5] द्वितीय शताब्दी ई. की एक छोटी मूर्ति में देवता कार्तिकेय को लम्बे भाले के साथ दिखाया गया है, वे कवचयुक्त है। जो ब्रिटिश संग्रहालय में सुरक्षित है।[6] गांधार कला के मार दृश्य में योद्धा को चर्म से निर्मित कवच पहने हुए अंकित किया गया है।[7] इसी तरह अन्य दृश्य में भी कवच का अंकन हुआ है। इसी तरह एक अन्य दृश्य में एक योद्धा चोगा पहने हुए है और ऊपर कमर तक एक छोटा कोट पहने हुए है जो संभवतः चमड़े का है। उसके पैरों में जूता भी है[8] गुप्त कालीन मृण्मूर्ति मे कवच का अंकन हुआ है ।[9]

---

1. अग्रवाल, बी, एच, भारतीय कला, चित्र 51
2. इंडियन आर्क्योलोजिकल ऐनुअल रिपोंट, 1954-55 फलक 32
3. पंतजी एन. इंडियन आर्म्स एन्ड आर्मर जिल्द3पृ०22
4. पंत----------जिल्द 3, पृष्ठ 22
5. पंत---------जिल्द 3, पृष्ठ 21
6. इन घोल्ट हेराल्ड, गांधार आर्ट इन पाकिस्तान, पृ47
7. कृष्णमूर्ति, के. दि गांधार स्कल्पचर्सः एक कल्चरल सर्वे पृष्ठ 112
8. इन घोल्ट, हेराल्ड, गांधार आर्ट इन पाकिस्तान पृ. 63-64 कृष्णमूर्ति दि गांधार स्कल्पचर्सः एक कल्चरल सर्वे पृ. 112
9. रामचन्द्र टी. एन. इंडियन हिस्टोरिकल क्वांटरली जिल्द 27 पृ. 304-11

मुद्राओं पर कवच का अंकन

सिक्कों पर भी कवच का अंकन मिलता है। हिन्द-यूनानी शासक डेमेट्रियस की रजत मुद्राओं के पृ. भाग पर पल्लास का कवच युक्त अंकन है।[1] आर्केबियस के सिक्कों के पुरोभाग पर राजा की अर्द्ध प्रतिमा का अंकन है जो कवच पहने हुए है।[2] इसी प्रकार कुषाण शासक हुविष्क[3] के स्वर्ण सिक्कों के पृष्ठ भाग पर युद्ध देवता को तथा कुछ सिक्कों के पुरोभाग पर राजा को जिरह बख्तर पहने हुए अंकित किया गया है।[4] वासुदेव प्रथम[5] के स्वर्ण सिक्को के पुरोभाग पर राजा पूरा शरीर ढकने वाला कवच पहने हुए अंकित है।

हस्तघन

ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में हस्तघन का उल्लेख मिलता है। क्योंकि प्राचीन भारतीय धनुर्धारी सैनिक बाण छोड़ते या फेकते समय सुरक्षा के लिए बाएं हाथ में हस्तघन पहनते थे।[6] तलत्राण तथा हस्तघन शब्द का उल्लेख महाभारत में हस्तघन के सन्दर्भ में हुआ है।[7] महाकाव्य काल में गोह चर्म से बने हुए दस्ताने का उल्लेख मिलता है।[8] अंगुलित्राव का वर्णन भीष्मपर्व में मिलता

---

1. स्मिथ, बी.ए. कैटलाग आफ क्वायन्स इन दि इंडियन म्यूजियम , कलकत्ता, जिल्द 1 पृ. 9
2. हवाइटेड बी. आर., कैटलाग आफ क्वायन्स इन दि पंजाब म्यूजियम , लाहौर ,खंड 1,फलक 4 सि.स. 229 पृ. 39
3. स्मिथ, वी. ए., कैटलाग आफ क्वायंस इन दि इंडियन म्यूजियम, कलकत्ता , जिल्द 3 पृ. 79
4. हवाइटेड, बी. आर. कैटलाग आफ क्वायंस इन दि पंजाब म्यूजियम, लाहौर खंड-2, फलक 18 सिक्का संख्या 125
5. हवाइटेड, बी.आर. कैटलाग आफ क्वायंस इन दि पंजाब म्यूजियम, लाहौर खंड 3 फलक 19, सिक्का संख्या 209 पृ. 208
6. ऋग्वेद 6/75/14
7. द्रोण पर्व 127/16, विराट पर्व, 56154
8. द्रोव पर्व, 36/23

है।[1] अर्थशासन में नागोदारिका शब्द का उल्लेख मिलता है जिसकी समता महाभारत में उल्लिखित अंगुलित्राव से की जाती है।[2]

सिरस्त्राण

युद्ध में सिर की रक्षा के लिए प्रयोग किए जाने वाले सिरास्त्राण का उल्लेख प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है। सिरास्त्राण को ऋग्वेद में शिप्रा कहा गया है।[3] महाभारत के अनुसार यह लोहे या तांबे का बना होता था। कुछ सिरास्त्राण स्वर्णजरित होते थे।[4] हापकिंस के अनुसार इससे गर्दन की पूरी सुरक्षा नहीं हो पाती है, क्योंकि कहीं कहीं ऐसा भी वर्णन मिलता है कि तलवार के प्रहार से गर्दन कट जाती थी।[5] सिरस्त्राण एवं कंठत्राण का उल्लेख अर्थशास्त्र में हुआ है।[6] अर्थशासन में वर्णित इन दोनों शास्त्रास्त्रों से सैनिक की अधिक सुरक्षा रहती होगी। पंतजलि के अनुसार सिरस्त्राण सिर की रक्षा के लिए पहने जाते थे, क्योंकि शीर्षघात युद्ध के नैतिक नियमों के अनुकूल था। इन्होने कहीं कहीं पर सिर पर प्रहार करने का उल्लेख भी किया है।[7] सिरास्त्राण धारण करने की पद्धरम्परा परवर्ती काल में भी विद्यमान रही। क्योंकि कालिदास ने सिरास्त्राण का उल्लेख किया है।[8]

मुद्राओ पर सिरास्त्राण का अंकन

सिरास्त्राण का अंकन सिक्कों पर अधिकता से मिलता है। जिससे स्पष्ट होता है कि सुरक्षात्मक शास्त्रास्त्रों

---

1. भीष्म पर्व , 106/24
2. अर्थशास्त्र, (कांगले सं पा.) 2.18.17
3. ऋग्वेद 2/34/3; 1/29/2
4. द्रोण पर्व 90/6
5. हापकिंस, ई. डब्ल्यू, जनरल आफ अमेरिकन दि ओरिएन्ट सोसायटी पृष्ठ 307
6. अर्थशास्त्र (कांगले संपा.) भाग 1,2.18.17
7. महाभाष्य, 6/1/60 पृ. 84, 3/2/84, पृ. 233 इ
8. रघुवंश 4/64

में इसकी महत्वपूर्ण भूमिका की यूक्रेटाइडीज[1], मेनांडर[2], लीसियस[3] स्ट्रैटो प्रथम[4] तथा स्ट्रैटो एगाथोक्लिया[5] के रजत सिक्कों के पुरोभाग पर राजा को सिरस्त्राण पहने हुए दिखाया गया है। मेनांडर[6] के सिक्को के पृष्ठ भाग पर पल्लास के सिर पर सिरस्त्राण अंकित है। बोनोनीज[7] के ताम्र सिक्कों के पृष्ठ भाग पर पल्लास के सिर पर, एजिलिसिज[8], स्पैलिरिसिस[9] तथा सोटरमेगस[10] की ताम्र मुद्राओ के पुरोभाग पर राजा के सिर पर को सिरास्त्राण अंकित किया गया है। कुषाणवंशी राजा विम कदफिस प्रथम की ताम्र मुद्राओ के पुरोभाग[11] पर तथा विमकदाफिस द्वितीय के स्वर्ण सिक्कों के पुरोभाग पर राजा सिरस्त्राण पहने हुए है।[12] कनिष्क की प्रथम की मुद्राओ पर राजा[13] तथा युद्ध देवता को सिरस्त्राण युक्त अंकित किया

---

1. ह्वाइटहेड, बी. आर. कैटलाग आफ क्वायंस इन दि पंजाब म्यूजियम, लाहौर, फलक 2 सि.स. 64 पृ. 20
2. ह्वाइटहेड, लाहौर, फलक 6, सि.सं. 379, पृ 54 फलक 30
3. ..... फलक 3 सि.सं. 154 पृष्ठ 30
4. ..... फलक 5 सि.सं. 359, पृष्ठ 50
5. ..... फलक 5 सि.सं. 372 पृष्ठ 52
6. ..... फलक 6 सि.सं. 480 पृष्ठ 54
7. स्मिथ, वी.ए. कैटलाग आफ दि क्वायंस इन दि इंडियन म्यूजियम ,कलकत्ता पृष्ठ 41
8. स्मिथ,.......कलकत्ता फलक 14, सि.सं. 366-68, कनिंघम,ए,क्वायंस आफ दि इन्डो सीथियंस, शकाज एण्ड कुषाणाज, पृष्ठ 32
9. कनिंघम,ए........ कुषाणाज पृष्ठ 56
10. ह्वाइटहेड .... लाहौर पृष्ठ 160
11. ह्वाइटहेड, बी. आर. कैटलाग आफ क्वायंस इन दि पंजाब म्यूजियम , फलक 17, सिक्का संख्या 31, पृष्ठ 183
12. ह्वाइटहेड, बी.आर..........पृ. 183
13. स्मिथ, वी.ए., कैटलाग आफ क्वायंस इन दि इंडियन म्यूजियम , कलकत्ता पृष्ठ 9

गया।[1] हुविष्क की स्वर्ण मुद्राओं के पुरोभाग पर राजा को गोलाकार[2] सिरस्त्राण पहने हुए दिखाया गया है, वासुदेव के सिक्कों पर राजा शंखाकार[3] सिरास्त्राण पहने हुए अंकित है। गुप्तवंशी राजा, कुमारगुप्त प्रथम के अप्रतिधा प्रकार के सिक्कों के पुरोभाग पर पुरुष की आकृति का अंकन सिरस्त्राण के साथ हुआ है ।[4]

शिल्प कला में सिरस्त्राण का अंकन

सिरस्त्राण का अंकन शिल्पकला में भी देखने को मिलता है। शुंगकालीन मूर्ति में एक योद्धा के सिर पर शंखाकार शिरस्त्राण पहने हुए अंकित किया गया है।[5] गांधार[6] एवं सांची[7] की कला में क्रमशः कुछ सैनिक एवं महावत को सिरस्त्राण युक्त दिखाया गया है। राजकीय महल में लगे अलंकृत पांच खंभों में से एक खंभे मे दाढ़ी युक्त सैनिक की आकृति खुदी है, जो सिर की रक्षा के लिए सिरसत्राण पहने हुए है[8] एक दृश्य में पैदल सैनिक को सिरासत्राण युक्त दिखाया गया है।[9] महापदम जातक दृश्य के चित्रण में एक योद्धा आधी बांह का कुर्ता और सिर पर सिरास्त्राण पहने हुए है।[10]

---

1. स्मिथ, वी.ए., ...पृष्ठ 71
2. हवाइटहेड, बी.आर. ---- लाहौर पृष्ठ 194
3. कनिघम, ए, क्वायंस आफ दि इंडो सीथियंस, शकाजएन्ड कुषाणाज पृष्ठ 70
4. एलन, जे. कैटलाग आफ दि क्वायंस आफ दि गुप्त डाइनेस्टीज ऐंड आफ शशांक किंग आफ गौड, पृ87
5. पुरातत्व वीथी राष्ट्रीय संग्रहालय जनपद नई दिल्ली
6. इन घोल्ट, हेराल्ड, गांधार आर्ट इन पाकिस्तान, पृ. 87
7. धवलिकर, एन.के., सांची: कल्चरल स्टडी पृ. 6
8. लौंग हर्स्ट, ए एच. दि बुद्धिस्ट ऐंटिक्विटीज आफ नागार्जुनकोंडा मद्रास प्रेसीडेंसी, मेमायर आफ अर्क्यैलोजिकल सर्वे आफ इंडिया संख्या 54, फलक 90 पृ. 61
9. लौंग हर्स्ट.......प्रेसीडेंसी, फलक 33 ब ।
10. कृष्णमूर्ति, के, नागार्जुनकोंडा: एक कल्चरल स्टडी चित्र 3.19 पृ. 51

ढाल:

पत्थरों के युग में भी ढाल का प्रयोग संभवत: सुरक्षा के लिए किया जाता था। इस काल की कुछ गुफाओ में ढाल का चित्रण हुआ है, जो संभवत: लकड़ी चमड़ा, रस्सी, धातु, कपड़ा और कछुए का पीठ बना होता था। प्रागैतिहासिक युग के बाद हड़प्पा साम्यता में ढाल की जानकारी मुहरों से होती है जब कि ताम्र पाषाण कालीन संस्कृतियों से ढाल के प्रयोग का प्रमाण नहीं मिलता उदाहारणार्थ- हड़प्पा मुहरो पर अंकित कुछ व्यक्तियों को ढाल पकड़े हुए दिखाया गया ।[1] ऋग्वेद[2] में ढाल के लिए तिवरूथ शब्द मिलता है लेकिन इसके प्रयोग के सम्बन्ध में अधिक उल्लेख नहीं मिलता। युद्धकांड व भीष्मपर्व में वृषभ के चर्म से बने ढाल का वर्णन मिलता है।[3] ऐसा ही उल्लेख चौथी शताब्दी ई.पू. में यूनानी लेखको ने किया है।[4] किंतु पोरस की ढाल का धातु से बने होने का उल्लेख मिलता है।[5] इसी प्रकार कौटिल्य में अथशास्त्र में चमड़े और लकड़ी से बनें होने का वर्णन किया है।[6] पंतजलि ने महा भाज्य में गैंडे के चर्म से निर्मित ढालों का वर्णन किया है।[7]

---

1. मार्शल, जे, मोहनजोदड़ो ऐंड इंडस वैली सिविलाइझेशन , जिल्द 2 पृ0 533, जिल्द 3 फलक 143, मैके. ई.जे.के. फर्दर एकसकेवेशंस ऐट मोहनजोदड़ो जिल्द 1, फलक 140 54, 56, पृ054, व्हीलर सर मार्टिमर, दि कैंब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया, 74
2. ऋग्वेद 6/46/9
3. महाभारत, 54/30, भीष्मपर्व 54/27
4. मैक्रिंडल, इंडिया : इटस वेजन लाई अलेक्जेन्डर पृ0 221
5. मैक्रिंडल........अलेक्जेन्डर पृ0 108
6. अर्थशास्त्र (कांगले संपा.)भाग 1, 2.18.17
7. महाभाष्य 2/3/37, पृष्ठ 392

मुद्राओं पर अंकन

मुद्राओं पर भी राजा एवं सैनिकों के हाथ में ढाल का अंकन मिलता है। शक शासक मावेज के ताम्र सिक्कों के पृष्ठ भाग पर पल्लास के हाथ में[1] एजिलिसेज की रजत एवं ताम्र मुद्राओं के पुरो एवं पृष्ठ भाग पर राजा के बाए हाथ में ढाल का अंकन है।[2] इन ढालों का अंकन भाला, चक्र और वज्र आदि के साथ हुआ है। डायोडोटस के ताम्र मुद्राओं के पृष्ठ भाग पर जमीन पर रखा हुआ[3], राजा गोंडोफरस के स्वर्ण सिक्कों के पृष्ठ भाग पर पल्लास के हाथ में ढाल दिखाया गया है[4] कुषाण शासक विमकदाफिसेडा के ताम्र तथा हुविस्क की स्वर्ण मुद्राओं के पृष्ठ भाग पर क्रमशः सैनिक एवं युद्ध देवता के हाथ में ढाल का अंकन मिलता है।[5] हुविस्क की मुद्रा के पृष्ठ भाग पर स्त्री सैनिक का अंकन ढाल के साथ हुआ है।[6] गुप्त वंशी सिक्कों पर भी ढाल का अंकन मिलता है।[7]

प्राचीन शिल्प कला में ढाल का अंकन

शिल्प कला में कई प्रकार की ढालों का उल्लेख मिलता है सांची में चार प्रकार की ढालों का अंकन है- आयातकार एवं गोलाकार शीर्ष वाली, त्रिभुजाकार, वृत्ताकार एक आयताकार किंतु शीर्ष पर तीन जगह उभरा

---

1. कनिंघम, ए. क्वायंस आफ दि इंडोसीथियंस शकाज एण्ड कुषाणज, पृष्ठ30
2. कनिंघम, ... कषाणडा, पृष्ठ 48,52
3. हवइटहेड, वी. आर. कैटलाग आफ दि क्वायंस इन दि पंजाब म्यजियम, लाहौर खंड 2, फलक 14 सिक्का संख्या 375,381 पृष्ठ 141
4. हवइटहेड ....लाहौर खंड 2, फलक 15 सि.स.38 पृष्ठ 150
5. स्मिथ, वी. ए. कैटलाग आफ क्वायंस इन दि इडियन म्यूजियम, कलकत्ता पृष्ठ 66,79
6. कनिंघम ..... कुषाणाज पृष्ठ 61
7. एलन, जे, कैटलाग आफ दि क्वायंस आफ दि गुप्ता डाइनेस्टीज ऐन्ड आफ शशांक किंग आफ गौंड पृ. 87

हुआ है। सांची के युद्ध दृश्य में लम्बे आकार वाली ढाल का अंकन हुआ है। कनिंघम के अनुसार इसकी लम्बाई संभवतः साढ़े तीन फुट एवं चौड़ाई डेढ़ फुट होगी।[1] त्रिभुजाकार प्रकार की ढाल का अंकन सैन्य प्रयाण दृश्य में हुआ है।[2] वृत्ताकार प्रकार की ढाल का अंकन रक्षा में की भागती हुई सेना के दृश्य में[3] तथा आयातकार प्रकार की ढाल का अंकन सजाए गए कुछ अन्य दृश्यों[4] में मिलता है इसी तरह भरहुत के स्तूपों में भी ढाल का अंकन मिलता है। भरहुत के एक स्तूप में स्तम्भ में एक व्यक्ति पगड़ी धारण किए हुए तथा म्यान में रखी तलवार एवं उससे जुड़ी ढाल को वृक्ष पर लटकाते हुए अंकित है। इसी प्रकार आक्रमण की मुद्रा में योद्धा को ढाल व तलवार खींचे हुए रानी गुम्फा के युद्ध दृश्य में दिखाया गया है।[5] इन दोनों में चित्रित ढाल सांची के ढाल के समान है। इसी प्रकार अमरावती की शिल्प कला में योद्धा को एक हाथ में तलवार एवं दूसरे हाथ में ढाल लिए हुए आक्रमण मुद्रा में दिखाया गया है।[6] गांधार की शिल्प कला में एक सैनिक को गोलाकार ढाल एवं भाला लिए हुए दिखाया गया है। ढालको पकड़ने के लिए इसके आतंरिक भाग पर मूठ लगी हुई है।[7] एक अन्य दृश्य में आयातकार ढाल का अंकन हुआ जिसमें सैनिक के पहलवों का पहनावा पहने एक सैनिक को दिखाया गया है।[8]

---

1. कनिंघम, ए. दि मिलयरोपन" पृष्ठ 139
2. श्रीवास्तव ,असर्फी लाल, लाइफ इन सांची स्कल्पचर्स पृष्ठ 105
3. मार्शल, जे. एन्ड फूशे,ए, दि मानुमेंट आफ सांची रीमेंस फलक 61
4. मार्शल एण्ड फूशे..........फलक 61
5. अग्रवाल, वी.एस, भारतीय कला, पृष्ठ 189
6. शिवराम मूर्ति, सी. अमरावती स्कल्पचर्स इन दि मद्रास गवर्नमेंट म्यूजियम फलक 10 चित्र 6 पृष्ठ 125
7. इनघोल्ट, हेराल्ड गांधार आर्ट इन पाकिसतान पृष्ठ 63
8. इन घोल्ट, हेराल्ड, ...पृष्ठ 561

ऐसे ही कुछ दृश्यों में आयातकार ढाल का अंकन है। जिसका ऊपरी भाग धनुष के आकार का है।[1] केवल आयातकार प्रकार के ढालों का अंकन नागार्जुनकोंडा में हुआ है विधीत कोशल जातक[2] और ग्राम्यदृश्य[3] के चित्रण में पैदल सैनिकको को इस प्रकार की ढाल लिए हुए दिखाया गया है।[4] अजन्ता की कला मे इसी प्रकार सैनिक गोलाकार, आयाताकार प्रकार की ढाल लिए हुए है। श्रीमती काडरिंगटन के अनुसार संभवतः ढाल का निर्माण हड्डी द्वारा, दूसरी का बांस की खपाच्चियों द्वारा तथा तीसरी का निर्माण किसी धातु द्वारा हुआ है।[5] इन वर्णनों में ऐसा लगता है ढाल पैदल सैनिक का प्रमुख सुरक्षात्मक शास्त्रास्त्र था ।

---

1. कृष्णमूर्ति, के., गांधार स्कल्पचर्स ए कल्चरल स्टडी फलक 24 चित्र 12
2. लौंग हर्स्ट, ए. एच. दि बुद्धिस्ट ऐंटी क्विटीज आफ नागार्जुन कोंडा मद्रास प्रेसीडेंसी, फलक 47 अ
3. रामचन्द्रन, टी. एन. नागार्जुन कोंडा, 1938, मानुमेंट आफ आर्क्येलोजिकल सर्वे आफ इंडिया, संख्या 71 फलक 30 अ
4. याजदानी, डी, अजंता, जिल्द 4, फलक 37, ब पृष्ठ 61
5. इंडियन ऐंटीक्विटी, 1930, पृष्ठ 170

तृतीय अध्याय : दुर्ग व दुर्ग-विधान

अध्याय – 3

दुर्ग व दुर्ग-विधान

वैदिक काल से दुर्ग-निर्माण की परम्परा का उल्लेख मिलता है। दुर्ग के लिए वैदिक साहित्य में पुर, और महापुर आदि शब्दों का उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद में किले के अर्थ में दुर्ग शब्द का प्रयोग किया गया है।[1] देही शब्द शत्रु के विरुद्ध बनाए गए सुरक्षात्मक पुरों के घेरों का, विशेषतः मिट्टी से निर्मितदीवारों का अर्थ द्योतित करता है।[2] प्रोफेसर गोविन्द चन्द्र पाण्डे के मतानुसार पुर सुरक्षा प्राकार एवं खाँई से युक्त दुर्गीकृत स्थान था।[3] प्रोफेसर पाण्डे के अनुसार ऋग्वैदिक काल में पुर शब्द का अर्थ नगर या दुर्ग रहा होगा[4] पुर शब्द ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य के भी किले के सन्दर्भ में प्रयुक्त हुआ था।[5] दुर्ग में शत्रु के प्रविष्ट होने से रोकने के लिए सुरक्षात्मक प्राचीर के बाहर नगर के चतुर्दिक एक खाँई या परिखा का निर्माण किया जाता था।[6] अमर कोष में भी दुर्ग शब्द को पुर का सामानार्थक बतलाया गया है। कालान्तर में इन्हें दुर्ग गढ़ को किला आदि शब्दों से भी सम्बोधित किया है।[7]

वैदिक काल में दुर्ग वाह्य आक्रमण के संरक्षण का, प्राकृतिक एवं कृत्रिम साधन माना जाता था।आचार्य

---

1. ऋग्वेद, 5.34.9,8.25.2, सूर्य कान्त, वैदिक कोश पृ. 202.
2. सूर्य कान्त, वैदिक-कोश-208
3. पाण्डे, जी. सी., फाउन्डेशन्स आफ इंडिया कल्चर, जिल्द 2, पृ. 72, दृष्टव्य ऋग्वेद, 8.92; 10.108; 10.138 इत्यादि
4. पाण्डे, जी. सी., फाउन्डेशन्स आफ इंडियन कल्चर, जिलद 2, पृ. 99
5. सूर्य कान्त, वैदिक-कोश, पृ. 293
6. ऋग्वेद, 6.47.2, 7.6.5
7. अमरकोष, बेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, 1905,2,8,17

मैकडोनल एवं कीथ के अनुसार दुर्ग का प्रयोग मवेशियों को रोक रखने के लिए भी किया जाता था।[1] दुर्ग के महत्व को इस प्रकार बताया है कि दुर्ग केवल आक्रमण से बचने के स्थान थे, जो खांई तथा शंकु आदि से सुरक्षित और कड़ी मिट्टी की प्राचीरों से बने प्राकार मात्र होते थे।[2] रामायण में भी राज्य की रक्षा का कार्य कठिन बतलाकर राज्य की रक्षा के लिए सेना, कोष, दुर्ग और शब्द के महत्व को स्वीकार किया गया है।[3] जब कालयवन अपनी चतुरंगिणी सेना के साथ मथुरापुरी को आक्रान्त कर रहा था, तब श्रीकृष्ण ने अपनी पुरी की सुरक्षा के लिए एक दुर्जय दुर्ग का निर्माण कराया, जिस पर बैठकर पुरुषों के अतिरिक्त स्त्रियाँ भी युद्ध कर सकती थीं।[4]

दुर्ग की रक्षा करना राजा का कर्तव्य होता था।[5] प्रयाण के पूर्व अपने दुर्ग की रक्षा की व्यवस्था कर दी जाती थी।[6] दुर्ग युद्धोपकरण, अन्न-वस्त्र, आयुध, वाद्य, औषधि, सैनिकों आदि को सुरक्षित रखने के लिए उपयोग में लाया जाता था।[7] इसके अतिरिक्त शत्रु-शक्ति के निवारणार्थ दुर्ग रचना राजाओं का आठरहवां आवश्यक गुण माना गया था।[8] किले में सुरक्षित रहकर लड़ने वाला राजा अपने प्रबल शत्रुओं पर भी विजय प्राप्त कर लेता था।[9]

राजधानी का महत्व राजनीतिक, कूटनीतिक एवं सामाजिक आवश्यकताओं के कारण भी होता था। यही कारण है कि अर्थशास्त्रियों ने इसे महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया है। पराशर दुर्ग की महत्ता को स्वीकार करते हुए

---

1. वैदिक इण्डेक्स, पृ. 163
2. वैदिक इण्डेकस, पृ. 164
3. रामायण, 2.52.72
4. विष्णु पुराण, 5.23.7-11
5. अनुशासन पर्व, 145.1
6. उद्योग पर्व 151.59-61
7. अरण्य पर्व 15.7-8, रामायण 2.100.53
8. वन पर्व 268.11
9. भागवत पुराण 5.1.18

कहते है कि जनपद की विपत्ति दुर्ग पर आई विपत्ति से भयावह नहीं होती क्योंकि कोष और सेना को दुर्ग में ही सुरक्षित रखा जा सकता है शत्रु के द्वारा जनपद पर कोई विपत्ति आने पर दुर्ग ही आश्रय स्थल होता है। नगर तथा जनपद अर्थात वहां रहने वाले पुरुषों की अपेक्षा दुर्ग अधिक शक्तिशाली तथा स्थाई होती है तथा किसी प्रकार की विपत्ति आने पर हर तरह से राजा के सहायक होते हैं[1] दुर्ग सहित जनपद में निवास करना दुष्कर ही है।[2] कौटिल्य दुर्गों की महत्ता को सिद्ध करते हुए कहते है कि

राजा के कोष और सेना दोनों की रक्षा दुर्ग के द्वारा ही हो सकती है। तृष्णी युद्ध अर्थात गढ़-पुरुष आदि के द्वारा चुपचाप किसी का वध करना, अपने पक्ष के राजद्रोही पुरुषों का निग्रह करना, सैनिक शक्ति की व्यवस्था करना, मित्र सेना को प्रतिग्रह अर्थात आश्रय देना और शत्रु समूह तथा आटविकों का निराकरण करना ये सब बाते दुर्ग के द्वारा ही की जा सकती है। दुर्ग पर आक्रमण होने से उसका नाश हो जाने पर यह भी संभव है कि हमारे कोष को शत्रु छीन ले क्यों कि उसकी रक्षा के लिए हमारे पास अन्य कोई साधन नहीं । कोष को सुदृढ़ होने की अपेक्षा दुर्ग की सुदृढ़ता आवश्यक है क्यो कि सुदृढ़ दुर्ग रहने पर उनको नष्ट नहीं किया जा सकता[3] मनुस्मृति के अनुसार दुर्ग में स्थित एक धनुर्धारी सैनिक सौ शत्रु सैनिको से तथा सौ धनुर्धारी योद्धा हजार योद्धाओ से युद्ध कर सकते है।[4] कामन्दकनीति में कहा गया है कि दुर्ग में स्थित राजा अपने तथा दूसरे शत्रु के पक्ष से पूजित होता है।[5] शुक्रनीति के अनुसार अस्त्र- शस्त्र धारण किया हुआ एक सैनिक अकेला ही यदि दुर्ग में स्थित होकर लड़े तो बाहर स्थित सौ सैनिको से लड़ सकता है और यदि सौ सैनिक हो तो एक हजार सैनिक से युद्ध कर सकता है।[6]

---

1. अर्थशास्त्र (कांगले द्वारा संपा) भाग 1,2.3.1
2. अर्थ शास्त्र (......) भाग 1, 2.3.1.
3. अर्थशास्त्र, 2.3.1
4. मनुस्मृति 7.74
5. कामन्दकनीति सार 13.30
6. शुक्रनीति 4.6.10-11

पुरातात्विक साक्ष्यों से भी दुर्गों के सन्दर्भ में महत्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है हस्तिनापुर, तक्षशिला, पाटलिपुत्र, कौशाम्बी, प्रयाग, श्रावस्ती, चम्पा संघोल, शिशुपालगढ़, बलिराजगढ़, बुलंदीबाग, वैशाली, तक्षशिला, ऊचडीह, राजघाट, अहिच्छत्रा, राजगृह, भीटा, भूसी, व गढ़वा, संकिसा, गढ़। कालिका (उज्जैन) वेसनगर, चन्द्रकेतु गढ़, सरदकेल (रांची) अतरंजी खेड़ा, नोह (भरतपुर), नहुसका टीला (आजमगढ़), संकारा (अलीगढ़) कड़ामाउन्ड (मथुरा), आदि से प्राचीन नगरों एवं दुर्गों के अवशेष प्राप्त हुए। इन अवशेषों तथा उनकी स्थिति से दुर्गों की महत्ता सिद्ध होती है।

दुर्ग- विधान

दुर्ग-विधान के सन्दर्भ में वैदिक काल में ज्यादा वर्णन नहीं मिलता है केवल कुछ काव्यात्मक वर्णनों के आधार पर उनके निर्माण के बारे में पता लगाया जा सकता है। एक स्थल पर अग्नि से प्रार्थना करते हुए कहा गया कि जिस प्राकर किले चारो ओर से रहते है उसी प्रकार चारो ओर से घेरो।[1] बाद के साहित्य से दुर्ग के सन्दर्भ में वृहद जानकारी प्राप्त होती है। दुर्ग बनाने के सर्वप्रथम यथा स्थान का चुनाव किया जाता था उसके पश्चात उपर्युक्त स्थान के चुनाव के लिए एक अधिकारी की नियुक्ति की जाती थी जो दुर्ग बनाने के लिए स्थान का निर्णय करता था ।द्वारका दुर्ग की रचना के पूर्व कृष्ण द्वारका जाकर तथा उसका निरीक्षण करके दुर्ग बनाने का निश्चय किये थे।[2] इसके अतिरिक्त अन्य अनेक स्थानों में भी इस प्रकार के भूमि निरीक्षण का उल्लेख मिलता है।[3] इस कार्य को भारतीय साहित्य में भू-परीक्षण कहा जाता था। प्राचीन ग्रन्थों में दुर्ग निर्माण के निमित्त प्रशस्त भूमि के विविध लक्षणों का निर्देश दिया

---

1. तैत्तिरीय संहिता 15.18
2. विष्णु पुराण 58.1.2
3. विष्णु पुराण 38.13-19,

गया है।[1] महाभारत के अनुसार जहाँ सब प्रकार की समपत्ति प्रचुर मात्रा में भरी हुई हो तो तथा जो स्थान बहुत विस्तृत हो, वहाँ छः प्रकार के दुर्गों का आश्रय लेकर राजा को नए नगर को बसाने चाहिए।[2] पर्वतों का मध्य अथवा नदियों का तट भी दुर्ग के निर्माण के लिए उपर्युक्त स्थल माने जाते हैं। यदुनन्दन मुचुकुन्द ने माहिष्मति नगरी को बसाने के लिए विन्ध्य पर्वत के मध्यवर्ती स्थान को पसन्द किया था तथा विषम प्रस्तर खंडों से भरे हुए दुर्गम नर्मदा तट पर नगर बनाने का उपयुक्त स्थान चयन किया था।[3] जहाँ खाने-पीने की सामग्री पर्याप्त हो तथा लकड़ी भी पर्याप्त मात्रा में संचय हो सके वहाँ दुर्ग का निर्माण होता था।[4] स्मृति में कहा गया है कि रमणीक, पशुओं के जीवन निर्वाह के सहायता देने वाले एवं वनप्राय देश में निवास कर परिजनों, कोष एवं अपनी रक्षा के लिए दुर्ग बनाया जाता है।[5] शुक्रनीति के अनुसार नाना प्रकार के वृक्षों, लताओं, पशुओं तथा पक्षियों से परिपूर्ण, जल अन्न प्रचुर मात्रा में सुलभ योग्य, पर्वत के समी नदी अथवा समुद्र तट पर एवं रमणीय स्थल में दुर्ग का निर्माण उपयोगी होता है[6] कामन्दक जल, धान्य और धन से भरे स्थान को दुर्ग के योग्य बताया है।[7] इससे दुर्ग के स्थान का चयन करने के पश्चात उसके मापन की आवश्यकता महसूस होती है।

दुर्ग मापन के लिए साहित्य में नगर मापन शब्द प्रयोग हुआ है।[8] इसके पश्चात निर्माण-कर्ता जिसे वैदिक साहित्य में पुरधारी[9] कहा गया है अन्य कर्मचारी को

---

1. आदि पर्व 199, विष्णु पुराण, 98,
2. शांति पर्व 86.3-4, 87.8
3. विष्णु पुराण , 38.13-19
4. विष्णु पर्व, 38.57-59
5. याज्ञवल्क्य स्मृति 1.13.321
6. शुक्रनीति 1.2.3-2.4
7. कामन्दक नीतिसार 4.58-59
8. महाभारत आदि पर्व 119,
9. ऋग्वेद 1.173.10, दीक्षीतार, बी. आर. आर., वार इन ऐश्येंट इंडिया पृ. 125

सहायता से पुर तैयार कराता है।

महाभारत में विश्वकर्मा[1] शब्द निर्माण कर्ता के लिए मिलता है बौद्ध जातक में वास्तुविधाचार्य[2] कहलाता है। कालिदास ने उसके लिए शिल्पयध, से शब्द का प्रयोग किया है।[3] शुक्रनीतिसार में भी आराम-कृत्रिम बनकारिणः, दुर्ग कारिणाः व मार्गकारा शब्दों का उल्लेख हुआ है।[4] इन नामों के उल्लेख से ऐसा लगता है । ये दुर्ग का निर्माण अपने निरीक्षण में करवाते थे।

दुर्ग निर्माण के पूर्व नियत की गई भूमि को दुर्ग बनाने वाला दुर्ग निर्माण के लिए शुद्ध करता था। मत्स्य पुराण में इसके लिए वास्तुपूजा अथवा वास्तुशांति शब्द आते है।[5] जातकों से भी ज्ञात होता है कि वास्तुविधाचार्य दुर्ग निर्माण के आरम्भ के पूर्व भूमि को शुद्ध करता था।[6]

ऐतिहासिक काल में दुर्ग विधान के सन्दर्भ में सर्वप्रथम परिखा का निर्माण किया जाता था। परिखा की संख्या एक तथा कभी-कभी इससे अधिक हुआ करती थी। परिखाओ की संख्या अर्थशास्त्र के अनुसार तीन होती थी।[7] मेगस्नीज के विवरण से ज्ञात होता है कि पाटलिपुत्र के चारो ओर केवल एक ही परिखा थी।[8] बौद्ध ग्रन्थ में परिखा को मजबूती प्रदान करने के लिए परिखाओ के भीतरी भाग के किनारे-किनारे पर ईंटों की चिनाई जाती थी।[9] पाटलिपुत्र की परिखा में पक्की ईंटों के लगाने के सम्बंध में मेगस्नीज अपना मत व्यक्त करता है। जबकि कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में यह बताया है कि परिखा के

---

1. महाभारत, सभापर्व 57.6,
2. जातक 1,297 (कौसल्यायन अनु.)
3. रघुवंश 16.38
4. शुक्र नीति 1/390.96
5. मत्स्य पुराण 252.17-18
6. जातक 1.297
7. अर्थशास्त्र (कांगले द्वारा संपा.) भाग 1, 2.3.4.
8. मैक्रिडल, ऐंश्येंट इंडिया, इटस इनवेजन बाई अलेक्जेन्डर दि ग्रेट, खंड 26 पृ. 58
9. मैक्रिडल, . . अलेक्जेन्डर दि ग्रेट खंड 26 पृ.68

मूल (नींव) तथा उसकी दीवालों में या तो ईंटों की चिनाई की जाये अथवा पाषाण खंड लगा दिए जाए।[1] राजघाट के उत्खनन से भी ज्ञात होता है कि यहां की परिखा एक तरफ बसुवा नदी तथा दूसरी तरफ गंगा नदी से जोड़ी गई थी।[2]

परिमाण के सन्दर्भ में कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में किया है कि पहली परिखा 14 दंड, दूसरी 12 दंड तथा तीसरी 10 दंड चौड़ी होनी चाहिए।[3] अधिक चौड़ी परिखाओं के होने के बारे में, महाभारत[4] भी उल्लेख मिलता है। पाटलिपुत्र की परिखा के 600 फुट चौड़ी होने का उल्लेख विदेशी लेखक मेगस्नीज ने किया है।[5] अर्थ शास्त्र के अनुसार परिखा की गहराई उसकी चौड़ाई से चतुर्थांश कम होनी चाहिए।[6] परिखा की गहराई उसकी चौड़ाई की केवल आधी हो ऐसा वर्णन शुक्रनीति में मिलता है।[7]

किंतु अन्य स्थलों पर प्राप्त परिखा की गहराई की माप से यह पता चलता है कि यह परिखा की चौड़ाई से बहुत ही कम था। उदाहरण के लिए मेगस्नीज ने पाटलिपुत्र की परिखा को जहां छः सौ फुट चौड़ी बताई है, वहां केवल उसकी गहराई केवल 15 फुट ही कही है।[8]

---

1. अर्थशास्त्र 2.3.4.।
2. नारायण, ए. के. ऐंड राय, टी. एन., एक्सकेवेशंस ऐट राजघाट, भाग 1, पृ. 58
3. अर्थशास्त्र, 2.3.4.
4. आदि पर्व 199.7
5. मजूमदार, आर्. सी., दि क्लासिकल एकाउन्टस आफ इंडिया पृ. 224
6. अर्थशास्त्र 2.3.4.
7. शुक्रनीति 1.240
8. मैक्रिंडल, जे. डब्लू. ऐंश्येंट इंडिया इट्स इनवेजन बाई अलेक्जेन्डर दि ग्रेट, खंड 26, पृ. 64, प्रो० जी. सी. पाण्डे के अनुसार मिलिन्दपन्ह में वर्णित हिन्द-यवन के शाकल नगर की दुर्ग-योजना पाटलिपुत्र के समान थी, दृष्टव्य, पाण्डे, जी. सी., फाउन्डेशन आव इंडियन कल्चर, पृ. 102

पाणिनी ने अष्टाध्यायी में एक सूत्र के उदाहरण में काशिका में परिखा की गहराई का परिमाप त्रिपुरुषी बताया है ।जब कि अर्थशास्त्र में इसे खात पौरुष कहा गया है । इस खात पौरुष को 84 अंगुल अर्थात स्थिति में त्रिपुरुषी परिखा की गहराई का परिमाप पन्द्रह फुट नौ इंच आता है ।[1] इन तथ्यों से ऐसा लगता है कि संभवतः यही परिखा की प्रमाणक गहराई रही होगी ।

जहां तक परिखा के भेद का संदर्भ है, इस संबंध में यह कहा जा सकता है कि प्राचीन ग्रन्थों में परिखा के तीन भेद बताए गए हैं-जल-परिखा, पंक परिखा तथा रिक्त-परिखा । अर्थ शास्त्र में तोय-परिखा को ही जल-परिखा कहा गया है, जबकि जातकों में जल परिखा को उदय-परिखा कहा गया है ।[2] जहां तक पंक परिखा का संबंध है इस सन्दर्भ में जातकों में कदम परिखा शब्द मिलता है जो दलदलों से भरी रहती थी ।[3] ऐसी परिखा को पार करना शत्रुओं के लिए टेढ़ी-खीर थी ऐसा मानना है । इसी तरह रिक्त परिखा के संबंध में अष्टाध्यायी में सुकरव परिखा शब्द मिलता है ।[4] महाउम्माग जातक से ज्ञात होता है कि मिथिला नगरी इन तीनों प्रकार की परिखाओं से युक्त थी ।[5]

कभी-कभी भयंकर जलजन्तु भी इन परिखाओं के जल में छोड़ दिए जाते थे, जिससे शत्रु परिखा को पार न कर सके । परिखा के जल में घड़ियाल आदि जलचरों

---

1. अग्रवाल, वी. एस., पाणिनी कालीन भारत, पृ. 144
2. अग्रवाल, वी. एस., पाणिनी कालीन भारत, पृ. 144
3. अग्रवाल, वी. एस., पाणिनी कालीन भारत, पृ. 144
4. अग्रवाल, वी. एस., पाणिनी कालीन भारत, पृ. 144
5. महाउम्माग जातक 546, उधृत, दत्त, बी. बी., टाउन प्लानिंग इन ऐंश्येंट इंडिया, पृ. 92

को छोड़ने का निर्देश अर्थशास्त्र में कौटिल्य ने दिया है।[1] परिखा के जल में मगरमच्छ और बड़े बड़े मत्स्य आदि भयंकर जन्तु छोड़ दिए जाने का उल्लेख महाभारत में हुआ है।[2] संगम कालीन दक्षिण भारतीय ग्रन्थों में भी परिखा में घड़ियाल आदि भयंकर जीव-जन्तुओ के छोड़ने का उललेख मिलता है। इस काल की परिखा को घोड़ें हाथी या शेर के चेहरे की आकृति वाली नावों के द्वारा ही पार करना संभव था।[3] इन परिखाओ में कही कही नगर के अशुद्ध जल भी गिराये जाते थे।[4] परिखा के निर्माण के पश्चात् वप्र का निर्माण किया जाता था। अथर्ववेद में वप्र शब्द मिलता है, जिसका अर्थ परकोटा या गढ़ की चाहारदिवारी किया गया है।[5] परिखा का उत्खन्न करते समय परिखा से निकली हुई मिट्टी से वप्र एवं प्रकार का निर्माण किया जाता था।[6] परिखा से चार दंड अर्थात चौबीस फुट की दूरी पर एकत्रित की जाती थी इस ग्रन्थ में ऊर्ध्वचय, मंच पृष्ठ और कुम्भ कुक्षिक प्रकार के प्रकारों का उल्लेख मिलता है।[7] इन प्राकारों को बनवाते समय इनकी मिट्टी को हाथी और बैलों से अच्छी तरह रौंदवाना चाहिए तथा इनके चारों ओर कांटेदार विषैली झाड़िया लगी होनी चाहिए। इस प्रकार जो वप्र तैयार होता था अर्थशास्त्र के छः दंड अर्थात छत्तीस फुट ऊचा तथा बारह दंड अर्थात बहत्तर फुट चौड़ा होता था।[8]

वप्र के ऊपर प्राकार या परकोटे का निर्माण किया जाता था । प्राकार को नगर की सुरक्षा का आवश्यक अंग समझा जाता था। वप्र के ऊपर जितनी भूमि में प्राकार बनाना होता था उसे प्राकारीय देश कहा जाता

---

1. अर्थ शास्त्र (कांगले द्वारा संपा.) 2.3.5
2. शांति पर्व 69.68
3. सुब्रहमण्यन, एन. संगम पालिटी, पृ. 160
4. अय्यर, टाउन प्लानिंग इन ऐश्येंट डेकन, पृ. 30
5. सूर्य कांत, वैदिक कोश, पृ. 456
6. अर्थशास्त्र, 2.3.8.
7. अर्थशास्त्र, 2.3.5.
8. अर्थशास्त्र, 2.3.5.

था ।[1] पांसु प्राकार, इष्ट का प्राकार और प्रस्तार प्राकार ये तीन प्रकार के प्राकार होते थे ।[2] प्रथम प्रकार के प्राकार मिट्टी के द्वारा बना होता था, जिसे पांसु प्राकार कहा गया है उसी को महाभारत में मृदवुर्ग कहा गया है ।[3] बाद में पांसु प्रकार को ही धूल कोट कहा जाने लगा ।[4] द्वितीय प्रकार के प्राकार में ईटों की चिनाई की जाती थी जिसे इष्टका कहा गया है पाणिनी ने प्राकारीया इष्टका अर्थात वे ईटे जो प्रकार में चुनने के लिए निर्मित किए जाते थे, का वर्णन किया है ।[5] अर्थ शास्त्र में भी इस प्राकार का उललेख मिलता है ।[6] अशोक द्वारा उत्कीर्ण कराये गए रुम्मिन देई के स्तम्भ लेख में पत्थर की दीवाल का स्पष्ट उल्लेख प्राप्त होता है ।[7] तमिल ग्रन्थों से विदित होता है कि पाण्डय की राजधानी मदुरा की दीवाल में पत्थर चुनें गए ।[8] तक्षशिला में अब भी प्रस्तर प्राकार के अवशेष प्राप्त है ।

एक नगर में प्राकारों की संख्या बहुधा एक ही होती थी पर बड़े नगरों में कई हुआ करती थी। पाटलिपुत्र नगर तीन प्राकारों से घिरा हुआ था ऐसा वर्णन मेगस्नीज ने किया है। प्राकार की दीवार की ऊचाई कम से कम 12 हाथ तथा अधिक से अधिक चौबीस हाथ तक होनी चाहिए । प्राकार का ऊपरी भाग इतना अधिक चौड़ा हो कि एक रथ आसानी के साथ उस पर चलाया जा सके, ऐसा वर्णन कौटिल्य ने अर्थ शास्त्र में किया है ।[9] पंतजलि के अनुसार भी प्राकार इतने ऊचे और चौडे होने चाहिए

---

1. अग्रवाल, वी. एस., पाणिनी कालीन भारत वर्ष, पृ. 143 .
2. राय, यू. एन., प्राचीन भारत में नगर तथा नगर जीवन पृ. 245 और आगे
3. शांति पर्व, 86.5
4. अग्रवाल, वी. एस. पाणिनी कालीन भारत वर्ष पृ142
5. अग्रवाल, वी. एस. पाणिनी कालीन भारत वर्ष पृ144
6. अर्थशास्त्र, (कांगले द्वारा संपा.) भाग 1, 2.3.8
7. सरकार, दि. च., सेलेक्ट इंस्क्रिपशंस, पृ. 70
8. अययर, टाउन प्लानिंग ऐंश्येंट डेकन, पृ. 37
9. अर्थशास्त्र, 2.3.7.

कि उनके ऊपरी भाग पर आवागमन की व्यवस्था की जा सके।[1] नगर के प्राकार इतने ऊचे बनायें बनायें जायें कि शत्रु उन्हे पार न कर सके।[2]

अर्थशास्त्र में शत्रु के आक्रमण से सुरक्षा को ध्यान में रखते हुए यह निर्देश दिया गया है कि प्राकार की बाहरी भूमि में शत्रुओ के घुटनों को तोड़ देने वाले खूटे, त्रिशूल, अंधेरे गड्ढे लौहकंटक के ढेर, सांप के कांटे, कुत्ते की दाढ़ के समान लोहे की तीक्षण कीले, बड़े बड़े लट्ठे कीचड़ से भरे हुए गड्ढे आग और जहरीले पानी के गड्ढे आदि बनाकर दुर्ग के मार्ग को पाट देना चाहिए।[3] रामायण के अनुसार अयोध्या नगर शतघ्नी द्वारा सुरक्षित था।[4] महाभारत के अनुसार हस्तिनापुर तथा इन्द्र प्रस्थ नगरों की रक्षा शतघ्नी तथा अन्य औजारों से की जाती थी।[5] जिस समय शत्रु सेना नगर पर आक्रमण करती थी, उस समय इसकी रक्षा के लिए धनुर्धर योद्धा प्राकारों के चारों तरफ खड़े हो जाते थे। और नगर द्वार के सम्मुख हाथियों का समूह खड़ा किया जाता था, जो भीतर प्रवेश चाहने वाली शत्रु सेना का रौंद डालता था। ऐसा वर्णन मुद्रा राक्षास में मिलता है।[6]

बुर्जो का निर्माण प्राकारों में स्थान स्थान पर किया जाता था। इसे अट्टालक के नाम से प्राचीन ग्रन्थों में वर्णित किया गया है। इन अट्टालक का निर्माण नगर-प्राकार की चारों दिशाओं में होता था अट्टालकों के बीच तीस दंड या 180 फुट की दूरी होनी चाहिए।[7] पाटलिपुत्र के प्राकार में 570 बुर्जो का निर्माण किया गया

---

1. अग्निहोत्री, प्रभुदयाल, पंतजलि कालीन भारत, पृ. 188
2. शुक्रनीति 1.2.8
3. अर्थ शास्त्र, (कांगले द्वारा संपा.) भाग 1, 2.3.15.
4. बल कांड 5.11
5. आदि पर्व 206.34
6. मुद्रा राक्षास 2.1
7. अर्थ शास्त्र, (कांगले द्वारा संपा.), भाग 1, 2.3.5

था ऐसा वर्णन मेगस्नीज ने किया है।[1] अर्थ शास्त्र में वर्णन मिलता है कि अट्टालक या बुर्ज के ऊपर पहुचने के लिए सीढ़ी का निर्माण किया जाता था। इसकी ऊचाई बुर्ज की ऊचाई के अनुपात में होती थी।[2] इन चार द्वारों के अतिरिक्त गौण द्वार भी होते थे, जिसे अर्थशास्त्र में प्रतोली कहा गया है।[3] महाभारत के अनुसार पाटलिपुत्र के परकोटे में प्रतोली द्वार बने हुए थे।[4] प्रतोली का उल्लेख कुमार गुप्त कालीन बिल्सढ़ के अभिलेख में हुआ[5] अर्थ शास्त्र के अनुसार अट्टालिका और प्रतोली के बीच इन्द्रकोश नामक विशिष्ट स्थान बनवाया जाये। वह इतना बड़ा हो जिसमें तीन धनुर्धारी संतरी आसानी से बैठ सके। उसके आगे छिद्रयुक्त एक ऐसा तख्ता लगा रहना चाहिए, जिससे धनुर्धारी बाहर की वस्तु देख सके और भीतर से ही निशाना साध सकें, किंतु बाहर के लोग उन्हें न देख सकें।[6]

इन्द्रकोष के पीछे देवताओ के लिए देवपथ मार्ग बनाया जाता था जिसका उल्लेख अर्थशास्त्र में मिलता है। यह आठ हाथ चौड़ा होता था।[7] पाणिनी ने अपने अष्टायायी में देवपथ का उल्लेख किया हो।[8] कालिदास ने रघुवंश में देवपथ को सुरपथ माना है।[9]

इस प्रकार से दुर्ग निर्माण में परिखा, प्राकार, अट्टालक, प्रतोली, गोपुर, इन्द्रकोष एवं देवपथ मार्ग दुर्ग के आवश्यक अंग के रूप में प्राप्त होते हैं। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि परिखा, प्राकार आदि से सुरक्षित राजधानी शासन के केन्द्र एवं सामरिक महत्व के स्थान के

---

1. मजुमदार, आर. सी., दि क्लासिकल एकाउन्टस आफ इंडिया पृ. 224
2. अर्थशास्त्र, 2.3.10
3. अर्थशास्त्र, 2.3.16.
4. अग्रवाल, वी. एस. पाणिनी कालीन भारत वर्ष पृ145
5. सरकार, डी. सी., सेलेक्ट इंस्क्रिपशंस, पृ. 279
6. अर्थशास्त्र, 2.3.12.
7. अर्थशास्त्र, 2.3.13.
8. अग्रवाल, वी. एस. पाणिनी कालीन भारत 5.3.100
9. रघुवंश 13.19

रूप में सप्त प्रकृति राज्य में महत्व रखती थी जिसके कारण भारतीय राज्य शास्त्र प्रणेताओ ने राज्यसत्ता के साथ दुर्ग को भी प्रमुख अंगों में स्थान प्रदान किया है।

दुर्ग के प्रकार:

अर्थशास्त्र[1] में चार प्रकार के दुर्गों का वर्णन मिलता है-(1) औदक दुर्ग उसे कहते थे, जिसके चारो ओर पानी हो तथा बीच पानी से घिरा स्थल हो (2) पार्वत दुर्ग बड़ी बड़ी चट्टानों अथवा पर्वत की कंदराओ के रूप में निर्मित होता था। (3)जल तथा घास आदि से रहित अथवा सर्वथा ऊसर भूमि में निर्मित दुर्ग धान्वन दुर्ग कहलाता है (4) चारो ओर दल दल से घिरा हुआ अथवा काँटे दार संघन झाड़ियों से परिवृत दुर्ग वन दुर्ग कहलाता है। इनमें औदक तथा पार्वत दुर्ग आपत्ति काल में जनपद की रक्षा में उपयोग में लाए जाते है। धान्वन दुर्ग और वन दुर्ग पालों की रक्षा के लिए उपयोगी होते है अथवा अपत्ति काल में राजा इन दुर्गों में भाग कर अपनी रक्षा कर सकता है।

परवर्ती काल में छः प्रकार के दुर्गों का उल्लेख मिलता है विशेष रूप से मनु[2] द्वारा वर्णित छः प्रकार के दुर्गों में धन्वदुर्ग जिसके चारो तरफ रेत ही रेत हो, मही दुर्ग- यह दुर्ग चारो तरफ से पत्थर की चारदीवारी से घिरा रहता है, जल दुर्ग चारो ओर से जल से घिरा रहता है। वृक्ष दुर्ग के चारो ओर वृक्ष तथा कटीले लताओ, झाड़ियों आदि से घिरा होना चाहिए। नृ-दुर्ग के चारो ओर हाथी, अश्व तथा पैदल सेना नियुक्त रहनी चाहिए। गिरिदुर्ग पर्वत की शिखर के ऊपर होता है। मनु ने गिरि दुर्ग को सर्वश्रेष्ठ बताया है।[3] ऐसा ही उल्लेख कामन्दक नीतिसार में भी किया गया है।[4] जलवाले, वृक्षोंवाले, पर्वत वाले, ऊसर भूमि वाले व धन संम्पति वाले दुर्ग की प्रशंसा कामन्दक नीतिसार में किया गया है।[5]

---

1. अर्थशास्त्र (कांगले द्वारा संपा), भाग 1,2.3.1
2. अर्थ शास्त्र 2.3.2.
3. मनुस्मृति, 7.70
4. कामन्दक नीतिसार, 4.60
5. कामन्दक नीतिसार, 4.59

छह प्रकार के दुर्गों का विधान महाभारत में भी मिलता है[1] धान्वन दुर्ग जिसके चारो तरफ बालू का घेरा हो, उसे धान्वदुर्ग कहते है। समतल जमीन के अन्दर निर्मित किया या तहखान मही दुर्ग कहलाता है। पर्वत शिखर पर बना हुआ वह किला जो चारो तरफ से उत्तुंग पर्वतमालाओ द्वारा घिरा हुआ हो, गिरि दुर्ग कहलाता है। फौजी किले का नाम मनुष्य दुर्ग है। जिसके चारों तरफ जल का घेरा हो, वह जल दुर्ग कहलाता है और जो स्थान कटवांसी आदि घने जंगलों से घिरा हुआ हो उसे वन दुर्ग कहा गया है।

इन्द्र प्रस्थ नगर कई खाइयों के द्वारा घिरा हुआ रहता था ऐसी जानकारी महाभारत से होती है। इन्द्र प्रस्थ के चारो ओर उच्च प्राकार भी था और प्राकार में दुर्ग तथा द्वार बने हुए थे। विध्वंसकारी शस्त्र प्राकार की ऊचाई पर एकत्र किए गए थे।[2] दुर्ग एव नगर योजना पर पर्याप्त प्रकाश रामायण में भी अनेक स्थलों पर पड़ता है। रामायण में लंका के दुर्ग का यह विवरण बताता है कि दुर्ग की दीवारे ऊची, दृढ़ तथा खाइयों से सुरक्षित होती थी। खाई में जल भरा रहता था और उसमें भयानक जीव जन्तु रहते थें। दीवारों के ऊपर सैकड़ो शतघ्नी जैसी मशीने लगी होती थी, जिससे दुर्ग के बाहर शत्रु पर अस्त्रो की वर्षा की जा सकती थी। खाई पर दुर्ग के भीतर आगे जाने के लिए पुल बने होते थे, जिनके दोनो सिरों पर विध्वंसक यंत्र लगाए जाते थे।[3]

कई प्रकार के दुर्गों का विवरण शुक्रनीति में भी मिलता है, उदाहरणार्थ- एरिण दुर्ग, वन दुर्ग, पारिध दुर्ग, धन्वदुर्ग, जलदुर्ग, गिरिदुर्ग, सैन्य दुर्ग तथा सहाय दुर्ग आदि। दुर्गों में सर्वश्रेष्ठ दुर्ग सैन्य दुर्ग को आचार्य शुक्र ने माना है।[4] कामन्दक नीतिसार में जहां दुर्ग, पर्वत दुर्ग,

---

1. शांति पर्व 86.4-5, उध्दृत पंत, जी.एन. स्टडीज इन इंडियन वेपन्स एन्ड वार के फेयर पृ. 217
2. आदि पर्व 199.118, 119, 120
3. युद्ध कांड, अध्याय 3
4. शुक्रनीति, 4.6.1-8

वृक्षदुर्ग, ऊसर भूमि दुर्ग और मरु भूमि दुर्गों की प्रशंसा की गई है।[1] मानासार में इसी से मिलता जुलता विभाजन दुर्ग के सन्दर्भ में बताया गया है।[2]

इन दुर्गों को विभिन्न प्रकार की सामग्रियों से युक्त रखा जाता था। इस सन्दर्भ में अर्थशास्त्र में उल्लेख मिलता है कि आपत्ति के समय के लिए पहले से ही दुर्ग में लगभग सभी आवश्यक सामग्री को एकत्रित कर लेना चाहिए, ताकि शत्रु से घिरे होने पर भी बहुत समय दुर्ग के अन्दर रहने वाले जीवन व्यतीत कर सके। विदेशी लोगों को दुर्ग से बाहर रहकर सीमांत प्रदेश में बसाने का आदेश दिया गया है क्योंकि विदेशी दुर्ग में रहकर धोखा भी दे सकता है।[3] दुर्ग में पर्याप्त अस्त्र-शस्त्र, अनाज, औषधि, धन, घोड़ा, हस्ति, भारवाही पशु, ब्राह्मण, शिल्पकार, मशीने (जो सैकड़ों को एक बार मारती है) जल एवं भूसा आदि समानों का प्रबन्ध मनुस्मृति के अनुसार होना चाहिए।[4] राजा को चाहिए कि वह दुर्ग को युद्ध की सामाग्रियों से परिपूर्ण रखे अर्थात भोजन के अनाज, शूरवीर सैनिक, आयुध एवं कोष से परिपूर्ण रखे। इन सामग्रियों से युक्त दुर्ग ही सर्वश्रेष्ठ होता है और राजा निश्चित रूप से विजयी होता है। ऐसा उल्लेख आचार्य शुक्र ने किया है।[5]

विदेशी लेखकों द्वारा वर्णन:

सिकन्दर के आक्रमण के समय शाकल में कठ जाति के लोग निवास करते थे। उस समय शाकल नगर के चारो तरफ एक ऊची विशाल दीवाल तथा गहरी खांई थी। यूनानी सैनिकों से अपनी रक्षा के लिए यहाँ के कुछ गहरी खांई थी। यूनानी सैनिकों से अपनी रक्षा के लिए यहाँ के

---

1. कामन्दक नीतिसार, टी. गणपति शास्त्री से त्रिवेन्द्रम सीरीज, भाग 14, त्रिवेन्द्रम 19.2 सर्ग 4, श्लोक 59
2. मानसार, प्रसन्न कुमार आचार्य (सं.), इलाहाबाद 1933, अ. 10, 90-91
3. बाजपेयी, अम्बिका प्रसाद, हिन्दू राज्यशास्त्र पृ.364
4. मनुस्मृति, 7.75
5. शुक्रनीति, 4.6.11-12

कुछ लोगों ने, इसे तैर कर पार किया था एरियन ने इसे परीक्षा की झील की संज्ञा प्रदान की है।[1] इसी प्रकार कर्टियस ने अश्वकों के मस्सग दुर्ग के विषय में लिखा है कि नगर प्राकृतिक एवं कृत्रिम दोनों ही प्रकार से सुरक्षित था। उसके पूर्व में विशाल पहाड़ी दर्रा था जिसके दोनों खड़े किनारों के कारण नगर तक आने जाने में असुविधा होती थी। उसकी पश्चिम तथा दक्षिण की तरफ विशाल चट्टानें उसकी प्राकृतिक दीवार बना रही थी, जिसके बीच-बीच में चौड़ी तथा दलदली दीवार बहुत गहराई तक चली गई थी और नगर के चारो तरफ पत्थर तथा ईंटों की दीवार बनाई गई थी।[2] सिकन्दर अपने सैन्य अभियान में कुछ प्रदेशों पर विजय प्राप्त करने के पश्चात् एओर्निस दुर्ग पर आक्रमण किया था, इस दुर्ग की अभी ठीक-ठीक पहचान नहीं हो सकी है।[3] यह संभवतः पर्वतीय था, जिसके अन्दर प्राप्त आश्रय से पर्वताश्रयी जातियों ने अंतिम मोर्चा लिया था।

मौर्य कालीन दुर्ग विधान के सन्दर्भ में विदेशी लेखकों तथा अर्थशास्त्र, बौद्ध ग्रन्थों आदि से जानकारी मिलती है। जहाँ तक पाटलिपुत्र का सम्बन्ध है इस सन्दर्भ में मेगस्थनीज ने लिखा है कि पाटलिपुत्र नगर गंगा एवं सोन के संगम पर स्थित था, जिसकी लम्बाई अस्सी स्टैडिया अर्थात दस मील एवं चौड़ाई पन्द्रह स्टैडिया अर्थात लगभग 2 मील थी। इसके चतुर्दिक छः सौ क्यूबिट अर्थात 600 हाथ चौड़ी एवं 30 क्यूबिट अर्थात 30 हाथ गहरी खाई थी, जिसमें सोन नदी से जल भरा जाता था। पाटलिपुत्र नगर के चारो ओर एक ऊंची दीवाल या प्राचीर थी जिसमें चौसठ द्वार तथा पांचसौ सत्तर बुर्ज बने

---

1 कनिंघम, ए. ऐंश्येंट ज्योग्राफी पृ. 369-70

2 मैकिंडल, इंडिया ऐन्ड इट्स इनवेजन बाई अलेक्जेंडर पृ. 194-195

3. आर्कियोलाजिकल सर्वे, में मायर, संख्या 42, पृ. 89-90

हुएथ।[1] इन तथ्यों के आधार पर स्ट्रेबो का कथन है कि पाटलिपुत्र नगर सामानांतर चतुर्भुज की आकृति का था और पूरा नगर लकड़ी की दीवार से घिरा था। इस दीवार में जगह जगह छिद्र बने हुए थे, जनसे शत्रु पर शर-संधान किया जा सके।[2] नगर प्राचीर के बाहर एक परिखा का निर्माण किया गया था जो सुरक्षा का कार्य करती थी तथा इसमें नगर का दूषित जल गिरता था।[3] मेगस्थनीज के अनुसार यह परिखा 183 मी. चौड़ी तथा 14 मी. गहरी थी। किन्तु अर्थशास्त्र के अनुसार इनकी चौड़ाई क्रमश: 25, 22 और 28 मी. बनाई गयी है। प्रत्येक परिखा के बीच में 2 मी. चौड़ी भूमि खुली छोड़ी जाती थी। अत: कुल मिलाकर तीनों परिखाओ की चौड़ाई केवल 69 मी. बनती है जो मेगस्थनीज की संख्या से काफी कम है। यहाँ पर विशेषरूप से यह उल्लेखनीय है कि कुमहार की खुदाई में एक 13 मी. चौड़ी और 3 मी. गहरी नहर मिली थी जो अनन्त सदाशिव अल्टेकर के अनुसार सोन की एक शाखा तथा अंतत: गंगा से संबंध थी।[4] इसी मेगस्थनीज ने जिन पांच सौ सत्तरह बुर्जों का उल्लेख किया है, उनके स्थापत्य का अनुमान करना कठिन है।[5] अल्टेकर और मिश्र का विचार है कि यदि नगर की प्राचीरों का घेरा 36 मील 1 किमी. था तो 570 बुर्जों में एक दूसरे के बीच की दूरी 67 मीटर की रही होगी। इन पर धनुर्धर रहते थे।[6]

---

1. मजुमदार, आर.सी., क्लासिकल एकाउन्टस ऑफ इण्डिया पृ. 224,262
2. कनिंघम, ए. आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ इंडिया, रिपोर्ट, जिल्द,11 पृ. 252
3. मजुमदार, आर. सी., क्लासिकल एकाउन्ट्स ऑफ इंडिया, पृ. 224, कनिंघम, ए. ए. एस आई. आर. पृ. 152
4. गुप्ता, स्वराज प्रकाश, दि रूट्स ऑफ इंडियन आर्ट, पृ. 236
5. गुप्ता, स्वराजप्रकाश, दि रूट्स ऑफ इंडियन आर्ट, पृ. 236
6. जेम्स लेग्गे, दि टैवेल्स ऑफ फाहियान, पृ. 79

राजगृह के सन्दर्भ में फाहियान ने लिखा है कि यह नगर पांच पहाड़ियों के बीच एक घाटी में अवस्थित है। ऐसा ही विचार हर्ष कालीन चीनी यात्री ह्वेनसांग का भी था।[1] इस नगर का घेरा 150 ली (25 मील) तथा भीतर की दीवारों (प्राचीरों) का घेरा 30 ली (5मील) है।[2] कनिंघम ने नगर की प्राचीर का सर्वेक्षण करके पता चलाया था कि इनका घेरा 24, 500 फुट (लगभग 4-518 मील) है जो फाहियान तथा ह्वेनसांग के विवरणों के बीच ठहराता है।[3] जहाँ तक चंपा नगर की प्राचीर का सम्बन्ध है इस सन्दर्भ में ह्वेनसांग ने लिखा है कि चम्पा की प्राचीरों की सुरक्षा दीवाल पक्की ईंटों से निर्मित है, जो 10 फुट से भी अधिक ऊंची है । यह सुरक्षा-दीवाल एक ऊंचे अधिष्ठान पर बनी है, जिससे शत्रु के आक्रमण को रोका जा सके।[4] गुप्त कालीन दुर्गों के सन्दर्भ में कालिदास ने अपनी रचनाओं में स्पष्ट वर्णन नगर वर्णन में किया है। गुप्त काल में नगरों की रक्षा के लिए जो दुर्ग निर्मित किए जाते थे वे परिखा, वप्र, प्राकार आदि से युक्त होते थे। उनके प्रवेश द्वार के लिए विशाल फाटकों का निर्माण किया जाता था ।[5]

प्राचीन शिल्प कला में अंकन:

भारतीय शिल्प-कला एवं मूर्तिकला से भी तत्कालीन दुर्ग व्यवस्था एवं उसके अंगों पर प्रकाश पड़ता है। उदाहरणार्थ- द्वार, प्राकार तथा परिखा आदि का अंकन हुआ है। भरहुत, सांची, अमरावती, मथुरा, गान्धार आदि के शिल्प कला में यत्र-तत्र इनका अंकन

---

1. बील, एस., रिकार्डस ऑफ दि वेस्टर्न वर्ल्ड, खंड 2, पृ. 150
2. बील, एस., रिकार्डस ऑफ दि वेस्टर्न वर्ल्ड, खंड 2, पृ. 150
3. कनिंघम, ए., एँश्येंट ज्योग्राफी, पृ. 391
4. बील, एस., रिकार्डस ऑफ दि वेस्टर्न वर्ल्ड, खंड 2, पृ. 192
5. कालिदास, रघुवंश, वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री पारितकर (संख्या) बम्बई 1967, xii, 71; 1, 30; xi'12; 4; xii' 66

हुआ है। शक्यों की राजधानी कपिलवस्तु का चित्रण सांची स्तूप के पूर्वी तोरण-द्वार पर किया गया है। इस शिल्पकला में कपिलवस्तु के नगर के प्राकार तथा परिखा का अंकन हुआ है। एक पहरेदार की आकृति नगर के प्रधान द्वार के समीप है। जिसके शरीर का केवल ऊपरी भाग ही परिलक्षित हो रहा है। यह नगर-द्वार पक्का तथा सुदृढ़ बनाया गया है।[1] सांची स्तूप के दक्षिणी तोरण द्वार के मध्य भाग में नीचे की ओर मल्लों की राजधानी कुशीनगर के प्राकार तथा परिखा का अंकन मिलता है। प्राकार के भीतरी भाग में नगर के कुछ भवन दिखाई पड़ते हैं। नगर के बाईं तरफ एक द्वार का अंकन है, जिसके ऊपरी भाग पर एक सशस्त्र सैनिक चित्रित हैं, नगर के बाईं ओर ऊपरी भाग में एक कमरा निर्मित है, जिसमें तीन सशत्र सैनिक दिखाए गए हैं।[2] इनमें से पहला हाथ में धनुष-बाण, दूसरा गदा, तीसरा भाला जैसा कोई शस्त्र लिए हुए है।[3] शत्रु के आक्रमण के समय से सैनिक दुर्ग के ऊपर से प्रतिपक्षी सेना पर बाण तथा अन्य अस्त्रों की वर्षा सुगमता तथा प्रभावकारी ढंग से कर सकते थे। इसी प्रकार उत्तरी तोरण द्वार में जेतुत्तर नगर का अंकन किया गया है। इसमें इस नगर के प्राकार तथा प्रधान-द्वार का चित्रण किया गया है। नगर के भवनों को प्राकार के भीतर दिखाया गया है। द्वार के दाहिने तरफ प्राकार में एक बुर्ज बना हुआ है और द्वार के ऊपरी भाग पर दो मंजिलों वाला गृह है जिसका निर्माण संभवतः सैनिकों के प्रयोग के लिए किया गया होगा।[4]

श्रावस्ती नगर का अंकन सांची के उत्तरी तोरण द्वार पर मिलता है। इस दृश्य में बाईं तरफ कुछ भवन

---

1. मार्शल, जे. एन्ड फूशे, ए. दि मोनूमेंट्स ऑफ सांची, जिल्द 2, फलक 40
2. मार्शल एन्ड फूशे, ए., दि मोनूमेंट्स ऑफ सांची, जिल्द 2, फलक 15 द्रष्टव्य चित फलक 31.
3. मार्शल एन्ड फूशे, ए., दि मोनूमेन्ट्स ऑफ सांची, जिल्द 2 फलक 15
4. मार्शल, जे., एण्ड फूशे, ए. दि मोनूमेन्ट्स ऑफ सांची रीमेन्स, जिल्द 2, फलक 31

तथा नगर का प्रधान द्वार परिलक्षित हो रहा है और दाईं तरफ नगर की दीवाल भी दिखाई पड़ रही है।[1] राजगृह नगर का प्राकार तथा प्रधान द्वार दिखाया गया है। इस द्वार से एक रथ बाहर निकलता हुआ दिखाई पड़ता है। नगर के भीतर एक भवन तथा नगर की दीवाल में एक बुर्ज का अंकन है।[2]

अमरावती स्तूप में सांची की भांति कुशीनगर का अंकन है। अमरावती स्तूप के नगर की दीवाल के एक भाग में बुर्ज बना हुआ है। नगर के प्रधान द्वार से एक मल्ल सरदार को गज पर आसीन होकर बाहर आते हुए दिखाया गया है।[3] मथुरा की कला में भी द्वार तथा प्राकार आदि का चित्रण मिलता है। इसमें एक स्थान पर त्रिभूमिक प्रासाद का अंकन है। इसके सामने की तरफ एक प्राकार तथा अगल-बगल दो अट्टालक भी दिखाये गए हैं। प्राकार के बाहर तथा भीतर कई पहरेदारों का अंकन है।[4] मथुरा से प्राप्त एक आंशिक रूप से खण्डित चार भारवाही यक्षों पर आधारित सबसे निचले दृश्य खण्ड पर दो छज्जों वाले प्रवेश द्वार का अंकन है। प्रवेश द्वार के दोनों ओर कंगूरेदार चहारदीवारी है जिसके पीछे से हथियार बंद सैनिकों के सिर तथा ताड़ के वृक्ष दिखाई पड़ रहे हैं। दोनों किनारों पर एक मीनार भी उत्कीर्ण हैं। अगले दृश्य खण्ड में, जिसके किनारों पर खड़े भारवाही यक्षों की प्रतिमाएं उत्कीर्ण हैं- एक सशस्त्र सैनिक को, एक छतदार ढलवा मार्ग की निगरानी करते हुए दिखाया गया है। यह मार्ग ऊपर के दृश्य खण्ड से जुड़ता हुआ प्रदर्शित है।[5]

---

1. मार्शल, जे., ए गाइड टू सांची, पृ. 65
2. मार्शल, जे. एण्ड फूशे, ए. दि मोनुमेन्ट्स ऑव सांची, जिल्द 2, फलक 23
3. शिवराममूर्ति, सी., अमरावती स्कल्पचर्स इन दि मद्रास गवर्नमेंट म्यूजियम फलक श्43,1
4. राय, उदय नारायण, प्राचीन भारत के नगर तथा नगर जीवन, फलक 19, चित्र 29, पृ. 368
5. फोगेल, जे. पी. एच., कैटलाग ऑव दि आर्कियोलाजिकल म्यूजियम एट् मथुरा, 1910, फलक 20, पृ. 136 द्रष्टव्य फलक चित 32

पुरातात्विक प्रमाण:

प्राचीन भारतीय साहित्य एवं प्राचीन भारतीय कला में जो वर्णन एवं अंकन हुए हैं उसकी पुष्टि पुरातात्विक स्रोतों से भी हो जाता है। ऐतिहासिक काल के प्रारम्भ में सोलह महाजनपदों का उदय हुआ था। उस समय के सभी जनपदों की राजधानी दुर्ग से सुरक्षित थी। क्योंकि जनपदों के अविर्भाव से प्रत्येक महत्वपूर्ण जनपद के लिए एक राजधानी के निर्माण की आवश्यकता महसूस हुई। अतः राजा और राज-प्रासादों की सुरक्षा के लिए दुर्ग निर्माण भी इस काल में सुरक्षा व्यवस्था का आवश्यक अंग बन गया था। पुरातात्विक उत्खनन से प्राप्त साक्ष्यों से छठी शताब्दी ई. पू. से लेकर बाद के काल के दुर्गों से सम्बन्धित नगरों के अवशेष कई स्थानों से प्रकाश में आए हैं। षोड्स महाजनपदों के प्रारम्भिक अवस्था के दुर्गों में मिट्टी के प्राकार प्रकाश में आए है जिसके चारों तरफ खाई होती थी। बाद के काल में ईटों से बनी दीवालों के प्राकार प्रकाश में आते हैं।[1] इस सुरक्षात्मक व्यवस्था का सुन्दर उदाहरण हमें कौशाम्बी से मिलता है, जो इलाहाबाद से बावन किलोमीटर दक्षिण-पश्चिम में यमुना के बाए तट पर स्थित है-

कौशाम्बी:

कौशाम्बी के उत्खनन से विभिन्न काल के नगरों एवं दुर्गों के अवषेश देखने को मिले हैं। कनिंघम ने यमुना नदी के किनारे प्राप्त भग्नावशेषों को कौशाम्बी से समीकृत किया था।[2] सन् 1949 ई. में इलाहाबाद विशवविद्यालय द्वारा सर्वप्रथम भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण विभाग (1937-38) द्वारा निर्दिष्ट अशोक स्तम्भ के समीपवर्ती क्षेत्रों का उत्खनन प्रारम्भ किया गया।[3] कालान्तर में इसी

---

1. शर्मा, वी.सी., डिफेंस सिस्टम इन ऐंश्येंट इण्डिया, बेस्ड आन लिटरेरी ऐंड आर्कियालाजिकल इवीडेंस, पुरातत्व, संख्या, 21, 1990-91 पृ. 67
2. आर्कियोलाजिकल सर्वे ऑफ इंडिया ऐनुअल रिपोर्ट, भाग 1, पृ. 306
3. शर्मा, गोबर्द्धन राय, दि एक्सकेवेशंस ऐट कौशाम्बी, पृ. 251 द्रष्टव्य चित फलक 33. व 33ए

विश्वविद्यालय द्वारा सन् 1959-56 में पुन: उत्खनन किया गया। उत्खनन से ज्ञात होता है कि पुरा नगर एक सुरक्षात्मक दीवार तथा परिखा द्वारा घिरा हुआ था। इस सुरक्षात्मक दीवार के भीतर भवन बने हुए थे। उत्खनन से ज्ञात हुआ कि इस सुरक्षात्मक दीवार का निर्माण विभिन्न कालों में हुआ था। कौशाम्बी के इतिहास में कुल मिलाकर भवन निर्माण के 25 चरण प्राप्त हुए हैं। प्रत्येक चरण के निर्माण में पर्याप्त भिन्नता दिखाई देती है । इनमें तीसरे चरण की तिथि 950 ई. पू. निर्धारित की गई है। इस चरण के नगर को एक सुदृढ़ सुरक्षात्मक दीवार द्वारा सुरक्षित किया गया था। प्राचीन को बाहरी भाग पक्की ईंटों के एक प्रतिधार द्वारा, जिसकी मोटाई 9 फुट, उंचाई 40.5 फुट तथा लम्बाई 43 फुट है सुरक्षित है। इसमें कुल मिलाकर 15 तहे हैं। प्रतिधार में प्रयुक्त ईंटों की माप 19.5"x13"x2.75" है।[1] ऊपर की 14तहों को छोड़कर सम्पूर्ण प्राचीर की चिनाई इंग्लिश बांड पद्धति के अनुसार की गई है। चिनाई में चूनायुक्त गारे का प्रयोग किया गया है। नीचे की सतह से 15 और 18 तहों के बीच में नियमित रूप से 6 फुट की दूरी पर 7 छिद्र बने हुए हैं।[2] प्रथम प्रतिधार से 24 फुट की दूरी पर एक सहायक प्रतिधार भी है, जिसका निर्माण बाढ़ से नगर की रक्षा के लिए किया गया था।[3]

प्राचीर 2 और प्रतिधार 2: इस चरण में प्राचीर को 6 फुट और अधिक ऊंचा किया गया। साथ ही नए सहायक प्राचीर का निर्माण भी किया गया, जिसमें प्राचीर का कुल क्षेत्र 79 फुट तक बढ़ गया।[4] इसकी तिथि 500 ई. पू. निर्धारित की गई है।

---

1. शर्मा, गोबर्द्धनराय, दि एक्सकेवेशंस ऐट कौशाम्बी पृ. 27
2. शर्मा, गोबर्द्धनराय, दि एक्सकेवेशंस ऐट कौशाम्बी पृ. 28
3. शर्मा, गोबर्द्धनराय, दि एक्सकेवेशंस ऐट कौशाम्बी पृ.29
4. शर्मा, गोबर्द्धनराय, दि एक्सकेवेशंस ऐट कौशाम्बी पृ. 31

प्राचीर 3 और प्रतिधार 3: इस काल में प्राचीरों की ऊंचाई में केवल पांच फुट की वृद्धि हुई हैं। इस चरण में प्रवेश द्वार पर संतरियों के लिए कमरों, जिसे गार्डरूम कहा जाता है, एक अन्य बाहरी सुरक्षात्मक दीवाल, जिसे फ्लैंकवाल कहा जाता है तथा गुंबजों का विधान किया गया। यह सारा निर्माण 150 ई.पू.के आस-पास का माना जाता है।

प्राचीर 4: इस काल में सुरक्षात्मक दीवार के भीतर एक भूमिगत रास्ते का निर्माण किया गया, जो प्रारम्भ में 37 फुट ऊंचा तथा 39 फुट 6 इंच चौड़ा था, किन्तु आगे 25 फुट 6 इंच ही चौड़ा रह गया। संभवतः सैनिक साज समान ले जाने तथा सैनिकों के आने जाने के लिए इस गुप्त मार्ग की योजना की गई थी। इसका निर्माण काल ईसी सन् के प्रारम्भ का माना गया है।

प्राचीर 5: इस काल में अंतिम बार प्राचीरों की दीवार बढ़ाई गई और संतरियों के कमरों का निर्माण किया गया। इसका निर्माण काल लगभग 200 ई. पू. माना गया है प्राचीरों के किनारे सुरक्षा की दृष्टि से बाहर की तरफ 480 फुट चौड़ी, 28 फुट गहरी परिखा का निर्माण किया गया है। आपात काल में परिखा में पानी भर दिया जाता था, जिससे बाहरी आक्रमणों से दुर्ग को बचाया जा सकता था।[1] कौशाम्बी प्राचीर की तिथि के सन्दर्भ में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। शर्मा के अनुसार प्राचीर की तिथि 11वीं शताब्दी ई. पू. है। परन्तु लाल[2] ने इस तिथि पर आपत्ति व्यक्त की है। ब्रजवासी लाल के अनुसार कौशाम्बी के किले का निर्माण शर्मा द्वारा दी गई तिथि के लगभग 500 वर्षों बाद हुआ। इसका समय छठी शताब्दी ई. पू. होना चाहिए।

---

1. शर्मा, जी. आर., दि एक्सकेवेशंस ऐट कौशाम्बी, पृ. 31
2. लाल, ब्रजवासी, आर दि डिफेन्सेज ऑफ कौशाम्बी रियली ऐट ओल्ड ऐज 1050 बी.सी., पुरातत्व संख्या 11, 1979-80, पृ. 88.95

ऊंचडीह:

इलाहाबाद विश्वविद्यालय के प्राचीन इतिहास विभाग द्वारा इलाहाबाद से चालीस मील दक्षिण पूर्व गंगा के दक्षिणी तट पर ऊंचाडीह नामक स्थान पर प्रो. शर्मा को सर्वेक्षण में एक दुर्ग का अवशेष प्राप्त हुआ था जिसे कौशाम्बी का छोटा प्रारूप कहा जा सकता है।[1] यह नगर 170 फुट लम्बा और 110 फुट चौड़ा था। नगर के प्राकार की ऊंचाई 30 फुट थी, जिसके चारो कोनों पर चार बुर्जिया बनी हुई थी। इस नगर की सुरक्षात्मक दीवार के बाहर चारो तरफ 25 फुट चौड़ी खाई का निर्माण किया गया था।

भीटा:

इलाहाबाद से 18 मील दक्षिण 400 वर्गगज क्षेत्रफल वाले भीटा नामक प्राचीन स्थान से दुर्ग के अवशेष प्राप्त हुए हैं । यहां एन. बी.पी. मृदभाण्ड के टुकड़े मिले हैं, जिससे प्रतीत होता है कि इस दुर्ग का निर्माण 400-500 ई. पू. में हुआ है।[2]

अहिच्छत्रा :

सुरक्षात्मक दीवार के अवशेष का अस्तित्व बरेली जिले में रामनगर के समीप स्थित अहिच्छत्रा नामक स्थान से प्राप्त हुए है। जिसका घेरा साढ़े तीन मील लम्बा है। यहाँ पर उत्खनन कार्य 1941 में हुआ था। इसका अनुमानित काल पांचवी शताब्दी ई. पू. रखा गया है। 6 किमी. व्यास के घेरे में नगर की दीवार के साथ प्राकार संयुक्त सबसे मिलता है। ऊंचाई पर बाक्स है जिसकी दीवाल ईंटों की बनी हैं। मिट्टी के प्राकार भी प्रकाश में आए हैं जो कुषाण काल से सम्बन्धित हैं।[3]

---

1. इन्डियन आर्कियोलाजिकल रिपोर्ट, 1961-62 पृ. 78 द्रष्टव्य चित फलक 34
2. इन्डियम आर्कियोलाजिकल ऐनुअल रिपोर्ट 1909-10 पृ. 42
3. इन्डियन आर्कियोलाजिकल रिव्यू, 1963-64 पृ. 43-44

राजगृह :

किलेबन्दी का सबसे सुन्दर उदाहरण राजगृह में देखने को मिलता है। यह सामान्य धारणा है कि प्राचीन काल में राजगृह के दो नगर थे- एक प्राचीन राजगृह चारो ओर पहाड़ियों से घिरी हुई घाटी में स्थित था तथा दूसरा प्राचीन नगर से उत्तर की ओर समतल मैदान में था। कहीं पर भी राजगृह के दो नगरों का उल्लेख जैन, बौद्ध तथा हिन्दू साहित्य में नहीं मिलता[1] किन्तु चीनी यात्रियों के विवरण के आधार पर कनिंघम[2] ने सर्वप्रथम राजगृह के दो नगरों का उल्लेख किया तथा तभी से यह धारणा सर्व मान्य हो चुकी।

राजगृह का मानचित्र देखने से स्पष्ट होता है कि गया से उत्तर पहाड़ियों की दो श्रृंखलाऐं एक-दूसरे के समानांतर चलती हुई गिरियक के पास समाप्त होती है। इन्हीं पहाड़ियों के ऊपर एक प्राचीन प्राकार के अवशेष कनिंघम ने सर्वप्रथम 1861-62 में देखे थे। कनिंघम[3] के अनुसार इन प्राचीरों की कुल लम्बाई 8-1/3 मील थी। इस प्राचीर के निर्माण में किसी प्रकार के गारे, चूने, सीमेंट या अन्य मसाले का प्रयोग नहीं किया गया है।[4] इन प्राचीरों की अधिकतम वर्तमान ऊंचाई बानगंगा दर्रे के पास 11 से 12 फुट तक है। परन्तु अन्य स्थानों पर इसकी ऊंचाई 7 या 8 फुट ही है।[5] मार्शल ने लिखा है कि इस प्राचीर का ऊपरी भाग अपेक्षाकृत छोटे प्रस्तर-खंडों से निर्मित है। प्राचीरों के पास गिरे हुए प्रस्तर खंड का मलबे का अन्य अवशेष प्राप्त न होने के कारण मार्शल[6] ने

---

1. पाटिल, डी. आर., दि ऐंटीक्वेरियन रिमेंस ऑफ बिहार, पृ. 436
2. आर्कियोलाजिकल सर्वे ऑफ इन्डिया रिपोर्ट, जिल्द 1, (1861-62) पृ. 23
3. ए.एस.आई.आर. जिल्द 1(1861-62)पृ.22
4. ए.एस./आई.आर., 1905-06 पृ. 88
5. व्हीलर ईरान ऐंड इंडिया इन प्री इस्लामिक टाइम्स, ऐंश्येंट इण्डिया, जिल्द 4, पृ. 94
6. ह्वीलर ईरान ऐंड इंडिया इन प्री-इस्लामिक टाइम्स ऐंश्येंट इंडिया ,जिल्द 4,पृ. 69

यह निष्कर्ष निकाला कि संभवतः इस सुरक्षात्मक दीवार की ऊंचाई यही थी। इस सुरक्षात्मक दीवार की मोटाई स्थान-स्थान पर 14 से 17 फुट तक है। इस दीवार पर कुल मिलाकर 16 अट्टालक या बुर्ज देखे गए हैं जिसके बीच की दूरी विषम है। ये बुर्ज के किनारे-किनारे 47 से 60 फुट लम्बे तथा 34 से 40 फुट चौड़े हैं।[1] सुरक्षात्मक दीवार की तरह इसका भी निर्माण अनगढ़ प्रस्तर खंडों से हुआ है और इनकी ऊंचाई भी संभवतः प्राचीर की ऊंचाई के बराबर रही होगी। विपुल और वैभार पहाड़ियों पर प्रवेश-द्वार के दोनों ओर इसी प्रकार के बुर्ज देखे गए थे। इन प्राचीरों के विषय में महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि इन दीवारों की मोटाई में अन्दर की तरफ स्थान-स्थान पर सोपान मार्ग, मिट्टी का ढलुआ मार्ग बना हुआ है। जिससे प्राकार की चोटी पर पहुँचा जा सके।

ऐसा भी सुनने को मलता है कि दोनों पहाड़ियों के बीच घाटी की भूमि में एक अन्य सुरक्षात्मक दीवार थी, जिसकी कुल लम्बाई साढ़ेचार मील है। इस दीवार के निर्माण में न तो प्रस्तर खंडों का प्रयोग हुआ है और न ही बुर्ज, निरीक्षण शिखर, सीढ़ियां या ढालू मार्ग का निर्माण हुआ है। यहाँ यह एक विशेष बात यह भी देखने को मिलती है कि इस प्राचीर के पश्चिमी तथा उत्तर-पूर्वी किनारों पर दो नाले बहते हैं जिनके द्वारा वर्षा ऋतु में घाटी का पानी बाहर निकलता है। चूँकि यह प्राचीर प्रस्तर खंडों के स्थान पर मिट्टी से निर्मित हुआ है, अतः अधिक संभावना इस बात की है कि यह दीवार को वर्षा के पानी या बाढ़ से बचाने के लिए तटबन्ध मात्र रहा हो।[2]

प्राचीन राजगृह के सन्दर्भ में सर्वप्रथम बुकानन ने यह संभावना व्यक्त की थी कि प्राचीन राजगृह का नगर पहाड़ियों के उत्तर में स्थित था और संपूर्ण नगर एक पंचमुखी सुरक्षात्मक, दीवार से घिरा हुआ था तथा दीवारों

---

1. आर्कियोलाजिकल सर्वे ऑफ इन्डिया ऐनुअल रिपोर्ट 1905-06 पृ.89
2. पाटिल, डी. आर. दि ऐंटी क्वेरियन रिमेंस ऑफ बिहार, पृ. 438

की कुल लम्बाई 2-1/8 मील थी। 1861-62 ई. में इन नगर की प्राचीरों का कनिंघम ने सर्वेक्षण करके पता लगाया कि उनका घेरा लगभग 3 मील है। कनिंघम ने कालान्तर में विचार व्यक्त किया कि राजगृह का प्रथम नगर पहाड़ियों के अन्दर घाटी में स्थित था तथा पहाड़ियों के बाहर वाला नगर "नया राजगृह" था, जिसकी स्थापना बिम्बसार या उसके पुत्र अजातशत्रु ने की थी। आजकल इस नगर की प्राचीरों के अवशेष 15 से 18 फुट मोटे तथा कहीं कहीं 11 फुट तक ऊंचे हैं। वर्तमान समय में इस किले के भीतरे 70 से 80 एकड़ भूमि आकृत है और इस पर खेती होती है। अग्रवाल का मत है कि नए राजगृह के दुर्ग की लम्बाई, चौड़ाई क्रमश: 200 फुट एवं 1500 फुट है। इसका पाषाण प्राकार, जो पाँसु प्राकार या धूलि प्राकार को दृढ़ता प्रदान करता था, अभीतक विद्यमान हैं और नगर के प्राकार की अपेक्षा वह अधिक भार भरकम, दृढ़ और ऊंची है।[1] इस क्षेत्र में कई स्थानों पर दयाराम साहनी[2] ने 1905-06 में उत्खनन कराया था और एक स्थान पर उन्हें 8 फुट की गहराई पर छः फुट छः इंच नाप का एक वर्गाकार कमरा मिला था जिसके निर्माण में 11 इंच ×2 इंच ×8-1/8 इंच नाम की ईंटे प्रयुक्त थी। कमरे के भीतरी भाग से कच्ची मिट्टी की टिकड़ियों या मुहरें मिली थी, जिन पर दूसरी-पहली शताब्दी ई. पू. की तिथि में मुद्रा लेख अंकित है। इस प्रकार इस दुर्ग के प्राचीनतम अवशेषों को दूसरी शती ई. पू. का माना जाना चाहिए।[3]

पहाड़ी एवं घाटी के बाहर स्थित संभवत: अजातशत्रु द्वारा बनवाये दुर्ग की प्राचीरों की वैज्ञानिक खुदाई का कार्य भारतीय पुरातत्व विभाग के रघुवीर सिंह ने संपादित किया। उन्होंने दुर्ग के दक्षिणी पश्चिमी कोने पर स्थित बुर्ज के पास दक्षिणी प्राचीर में 66 मीटर लम्बी पौर 5 मीटर चौड़ी गर्त लगाकर उसकी 18 मीटर गहराई

---

1. अग्रवाल, वी.एस., भारतीय कला पृ. 89
2. ए.एस.आई.ए.आर.1905-06 पृ.101-102
3. ए., एस.आई.ए.आर,पृ. 102

तक खुदाई की।[1] इस खुदाई में उन्हें तीन कालों के अवशेष मिले। प्रथम काल के अवशेष एन बी. पी. संस्कृति से संबंधित है। किसी स्पष्ट तिथि परक प्रमाण के अभाव में नए राजगिरि के इन प्राचीरों के निर्माण एवं समय-समय पर जीर्णोद्धार को निश्चित तिथि देना असंभव नहीं है। परन्तु अनुमान के आधार पर यह कहा जा सकता है इसका निर्माण छठी, पांचवी शताब्दी ई. पू. में किया गया।[2]

तक्षशिला :-

तक्षशिला के पुरावशेष आधुनिक पाकिस्तान के रावल पिंडी के उत्तर पश्चिम में लगभग 20 मील की दूरी पर प्राप्त हुए हैं। यहां पर किए गए उत्खन्न से विभिन्न कालों के दुर्ग प्राचीर आदि के अवशेष प्रकाश में आये हैं। इसके भग्नावशेष एक दूसरे के लगभग साढ़े तीन मील की दूरी पर तीन स्थानों से उपलब्ध है-सिरकप सिरसुख व भीर माउंड ।

"हिन्द-बौक्ट्रिया" राजाओ ने द्वितीय शताब्दी ई. पू. के प्रारम्भिक भाग में सिरकप के स्थान पर तक्षशिला के नए नगर का निर्माण किया । तक्षशिला नगर इसके पश्चात प्रथम शताब्दी ई. के अंत तक इसी स्थान पर स्थित था। इस काल के बीच में हिन्द-बौक्ट्रियन शासकों के पश्चात शक पह्लव एवं कुषाणों ने यहां पर अपना प्रभुत्व कायम रखा। यहां के पुरातात्विक उत्खन्न से यह ज्ञात हुआ कि हिन्द बैक्ट्रियन राजाओ के काल में इस नगर के चारो तरफ एक मिट्टी की दीवाल थी, जिसके अवशेष इस समय भी विद्यमान है। स्थानीय लोग इसे धूल कोट कहते हैं। बाद में शक शासक एजेज प्रथम के समय लगभग 30 ई. पू. में इसके चारों ओर साढ़े तीन मील लंबी पत्थर की एक दीवार खड़ी की गई जिसकी चौड़ाई 15 फुट से लेकर 21 फुट तक थी। तीन मंजिलो वाले बुर्जों का निर्माण इस दीवार में जगह-जगह पर किया गया था। नगर रक्षक बुर्ज की दूसरी और तीसरी मंजिल के ऊपर रहा करते थे। बुर्ज के ऊपरी भाग पर जाने के लिए

---

1. आई. ए. आर. 1961-62, पृ. 78
2. आई. ए. आर. पृ. 8

अन्दर सीढ़िया निर्मित थी दीवाल में प्रत्येक दिशा में द्वारा बने हुए थे किंतु उत्तरी द्वार ऐसे स्थान पर बना हुआ था जहाँ से आकस्मिक आक्रमण सरलता के साथ रोका जा सकता था। एक विशाल कमरे के आकार का दीवाल में द्वार मार्ग का निर्माण हुआ था। जिसकी लम्बाई बासठ फुट तथा चौड़ाई पैंतीस फुट थी। इसमें रक्षकों के निर्मित चार कमरे बने हुए थे।[1]

तक्षशिला के बाद सिरसुख में नगर बसाया गया । इसका निर्माण कुषाणों के राजयकाल में पहली शताब्दी में किया गया। इसके चारों तरफ एक पत्थर की दीवाल बनी हुई थी। जिसकी चौड़ाई साढ़े 18 फुट थी।[2] सिरकप के दुर्गों में कई महत्वूर्ण अंतर दृष्टि गत होते हैं। सिरकप के दुर्ग की दीवाल में चिकने पत्थरों का प्रयोग किया गया था जबकि सिरसुख के दुर्ग में खुरदुरे पत्थर लगे थे। सिरकप की दीवाल में छिद्र बने हुए थे इन छिद्रों से दुर्ग के भीतर के सैनिक शत्रु सेना के ऊपर बाण आदि अस्त्र फेंका करते थे। सिरसुख का दुर्ग अर्द्ध वृत्ताकार था जब कि सिरकप का बुर्ज आयताकार थाख् इसी तरह सिरसुख की दीवाल ठोस नहीं थी जब कि सिरसुख की दीवाल ठोस थी । सिरसुख का नगर आयताकार था जो रक्षा के प्राकृतिक साधनों के अलावा कृत्रिम साधनों से युक्त था।[3]

पाटलिपुत्र :

पाटलिपुत्र छठी शताब्दी ई.पू. से लेकर गुप्तों के काल तक प्रमुख राजवंशों की राजधानी थी। इसलिए किले का प्रमाण रूप में कुमहार से उत्तर पश्चिम में बुलंदी बाग से प्राचीर के अवशेष मिले हैं। इस स्थान का पुरातात्विक उत्खन्न 1915 से 1917 के बीच डी.पी. स्पूनर महोदय ने कराया था। उत्खन्न के परिणाम स्वरूप लकड़ी के खंभों के दो समांतर दीवारें प्रकाश में आई हैं। इनमें प्रयुक्त खंभों की मोटाई और चौड़ाई क्रमशः एक फुट तीन इंच

---

1. मार्शल जे., तक्षशिला, जिल्द 1, पृ. 113.17 द्रष्टव्य फलक चित्र 35
2. मार्शल, जे., तक्षशिला जिल्द 1, पृ. 218.19 द्रष्टव्य फलक चित्र 36ए. व 36बी
3. मार्शल जें., ए गाइड टू तक्षशिला पृ. 95.96

और एक फुट दस इंच थी। दोनों दीवारों के बीच की दूरी बारह फुट चार इंच थी । भूमि तल से बासठ फुट की गहराई पर लकड़ी के चौकोर तख्तों का बना एक फर्श प्रयुक्त तख्तों के कोने लकड़ी की दीवार में प्रयुक्त स्तम्भों से जुड़े हुए थे। लकड़ी की दीवाल तो केवल चौबीस फुट की दूरी तक देखा गया था। चूंकि लकड़ी के फर्श प्रयुक्त तख्तों के कोने स्तंभों की गार्तिका (साकेट) में डालने के लिए कटे हुए थे, अत: यह निश्चित है कि लकड़ी की दीवार भी वहां तक रही होगी और इस दीवार में प्रयुक्त काष्ठ स्तंभ प्राचीन काल में नष्ट हो गए। यह दीवार पूरब से पश्चिम चली थी, परन्तु आगे चलकर यह उत्तर दक्षिण को मिल गई थी। जिस गहराई में यह दीवार मिली थी, उससे यह अनुमान होता है कि यह वही मौर्य कालीन काष्ठ प्राचीर है जिसका उल्लेख मेगस्थनीज ने किया है।[1] बुलंदी बाग के उत्खन्न के समय गुप्त कालीन कुछ लकड़ी के अवशेष पाए गए है। पाटलिपुत्र से संबोधित गोसेनखांडा जो बुलंदी बाग से कुछ किमी. की दूरी पर है वहां से ऐसे लकड़ी के अवशेष प्राप्त हुए है जिसमें नीचे का हिस्सा नहीं था।[2]

वैशाली :

वैशाली के उत्खन्न से दुर्गों के प्राचीर, सुरक्षात्मक दीवार, बुर्ज आदि प्रकाश में आए है। कनिंघम ने वैशाली के सबसे प्रमुख पुरातात्विक खंडहर राजा विशाल का गढ़ नामक टीले को सर्वप्रथम 1862.64 में देखा था।[3] यह टीला उत्तर दक्षिण के 1580 फुट लम्बा और पूर्व पश्चिम में 750 फुट चौड़ा था। इसके चारो कोनो पर चार बुर्जों के अवशेष आज भी दिखाई देते है। दुर्ग से बाहर 150 फुट से 200 फुट चौड़ी खाई है, जो कनिंघम की यात्रा के समय पानी से भरी थी। दुर्ग या गढ़ का मुख्य प्रवेश द्वारा संभवत: दक्षिण की तरफ है। उत्तर की तरफ एक

---

1. मैक्रिडल, जे., डब्लू.- ऐंश्येंट इंडिया एज डिस्क्राइबड बाई मेगस्थनीज ऐंड एरियन1926,पृ67
2. शर्मा, वाई. डी., ऐंश्येंट इंडिया, नम्बर 9 पृ. 147 द्रष्टव्य चित्र फलक-37
3. ए.एस.आई.ए.आर.जिल्द1,1861-62पृ55-56

छोटा सा प्रवेश द्वार है। दुर्ग के प्राचीरों की ऊचाई 15 फुट है। कनिंघम ने इस प्राचीर का कुछ भाग खोदने का प्रयास किया था, किंतु कुछ प्राचीन वस्तुओं के अतिरिक्त अन्य महत्वपूर्ण सामग्री हाथ नहीं लगी थी।

1903.4 में सर्वप्रथम उत्खन्न कार्य वैशाली नगर का टी. ब्लाख ने किया।[1] उत्खन्न के परिणाम स्वरूप तीन सांस्कृतिक स्तरों के अवशेष मिले थे। जिसमें से अंतिम दो क्रमशः गुप्त काल एवं मुस्लिम काल से संबंधित है चूंकि इसका निश्चित तिथि कारण उस समय संभव नहीं था इसलिए दुबारा स्पूनर[2] ने यहां दुबारा उत्खन्न कार्य किया लेकिन भूमिगत जल प्राप्त होने के कारण खुदाई बन्द कर देनी पड़ी[3] तत्पश्चात 1950 ई.में पुनः उत्खन्न देव व मिश्रा[4] के नेतृत्व में हुआ परिणाम स्वरूप यह ज्ञात हुआ कि गढ़ के प्राकार का निर्माण दो कालों में हुआ। प्रथम काल के प्रथम चरण में चतुर्दिक बना एक पैंसठ फुट से अधिक चौड़ा और लगभग 9 फुट ऊचा एक प्राकार है। इस प्राकार को तीन मिट्टियों की परत जमा करके बनवाया गया था। चूंकि इस काल से लाल बर्तन व एन.बी.बी. के टुपटटे मिले थे इसलिए इसका काल 300-500 ई.पू.मानना चाहिए । दूसरे काल में एक ऐसी दीवार के कच्ची ईंटों के छह या सात रददे मिले है। इसी प्रकार के प्राकार हड़प्पा एवं तक्षशिला की खुदाई से मिले है। बाद में पुनः 1958.60 में उत्खन्न काशी प्रसाद जायसवाल, शोध संस्थान ने करवाया था परिणाम स्वरूप इस प्राकार के निर्माण के काल पर और प्रकाश पड़ा ।

---

1. एक्सकेवेशंस ऐट बसाढ़, ए. एस. आई. ए.आर.,1903-04,पृ.74 तथा 8 एच 22
2. एक्सकेवेशंस ऐट बसाढ़, ए. एस. आई. ए. आर., 1913-14, पृ. 98-185
3. ए.एस. आई. ए. आर.1913-14 पृ.103
4. कृष्णदेव एवं मिश्र, विजय कांत, वैशाली एक्सकेवेशंस 1950,वैशाली संघ वैशाली, (बिहार) 1962 पृ. 14, एवं मिश्र विजय कांत, पुरातत्व की दृष्टि में वैशाली, वैशाली संघ वैशाली बिहार,पृ.27 द्रष्टव्य चित्र फलक 38

1959-60 के उत्खनन के पश्चात गढ़ के प्राचीरों के निर्माण और जीर्णोद्धार का कार्य तीन कालों में सम्पन्न हुआ। प्रथम चरण या काल में पक्की ईंटों की एक प्राचीर बनाई गई थी। बचे हुए मलबे से ज्ञात हुआ कि यह सुरक्षा दीवार लगभग 20 फुट मोटी रही होगी। ये अवशेष एन.बी.पी. वेयर के मलवे के ठीक ऊपर मिले हैं इसलिए इसका अनुमानितकाल शुंग काल ठहरता है।[1] दूसरे चरण में कच्ची मिट्टी का विशालप्राकार जोड़ा गया है। इस प्राकार या रैम्पर्ट की नींव पर चौड़ाई 68 फुट और अधिकतम सुरक्षित ऊचाई पर 13 फुट और अधिकतम ऊचाई पर इसकी मोटाई 21 फुट ही रह जाती है। इसके निर्माण में जिस मिट्टी का प्रयोग किया गया था उससे गढ़ के चारों तरफ एक खाई या परिखा बन गई। इस प्राकार के ठीक बाद की तहों में से प्राप्त एक मुहर पर दूसरी शताब्दी ई.पू. की लिपि में अग्निमित्र अंकित है। इस लिए इस प्रकार का समय लगभग प्रथम शताब्दी ई.पू. माना गया है। इसके पश्चात उपर्युक्त प्राकार के नष्ट होने पर तृतीय चरण में नौ फुट मोटी पक्की ईंटों की एक सुरक्षा दीवार के अवशेष 371 फुट की लम्बाई तक खोदे गए थे। इस दीवार की चौड़ाई 12 फुट तक थी। यहाँ से प्राप्त पुरावशेषों के आधार पर इसे परवर्ती कुषाण काल एवं प्रारम्भिक गुप्त काल के समय का निर्धारण किया गया है।[2] प्रस्तुत सन्दर्भ में गढ़ क्षेत्र में प्राचीरों से सम्बद्ध सैनिक बैरकों का उल्लेख आवयश्यक है। इन सैनिक आवासों के अवशेष किले के दक्षिण - पूर्वी कोने पर दर्शनीय है। सुरक्षा दीवार और बैरकों के बीच का 30 फुट चौड़ा स्थल सड़क के रूप में प्रयुक्त होता था।[3] कुषाण कालीन सिक्के बाणों एवं भालों के अग्रभाग तथा लोहे के अन्य आयुध बैरको क्षेत्र से प्राप्त हुए है।[4]

---

1. सिन्हा, बी.पी. एवं राय, सीता राम, वैशाली एकसकेवेशंस 1958-62, पृ. 25-26 द्रष्टव्य आई. ए. आर. 1958-59पृ. 12, एवं 1959, पृ. 14
2. सिन्हा एवं राय, वैशाली एक्सकेवेशंस पृ. 26
3. सिन्हा एवं राय, पृ. 28
4. सिन्हा एवं राय, पृ. 6

श्रावस्ती :

श्रावस्ती से उत्खन्न के परिणाम स्वरूप मिट्टी के प्राकार के अवशेष प्राप्त हुए, जो 5 कि.मी. के, घेरे में थी। चूंकि यह अवशेष उत्खन्न के दूसरे काल के प्रथम चरण से संबंधित है इस आधार पर इसका काल 276 ई.पू. से 200 ई.पू. के मध्य होना चाहिए। इस चरण में नगर के प्राकार कच्ची मिट्टी के बने थे। लेकिन उत्खन्न के समय कच्ची मिट्टी के ईंटों दीवार के ऊपर पक्की ईंटों की एक अन्य सुरक्षात्मक दीवार बनी थी। इसका निर्माण संभवतः 125 ई.पू. तथा 50 ई.पू. के बीच हुआ था।[1] यहां से कनिष्क प्रथम के दो अभिलेख प्राप्त हुए है जिससे यह संकेत मिलता है कि श्रावस्ती का अस्तित्व भारतीय इतिहास में प्रथम शताब्दी ई.पू.में हुआ था।[2] श्रावस्ती की पहचान गोंडा एवं बहराइच जिलों की सीमा पर स्थित सहेत महेत नामक स्थान से की जाती है। ज्ञातव्य है कि इस नगर की स्थित जेतवन संघाराम में भगवान बुद्ध ने लगभग 27 वर्षावास व्यतीत किया था तथा अनेक उपदेश, दिये थे। प्राचीन श्रावस्ती के भग्नावशेषों का पिछले 100 वर्षों में कई बार उत्खनन किया गया। सर्वप्रथम कनिघम ने यहां उत्खन्न किया था[3] कालान्तर में विलियम होवी, जे.पी.एच.फोगेल, सरजान मार्शल, दया राम साहनी तथा कृष्ण कुमार सिन्हा ने यहां उत्खन्न कराया था। सिन्हा के ही वैज्ञानिक उत्खन्न के परिणाम. स्वरूप प्राचीन किले के अवशेष भारतीय इतिहास जगत में आया।

उज्जैन :

गढ़-कालिका का टीला उज्जैन के वाहंयाचल में है। जिसके पूर्वी छोर पर क्षिप्रा नदी है। जिसकी पहचान प्राचीन कालीन नगर-उज्जैयनि से की जाती है। यहां पर किए गए उत्खन्न के परिणाम स्वरूप मिट्टी से बने प्राकार प्रकाश में आया है। इसकी चौड़ाई 60 से 75 मीटर के

---

1. आइ. ए. आर. 1958-59 पृ. 47-50
2. शर्मा, आर. एस., इंडियन हिस्ट्री कांग्रेस, 1972, पृ. 97
3. कनिघम, ए. एस. आर. आर. एन ज्योग्रर्फ पृ. 343-347

बीच है। तथा ऊचाई लगभग 12 मीटर है। प्राचीन कालीन उज्जयिनी की शहर योजना से ऐसा लगता है एक ओर मिट्टी के प्राकार से तथा दूसरी ओर से घिरा हुआ क्षिप्रा नदी से यह सुरक्षात्मक रूप अपनाए हुए था। पूर्वी क्षेत्र में जो खाई प्रकाश में आई है हरे रंग की काई से भरा था। इसकी खाई 23.70मीटर से 45 मीटर के बीच लम्बी तथा 6.50 मीटर चौड़ी थी। बाद में प्राकार का पुर्ननिर्माण के चिन्ह मिलते है।[1]

बलिराजगढ़ :

बलिराजगढ़ नामक पुरातात्विक स्थल बिहार राज्य के मधुबनी जिले में स्थित है। 1962-63ई. के खुदाई में यह पता चला कि यह नगर पांच मीटर मोटी सुरक्षा दीवार से घिरा था।[2] बाद में यहां विस्तृत उत्खन्न हुआ तो दो कालों के अवशेष प्रकाश में आए। प्रथम काल दूसरी शताब्दी ई.पू.से दूसरी शताब्दी ई. का है। जब कि दूसरा काल दूसरी शताब्दी ई. से छठी शताब्दी ई. तक है।[3]

शिशुपाल गढ़ :

शिशुपाल गढ़ में एक सुनियोजित किले की व्यवस्था का अच्छा उदाहरण पस्तुत करता है जिसमें निजि द्वारों का एक समूह मिलता है। शिशु पाल गढ़ का समीकरण खारवेल के हाथी गुम्फा अभिलेख में वर्णित कलिंग नगर से किया गया है जो आधुनिक काल में उड़ीसा प्रांत के भुनेश्वर जिले में स्थित है।[4] वहाँ उत्खन्न के परिणाम स्वरूप योजनाबद्ध वर्गाकार किले का आस्तित्व प्रकाश में आया है। जिसके सभी छोर पर दो दरवाजे है तथा चार बुर्ज है चूकि इसके चारो ओर नदी का जल था इसलिए

---

1. आई. ए. आर. 1955-56 पृ. 19
2. आई. ए. आर. 1962-63- पृ. 3-4
3. आई. ए. आर. 1971-72, पृ. 7, आई ए. आर. 1972-73, पृ. 3
   ए यूनिक, हिस्टोरिकल साइट, दि हेरिटेज आफ इंडिया, (सम्पादन) उपेन्द्र ठाकुर पृ. 178-80
4. लाल ब्रजवासी, शिशुपालगढ़ ऐश्येंट इंडिया, 1984 संख्या5 फलक37 पृ.72 द्रष्टव्य चित्र फलक 39

किले में पानी की सप्लाई का कोई दिक्कत नहीं थी। यहाँ की नगर प्राचीर का निर्माण दो चरणों में हुआ है। प्रथम चरण में प्राचीर की दीवार कच्ची मिट्टी की बनी, जिसकी वर्तमान ऊचाई 25 फुट तथा नींव की चौड़ाई 100 फुट थी। इस पर दूसरे चरण में लैटेराइट की बनी 10 से 15 सेमी. मोटी पाटियों का प्रतिधार लगाया गया है। जब यह प्रतिधार अंशतः विनष्ट हो गया तो एक दूसरा प्रतिधार उसके ऊपर लगाया गया । यहाँ से प्राप्त प्रवेश द्वार अत्यंत भव्य एवं लैटेराइट के बड़े बड़े प्रस्तर खंडों से बना है चूकि यहां से 300 ई.पू. से 350 ई. तक के अवशेष प्राप्त हुए है इसलिए यह नगर 300 ई.पू. में बसाया गया था ऐसा ही दुर्ग जो गढ़ में है।[1]

हुलास खेड़ा :

हुलास खेंड़ा नामक पुरातात्विक स्थल से कुषाण कालीन किले के अवशेष मिले हैं। यहाँ से पक्की ईंटों से बनी दीवार प्रकाश में आई । जिसके मुख्य दीवार की चौड़ाई लगभग 2.10मीटर है। इस दीवाल में जिस आकार की ईंट का प्रयोग हुआ है वह 52.28.8 सेमी. की थी। इस दीवार की ऊचाई लगभग 1.80 मीटर है जिससे ईंटों के 18 रद्दे है। पूर्व से पश्चिम दीवार की लंबाई 52 मीटर है जब कि उत्तर से दक्षिण दीवार की लंबाई 30 मीटर है। दीवार किनारे पर गोलाकार है जो अन्दर की आयाताकार आकार रूप धारण करती हुई बुर्ज का रूप धारण करती थी इस स्थल से नगर द्वार अवशेष के साथ नाले का एक हिस्सा भी उत्खन्न के परिणाम स्वरूप प्रकाश में आया है।[2]

मनुवाडीह :

उ. प्र. के पुरातत्व विभाग ने मनुवाडीह नामक टीले पर उत्खन्न कराया किया था। यह टीला सराय नदी के किनारे सीतापुर जिले में स्थित है। कहा जाता है कि मनुवाडीह टीला में किला दबा हुआ है उत्खन्न के पश्चात

---

1. लाल,बी.बी. शिशुपाल गढ़, 1948,पृ.67
2. दीक्षित, के. एन. दि एक्सकेवेशंस ऐट हुलास ऐन्ड फरर्दर एक्सफलोरेशंस आफ दि अपर गंगा -यमुना दोआब,1980 मैन एन्ड इन्वायरमेंट5,पूणे

वहां से किले की बुर्जी का पूरा का आधार खंडहर और लगभग ढाई फीट चौड़ी दीवारें है। यहां कुछ और अवशेष प्रकाश में आये हैं जिसके आधार पर इस स्थल को कुषाणा कालीन समय से सम्बद्ध किया गया है।[1]

राजघाट :

राजघाट वाराणसी शहर के उत्तर-पूर्व के वाहंयाचल में स्थित है। यह के उत्खन्न से ज्ञात हुआ कि यहां की परिखा एक तरफ वरुणा नदी तथा दूसरी तरफ वरुवा नदी से जोड़ी गई थी। प्रारम्भिक काल में परिखा के चौड़ाई 19.80 मीटर थी तथा ऊचाई लगभग 5.10 मीटर।बाद 1.1 मी. की मोटाई में मिट्टी से जुड़ाई करके परिखा की ऊचाई बढ़ाई गई थी। चूंकि यह प्रथम काल चरण से सम्बंधित था जो बाद में प्रथम काल को तीन उप काल में विभाजित हुआ था इसका संबंध प्रथम काल के प्रथम उपकाल से है उस आधार 800 ई.पू. से 600 ई.पू.के मध इसका समय माना गया है।[2]

भूसी :

इसी तरह इलाहाबाद शहर के गंगा के उस पार भूसी है जिसे प्राचीन काल में प्रतिष्ठानपुर के नाम से जाना जाता था यहां पर सर्वेक्षण का कार्य 1961-62 में किया गया था जिसके परिणाम स्वरूप खाई तथा सुरक्षात्मक दीवाल की ओर संकेत किया गया था चूंकि यहां से एन. बी. पी. •मृदमाण्ड के टुकड़े मिले थे इसीलिए इसका समय यहीं निर्धारण किया गया है। इसके साथ ही सर्वेक्षण के दौरान यहां से शुंगकालीन अवशेष भी प्राप्त हुए । चूंकि यहां की एन. बी. पी. का पांचवी शताब्दी ई. पू. के लगभग है। अतः यहां के प्राकार व सुरक्षात्मक दीवाल का समय भी यही होना चाहिए।[3]

---

1. दैनिक जागरण, कुषाण कालीन किले की खोज पृ. 5, वाराणसी से प्रकाशितहित, तिथि 29/7/88
2. आई. ए. आर. 1960-61 पृ. 37, आई. ए. आर., 19961-62 57-58
3. व्हीलर, मार्टिम, अर्ली इंडिया ऐंड पाकिस्तान, पृ.128, आई.ए.आर.,1961-62 पृ.52

नागार्जुनकोण्डा :

नागार्जुनकोंडा से चार विभिन्न के दुर्ग के अस्तित्व में आए है। नागार्जुनकोंडा आधुनिक काल में आन्ध्र प्रदेश के गुन्टूर जिले में स्थित है। वहां के दुर्ग की दीवाल का आकार समलंबी है पक्की ईंटों से बनी दीवाल मिट्टी के प्राकार के ऊपर बनी है। प्राकार की लगभग चौड़ाई 24.39 मीटर है।जो मिट्टी की बनी थी। पक्की ईंटों से बनी दीवाल की मोटाई 2.7 मीटर से 4.26 मीटर के बीच है। किले के चारों ओर खाई है जिसकी गहराई 3.65 मीटर है तथा चौड़ाई चारों 22.5 मीटर से 40.23 मीटर है। दो मुख्य द्वार के एक पूर्वी छोर पर तथा दूसरा पश्चिमी छोर पर। पश्चिमी द्वार 5.2 मी. चौड़ा । उत्तर छोर पर एक सकरा रास्ता है। इन तीनों द्वार में एक संभवतः आपातकालीन द्वार के रूप में प्रयोग आता था। पहले तथा बाद के प्राकार के स्तर से जो मृदमाण्ड प्राप्त हुए उस आधार पर इस दुर्ग का समय इक्ष्वाकु काल रखा जा सकता है। पक्की ईंटों के प्राकार के स्तर से जो सिक्के मिले है वह संभवतः द्वितीय एवं तृतीय इक्ष्वाकु राजा से संबंधित है। यह से जो मृण्मूर्ति एवं विशिष्ट मृदमाण्ड मिले है वह भी इस काल से संबंधित है।[1]

धरनी कोटा :

इस जिले में एक और स्थल है जो कृष्ण नदी के दाएं तट पर धरनी कोटा स्थित है। यह से उत्खन्न के परिणाम स्वरूप सात काल या चरण मिले है। जिसके सातवे काल से सुरक्षात्मक दीवार का प्रमाण मिला है। इस काल को बाद के इक्ष्वाकु काल से संबंधित किया जा सकता इसका काल 200 ई. पू. माना है उत्खन्न का कर्ताओ[2] ने 1963-64 में उत्खन्न के परिणामस्वरूप दुर्ग की दक्षिणी दीवार आयातकार प्रकाश में आयें है। दुर्ग के अन्दर की दीवार में प्रतिधार के संकेत मिलते है।[3]

---

1. आई. ए. आर, 1958-59, पृ. 9-10, आइ. ए. आर. 1957-58 पृ. 5-8
2. आई. ए. आर., 1962-63, पृ. 1-2
3. आई. ए. आर. 1963-64, पृ. 2

शामल जी :

शामलजी स्थल से भी उत्खन्न के परिणाम स्वरूप दुर्ग विधान की जानकारी होती है। यह स्थल गुजरात प्रान्त के साबर कान्धा जिले में स्थित है। यहां पर उत्खन्न कार्य 1961-62 में हुआ था। यह के उत्खन्न की जो विशेष बात है वह है मजबूत ईंटों से बने दुर्ग की। यहाँ पर उत्खन्न के चार काल प्रकाश में आये जिसे पुन उपकाल में विभक्त किया गया है द्वितीय काल अ से हमें दुर्ग के अस्तित्व के प्रमाण मिलने लगते है। यहां के दुर्ग की दीवाल का निर्माण मानक क्षातप ईंटों से हुआ था। इस दुर्ग का क्षेत्र फल 670. 50. 304.80 मीटर था। ईंटों एवं अन्य अवशेषों के आधार पर दुर्ग का समय पहली शताब्दी ई. से 300 ई. के मध्य रखा गया है। इसकी दीवार का पुर्ननिर्माण बाद में हुआ था संभवत: बाढ़ या अन्य किसी विशेष कारणो से । बाद में पूर्व से पश्चिम तक दो दीवालो का निर्माण हुआ था चूंकि यह सभी सेकेन्ड काल-बी से संबंधित है इसलिए इसका समय 300 ई.पू. माना जाता है।[1]

भरूकच्छ:

गुजरात में एक और स्थल है जहां से उत्खन्न के परिणाम स्वरूप दुर्ग के अस्तित्व प्रकाश में आए है। जिसे प्राचीन काल में भरूकच्छ नाम से जाना जाता है। यहां से उत्खन्न के परिणामस्वरूप तीन काल या चरण प्रकाश में आये है। यहां से हमे मिट्टी के बने प्राकार के प्रमाण मिले है साथ ही गहरी खाई भी मिला है। इस प्राकार के स्थल से प्राप्त मृदभाण्ड का संबंध उज्जैन द्वितीय काल से प्राप्त मृदभाण्ड से की जा सकती है। इसका समय लगभग तृतीय शताब्दी ई.पू. रखा जा सकता है। मिट्टी के प्राकार तो मिले ही है।[2]

महास्थान गढ़ :

बंगाल से एक पुरातात्विक स्थल प्रकाश में आया है जिसे महास्थान-गढ़ कहा जाता है। इस स्थल की खोज जनरल कनिंघम ने की थी। यह मूलत: चारो ओर बड़ी

---

1. आई. ए. आर., 1961-62 पृ. 13-14
2. आई. ए. आर., 1959-60 पृ. 19

खाइयों से घिरा था जब कि पूर्वी छोर कृष्णा नदी से सुरक्षित था। यहां से छः द्वार प्रकाश में आए जिनमें चार को क्रमशः दौरब शाह द्वार, बुरी का द्वार, तम्बा या ताम्र द्वार एवं संतान साहब द्वार नाम से जाना जाता था। एक स्थान है जिसे परशु राम का बड़ी नाम से जाना जाता है जो ऊचे स्थल पर स्थित है। परशुराम स्थल पर 1928-29 में उत्खन्न कार्य हुआ था। नगर दीवार का अस्तित्व उत्खन्न के पश्चात आया। जिसकी मोटाई 3.35मी. तथा ऊचाई लगभग 3 मी.थी, जिसमें 0.60मीटर मोटी ईट का प्रयोग किया गया था। उसकी जमीन सेमी सरकुलर थी। यहां से शुगकालीन मृण्मूर्ति प्रकाश में आने से इसका समय द्वितीय शताब्दी ई.पू. निर्धारित किया गया था 1930-31 के उत्खन्न के पश्चात इसका समय चौथी शताब्दी ई.पू. निर्धारित किया गया था। लेकिन बाद में इसका काल प्राक मौर्य कालीन या मौर्य कालीन निर्धारित किया गया। लेकिन उत्खन्न कार्य प्रारम्भिक स्तर तक नहीं हो सकने के कारण में समय निर्धारण की समस्या बनी रही बाद में महास्थान में कई उत्खन्न कार्य हुए है परिणाम स्वरूप इसका समय गुप्तकालीन निर्धारित किया गया इसकी पुष्टि चन्द्रगुप्त द्वितीय तथा कुमार गुप्त प्रथम के प्राप्त सिक्कों से भी हो जाती हैं। तथा विष्णु मन्दिर भी प्रकाश में आता है। यह उल्लिखित सीमावर्ती राजाओ के प्रति नीति से भी यह स्थल गुप्त काल में संबोधित माना जाता है। क्योकि गुप्तों का सीमावर्ती राज्यों से अच्छा संबंध था।[1]

चंपा :

बिहार प्रान्त के भागलपुर जिले से 3 कि.मी. पश्चिम चंपा का विशाल टीला है। इस टीले के चारो तरफ परिखा, प्राचीर एवं दुर्ग के अवशेष प्रकाश में आये हैं। यहां की सतह से तो एन.बी.पी. मृदभाण्ड के टुकड़े और बेशकीमती पत्थरों के मनके तथा बड़ी नाप की ईटें प्राप्त हुई थी जिससे स्पष्ट होता है कि चंपा नगर की

---

1. ए.एस.आई.आर. 1928-29 पृ. 89-97, ए.एस.आई.आर.1930-34,पृ.128,व्हीलर, मार्टिम फाइव थाउजेन्ड इयर आफ पाकिस्तान,पृ97

प्राचीरों का काल तीसरी शताब्दी ई.पू. का होना चाहिए लेकिन उत्खनन के परिणाम स्वरूप मिट्टी के प्राचीर के अवशेष मिले है जिसका संबंध द्वितीय काल से है। यह संभवत: गुप्त काल से संबंधित हो सकता है। प्राकार की चौड़ाई 15 मीटर है तथा ऊचाई 4.85 मी.है। जो प्राचीर की सबसे ऊची सतह थी, यहां से अन्य कोई जानकारी प्राचीर के संबंध में नहीं मिलती।[1]

नलराजागढ :

पश्चिमी बंगाल प्रान्त के जलपाई गुडी जिले मे सर्वेक्षण के दौरान दुर्ग विधान का संकेत मिला। यह स्थल नलराजागढ के नाम से जाना जाता है जो जंगल में स्थित है। यहां से 4 मीटर से 7.5 मीटर ऊचाई की दीवार प्रकाश में आई है। यहां किले में चार द्वार थे बंगाल से प्राप्त स्थलों में इस स्थल के पश्चिमी एवं दक्षिणी छोर पर द्वार का होना एक विशेषता प्रदर्शित करता है। दूसरी विशेषता ताख के सन्दर्भ में है जो 0.44 मी. लंबी है नीचे की सतह पर तथा दक्षिणी ताख 0.66 मी. ऊची है जो पश्चिमी प्राकार की ओर है । ताख की कुल संख्या 15 है। यहां सर्वेक्षण के दौरान खाई, प्राचीर व बुर्ज के अवशेष प्रकाश आए है। प्राप्त अवशेषों के आधार पर इसका समय गुप्त काल निर्धारित किया जा सकता है।[2]

मांझी या मांझी-गढ़ :-

बिहार प्रान्त के सारन जिले में एक स्थल मांझी या मांझी -गढ़ है। जो गंगा के किनारे स्थित है। उत्तर पश्चिम छोर पर ईंटों से बनी प्राचीर के अवशेष मिलते है। टीले का क्षेत्रफल लगभग 457. 365.04 मी. है प्राचीर भूमि से लगभग 9.144 मी.की ऊचाई पर है। प्राचीर के वाहय दीवार पक्की ईंटों से बनी है। इस स्थल पर 45,25,7.5मी. आकार के ईंटों का प्रयोग हुआ है। प्राचीर के दक्षिणी लाइन पर एक गुप्त मार्ग था। यहां से लाल बर्तन तथा एन.बी.पी.के कुछ टुकड़े प्रकाश में

---

1. इंडियन आर्कियोलोजिकल- रिव्यू (आई.ए.आर.) 1970-71 पृ.4-5, आई.ए.आर., 1971-72 पृ. 5
2. आई.ए.आर., 1960-67, पृ. 45-46

आए हैं साथ ही अभिलेखित ईंट भी मिला है जिस पर लिखा है श्री प्रथमादित्य ।जिसकी खोज 1918 ई.पू. में हुई थी। अभिलेखीय विशेषताओं के आधार पर इसका समय छठी शताब्दी ई. निर्धारित किया गया। अभिलेख के उल्लिखित नाम संभवतत् परिवर्ती गुप्त के किसी अज्ञात राजा से है।[1]

गियक :

बिहार के उत्तर पूर्व में एक स्थल है गियक जिसे बेहार नामक स्थान से समीकृत किया जा सकता है। इसकी पहचान कनिंघम ने बिहार स्थित अवलोकितेश्वर बिहार से की है, जिसकी वहां से प्राप्त मूर्तियों से भी हो जाती है। यहां पत्थर से बने प्राचीर एवं खाई प्रकाश में आए हैं। 1872 ई. में यहां पर ब्राडले ने भ्रमण किया था, जिसने किले के सन्दर्भ में लिखा था और उत्तरी एवं दक्षिणी दीवार के बारे में बताया उसके अनुसार एक सद्वार था जो पार्श्व में था। यहां से लगभग 91 कि.मी. की दूरीपर उत्तरी दीवार था जहां से एक स्तंभ अभिलेख प्राप्त हुआ है जो गुप्त से संबंधित है। तथा नीचे का विखंडित अभिलेख स्कन्द गुप्त से संबंधित है।नीचे का अभिलेख भीतरी अभिलेख के सदृश्य है।[2]

बयाना:

राजस्थान प्रान्त के भरतपुर जिले में बयाना स्थल है जहाँ से गुप्त कालीन मुद्रा प्रकाश में आए थे यहीं पर किले के भी प्रमाण मिले हैं जो गुप्त काल से संबंधित हैं। यहाँ से सुरक्षा प्राचीर, खाई, दीवार एवं द्वार के प्रभाव मिले हैं। गुप्त कालीन सिक्कों के प्रकाश में आने से इसका काल गुप्त काल तो माना ही जाएगा। साथ ही हमें

---

1. ए.एस.आई.आर. 1922-23 पृ. 31; आई.ए.आर. 1961-62 पृ. 9, आई. ए. आर. 1967-68 पृ.9, पाटलिपुत्र, डी. आर. ऐंटीक्वोरियन रिमेंस इन बिहार- ए.आर.बी. नं. 296
2. कनिंघम ,ए.ए.एस.आर.आर. जनरल आफ फ्रंसिस बुकन्न, पाटलि डी.आर. आर.बी. नं. 72 पृ. 44-46

300 ई. के अभिलेख के टुकड़े मिले जो यौधेय जनजाति से संबंधित हैं। इससे ऐसा लगता हैकि यौधेय प्रशासन का यह महत्वपूर्ण केन्द्र था। अभिलेख में महासेनापति लिखा मिलता है। 327ई. के एक अन्य अभिलेख के प्रकाश में आने से ऐसा लगता यह स्थल समुद्र गुप्त के सामन्त से संबंधित है जो प्रारम्भिक गुप्तकाल से संबंधित हैं।[1]

चितोर:

राजस्थान प्रान्त के चितौड़ गढ़ जिले में चट्टान दुर्ग चितोर में है। यह गुप्त काल में अस्तित्व में आया था। यह स्थल मिहिर कुल के चित्रकूट विजय के समय प्रकाश में आया ऐसा लोगों का विचार एवं मान्यता है क्योंकि 530 ई. में हूण राजा मिहिर कुल का शासन था। हूण आक्रमण के समय यहाँ की पुरानी राजधानी चितोर का किला मोरी (मौर्य) राजा ने बनवाया था। लेकिन किले का मूल आकार क्या था इस सम्बन्ध में निश्चितरूप में कुछ कहना मुशकिल है जबकि समय समय पर उसका पुनर्निमाण किया गया था।[2] राजस्थान में एक स्थान चाटसु है जो जयपुर के दक्षिण में स्थित है यहाँ से प्राप्त अवशेष के आधार पर इसकी तिथि का सही व्याख्या की जाए तो।[3]

ग्वालियर:

मध्य प्रदेश के ग्वालियर जिले में ग्वालियर किले नाम से जाना जाने वाले स्थल का अस्तित्व गुप्त काल में हुआ था। इसका प्रमाण वहाँ से प्राप्त अभिलेख है जो मिहिरकुल के 15वें वर्ष से संबंधित है जिसमें मिहिर कुल के द्वारा वहाँ राजा को किए गए पत्राचार का उल्लेख है।

---

1. कनिंघम, ए.ए.एस.आई.आर., 1871-73, जिल्द 4 पृ.54-73; कनिंघम, ए.,ए. एस. आई.आर.,1871-73 जिल्द 20 पृ.81-88
2. जैन, के.सी.ऐंश्येंट सिटीज एन्ड टाउन ऑफ राजस्थान पृ.224-225; कनिंघम, ए.ए.एस. आई.आर.1883-84,जिल्द23,पृ.101-123
3. कनिंघम, ए.,ए.एस.आई.आर. 1871-73 जिल्द 4, पृ. 106-120; जैन,के. सी., ऐंश्येंट सिटीज एन्ड टाउन ऑफ राजस्थान पृ.203-204

जिसकी तिथि 525 ई. है। इस दुर्ग का भी पुनर्निर्माण समय-समय पर किए गए थे। यह चट्टान दुर्ग था।[1]

बेसनगर:

मध्य प्रदेश प्रान्त के विदिशा जिले में बेसनगर नामक स्थल हैं जहाँ से हेलोडोरस का स्तम्भ लेख प्राप्त हुआ है। बेसनगर तीन ओर से नदियों से घिरा था सिर्फ एक छोर पर भारी दुर्ग-प्राकार प्रकाश में आया है। प्राकार की औसत ऊंचाई पश्चिम की ओर लगभग 9.14 मीटर है जबकि उत्तर पश्चिम की ओर 13.71 मीटर से 15.24 मीटर के मध्य ऊंची है। पश्चिम की ओर सुरक्षा की दृष्टि से खाँई थी। यहाँ के उत्खनन की मुख्य विशेषता है कि दुर्ग की दीवार वाले स्थल से स्टोन बाल मिले हैं। उत्खनन कर्ताओं के अनुसार इन बालों का प्रयोग सीलिंग बाल के रूप में होता रहा होगा। दीवार का प्रयोग संभवतः सुरक्षा की दृष्टि से किया जाता रहा होगा। इन अवशेष तथा अन्य अवशेष के आधार यहाँ पर मौर्यकाल से गुप्त काल तक सभ्यता रही।[2]

चन्द्रकेतु-गढ़

चन्द्रकेतु गढ़ पश्चिमी बंगाल के 24 परगना जिले में स्थित है। सर्वेक्षण के दौरान दो प्राचीर के प्रमाण मिले।[3] उत्खनन के पश्चात यहाँ नगर दुर्ग के प्रमाण मिले। यहाँ पर प्राक मौर्य काल से गुप्त काल तक के अवशेष प्राप्त हुए हैं। पूर्व पश्चिम की ओर प्राकार ढांचा के प्रमाव मिले है। इसके अतिरिक्त वहाँ से खांई के भी प्रमाव मिले हैं। उत्खनन के दौरान लकड़ी के अवशेष प्राप्त हुए हैं। संभवतः यह किसी मकान के समूह अवशेष है जिसकी तिथि द्वितीय शताब्दी ई. पू. मानी गई है।[4]

---

1. कनिंघम, ए., ए.एस.आई.आर., 1864-65, जिल्द 2, पृ. 330 एफएफ गार्ड़े, एम.बी.- डायरेक्टी ऑफ फोर्ट इन ग्वालियर स्टेट पृ. 55
2. आई.ए.आर. 1963-64 पृ. 16-17; आई.ए.आर 1964-65 पृ. 19-20
3. ए.एस.आई.आर. 1922-23 पृ. 109
4. आई.ए.आर., 1956-57, पृ. 29-31, आई.ए.आर. 1964-65 पृ. 52

सरदकेल:

बिहार प्रान्त के रांची जिले से सरदकेल नामक दुर्गीकृत स्थल प्रकाश में आया है। उत्खनन के पश्चात् द्वितीय काल से पक्की ईंटों से बनी दीवार के प्रमाण मिले हैं जिसमें 41x26x7 मीटरआकार के ईंटों का प्रयोग किया गया है। सुरक्षात्मक दीवार की चिनाई 14 रद्दे तक की गई है जिससे हमें उसकी ऊंचाई ज्ञात होती है। कुषाण मृद.भाण्ड को छोड़कर अन्य कोई पुरावशेष की प्राप्त नहीं हुई है। इस आधार पर इसका समय प्रथम और द्वितीय शताब्दी ई. रखा जा सकता है।[1]

अतंरजीखेडा:

उत्तर प्रदेश प्रान्त के एटा जिले में अतंरजी खेड़ा नामक स्थल है। जहाँ से एन.बी.पी. के काल के दुर्ग के प्रभाव मिलते हैं। यहाँ पर मिट्टी से बनी ईंटों के बुर्ज प्रमाण में मिला है। बुर्ज का पुनः प्रयोग बाद में मिलता है स्तरीकरण के आधार पर इसका निर्माण मध्य काल में किया गया है।[2]

नोह:

राजस्थान के भरतपुर जिले में नोह नामक स्थल है जहाँ से चतुर्थ काल में मिट्टी की बनी ईंटों के ढांचे होने का प्रमाण मिला है। जिससे प्राकार के संकेत मिलते है जिसका समय प्रथम शताब्दी ई. पू. माना जा सकता है इसके अतिरिक्त और जानकारी हमें यहाँ से उपलब्ध नहीं होती।[3]

नहुष का टीला:

उत्तर प्रदेश के आजमगढ़ जिले से नहुष का टीला की खोज की गई है जहाँ से मिट्टी से बनी दीवार के प्रमाण मिलते हैं इसके अतिरिक्त पूर्व छोर को छोड़कर अन्य छोर पर दुर्ग द्वार के प्रमाण मिले । लेकिन वैज्ञानिक उत्खनन न होने से सुरक्षा के अन्य ढांचों का प्रमाण नहीं मिला है। लेकिन वहाँ से प्राप्त मृद्भाण्डों के आधार पर द्वितीय-तीसरी शताब्दी ई. में इसका समय माना जा सकता

---

1. आई.ए.आर. 1964-65 पृ.- 6
2. आई.ए.आर. 1968-69 पृ.-37
3. आई.ए.आर. 1963-64 पृ. 28

है। कुषाण काल के बाद के अन्य कोई पुरावशेष नहीं मिले।[1]

मथुरा :

उत्तर प्रदेश प्रान्त के मथुरा जिले में कड़ा टीला से किलेबन्दी के प्रमाण मिले हैं। यहाँ से दो दौर मिट्टी के प्राकार के मिले। लेकिन अन्य कोई ढांचा गत प्रमाण नहीं मिले है। प्राकार के स्तर से चित्रित धूसर के मृद्भाण्ड के टुकड़े मिले है। जो कि प्राकार के निर्माण का काल हो सकता है।[2]

संकिसा:

उत्तर प्रदेश प्रान्त के फरूखाबाद जिले में प्रसिद्ध बौद्ध स्थल संकिसा है। यहाँ से "किलह" नामक स्थल प्रकाश में आया है जहाँ से हमें प्राचीर के प्रमाण मिलते हैं। शहर चारो ओर से प्राचीर से घिरा था।[3]

संघोल:

पंजाब प्रान्त के लुधियाना जिले के संघोल नामक स्थान पर विस्तृत उत्खनन के पश्चात् प्रथम शताब्दी ई. से पांचवी शताब्दी तक के किलेबन्दी के प्रमाण मिलते है। यहाँ का दुर्ग समूह क्षेत्र चतुर्थ काल से संबंधित है जहाँ से हमें प्राकार एवं तीन खांई के प्रमाण मिलते है। पहला प्राकार के बाहर की ओर है तथा दो अन्दर की ओर है।

जौ-गढ़:

उड़ीसा प्रान्त के गंजाम जिले में जौगढ़ नामक मौर्य कालीन स्थल है। कनिंघम के सर्वेक्षण के दौरान उनको वर्गाकार प्राकार का संकेत मिला है भूमि योजना के आधार पर। प्राकार के चारो ओर दो द्वार थे। इस प्रकार आठ द्वार का निर्माण हुआ था प्राकार के चारों कोने पर बुर्ज के प्रमाण मिले हैं जबकि हमें प्रत्येक द्वार

---

1. आई.ए.आर., 1968-69 पृ. 35
2. आई. ए. आर. 1954-55 पृ. 15
3. कनिंघम, ए., ए.एस.आई.आर जिल्द 1 पृ. 270; इम्पीरियल गजेटियर ऑफ इन्डिया जिल्द 22, पृ. 59 द्रष्टव्य (प्रकाश, डी. वी., ए हिन्दी ऑव फोर्टिफिकेशन इन इण्डिया अप्रकाशित शोध प्रबन्ध डेक्कन कालेज, पूना

पर दो बुर्ज के प्रमाण मिले हैं।[1] उत्खनन के परिणाम स्वरूप भी हमे प्राकार के प्रमाण मिले हैं। प्राकार की ऊंचाई 7.62 मीटर थी। जो भूमि योजनायें वर्गाकार थे। प्रत्येक छोर पर दो द्वार के प्रमाण मिले हैं। जो लगभग 800 मीटर लम्बा था। पहले प्राकार का निर्माण प्राकृतिक मिट्टी पर किया गया था जिसकी चौड़ाई 21.34 मीटर थी तथा ऊंचाई 4.42 मीटर। प्राकार के निर्माण में खाई के निर्माण के प्रमाण मिलते हैं क्योंकि उसमें से खोदकर मिट्टी निकाली गई थी, चौड़ाई व गहराई खांई की ज्ञात नहीं हो सकी है लेकिन खांई के अन्दर की दीवार का पता चला है। उत्खनन से पुरी कुषाण सिक्के मिले हैं इसके अलावा काली व लाल रंग के मृद.भाण्ड भी मिले हैं इस आधार पर इसका निर्माण काल ई. पू. से कुषाण काल तक माना जा सकता है।[2]

अदम:

"अदम" (तालकुट्टी) नामक पुरातात्वीक स्थल महाराष्ट्र प्रान्त के नागपुर जिले में है जहाँ से हमें प्रारम्भिक ऐतिहासिक काल की किले के बारे में जानकारी मिलती है। जहाँ पर उत्खनन कार्य हुआ है वहाँ के प्रारम्भिक अवस्था में लोहे के प्रयोग करने वालों ने प्राकार का निर्माण किया था तथा चारों ओर खांई के प्रमाण उस स्थल पर मिले हैं। बाद में पत्थर की परिखा बनाई गई है जिस पर मिट्टी से प्लास्टर किया गया है जैसा सुरक्षा की आवश्यकता थी। बड़े राक से "वी" आकार के खांई प्रकाश में आए हैं। जिसका प्रयोग सुरक्षा के लिए किया गया होगा।[3]

---

1. कनिंघम, ए.,ए.एस.आई.आकर., 1874-76 जिल्द 13, पृ. 112-116
2. इण्डियन आर्कियोलाजिकल रिव्यू- 1956-57 पृ. 30-31 {आई.ए.आर}
3. नाथ, अमेन्द्र, आर्कियोलाजी ऑफ दि वर्धा वेनगंगा डिवाइड पुरातत्व नं. 20,1989-90,पृ.97

चतुर्थ अध्याय : युद्ध-कला एवं युद्ध के सिद्धान्त

अध्याय – 4

युद्ध–कला एवं युद्ध के सिद्धान्त

युद्ध–योजना:

युद्ध–कला के आवश्यक अंग युद्ध योजना एवं रण–कौशल है।[1] प्रश्न यह उठता है कि युद्ध– योजना का अभिप्राय क्या है। इसका अभिप्राय युद्ध करने की तैयारी से है। सैन्य शक्ति में बृद्धि करना, सेना को युद्ध की शिक्षा देकर तैयार करना, शत्रु पक्ष की सूचना प्राप्त कर उसके अनुसार अपनी व्यवस्था करना, उचित समय पर सेना यात्रा कराना उपयुक्त स्थान पर जो कि सैनिक दृष्टि से पूर्वतः सुरक्षित स्थिति में हो सैन्य पड़ाव डालना तथा शास्त्रास्त्रों एवं अन्य उपयोगी सैन्य सामग्री का प्रर्याप्त संग्रह करना आदि कूट योजना के अन्तर्गत आता है।

रण–कौशल

वास्तविक युद्ध के लिए सेना को व्यूह में खड़ा करना तथा शत्रु की सेना से लड़ना दुर्ग का घेरा डालना और उसे तोड़कर उसके अन्दर उपस्थित शत्रु सेना पर आक्रमण करना आदि रण–कौशल के अन्तर्गत आता है।मालीवाल के अनुसार युद्ध योजना के अन्तर्गत उन क्रियाओं तथा निर्णयों को सम्मिलित किया जा सकता है, जो वास्तविक संग्रह के पहले किए जाते है जबकि रण–कौशल के अंतर्गत युद्ध भूमि में विभिन्न प्रकार की सेनाओं तथा अस्त्र– शस्त्रों का मिश्रित तथा कौशलामक प्रयोग आता है।[2] हापकिंस[3] के अनुसार अत्यंत स्वल्प है। हापकिंस के अनुसार मनुस्मृति और महाभारत के वर्णित युद्ध योजना संबंधी वर्णन वृहस्पति और उशनस जैसे आचार्यों के ग्रन्थों पर आधारित है। इन्हीं आचार्यों ने सर्वप्रथम युद्ध धर्म–संबंधी नियमों का निर्माण किया है।

---

1. कुल श्रेष्ठ, आर. सी., एवंशर्मा, बी. एल., भारतीय सैन्य –विज्ञान, पृष्ठ 157
2. मालीवाल, बी. एन, सैन्य विज्ञान, पृष्ठ 82
3. हापकिंस, ई. वाशबर्न, इथिक्स आफ इंडिया पृष्ठ 191

सैन्य यात्रा : यात्रा काल

विजयी राजा को चाहिए की वह शक्ति, देश काल से सम्पन्न होकर अवश्यकतानुसार सेना के तिहाई या चौथाई भाग को अपनी राजधानी, अपने पार्ष्णि और अपने सीमावर्ती क्षेत्रों की रक्षा के लिए नियुक्त कर, यथेष्ठ कोष तथा सेना को साथ लेकर शत्रु पर विजय करने के लिए अगहायण मास में युद्ध के लिए प्रस्थान करे क्योंकि इस समय शत्रु का पुराना अन्न-संचय समाप्ति पर होता है साथ ही नयी फसल के अन्न को संग्रह करने का समय भी नही होता है वर्षा ऋतु के बाद किलों की मरम्मत आदि भी नहीं हुई रहती है। यही वह समय है जब वर्षा ऋतु के बाद तैयार फसल जायद को तथा आगे आने वाली ऋतु हेमंत में, पैदा होने वाली (खरीफ) फसल को नष्ट किया जा सकता है। इसी तरह हेमंत ऋति की तैयार फसल को तथा आगे बसंत ऋति में तैयार होने वाली फसल (रबी) को नष्ट करने के लिए उपयुक्त युद्ध-प्रयाण काल, चैत्र मास मे है। यह यात्रा का दूसरा समय है।इसी प्रकार बसंत की पैदावार को और आगे होने वाली वर्षा काल की फसल को नष्ट करने का उपयुक्त समय ज्येष्ठ मास में है। इस समय घास फुस, लकड़ी जल आदि सभी क्षीण हुए रहते है परिणामत: शत्रु अपने दुर्ग की मरम्मत नही कर पाता। यात्रा काल का यह तीसरा अवसर है। ये तीनों यात्रा काल शत्रु को अत्यधिक हानि पहुचाने के लिए सर्वथा उपयुक्त है।[1]

अर्थशास्त्र[2] के एक वर्णन में, देश विदेश के अनुसार भी युद्ध-यात्रा का काल निर्धारित किया गया है। गरम प्रदेश में युद्ध के लिए हेमंत ऋति में प्रस्थान करना चाहिए क्योंकि इस ऋति के अतिरिक्त अन्य समयों में यहॉ अत्यधिक गर्मी तथा पशुओ की खाद्य सामग्री, ईंधन तथा जल की कमी रहती है। अत्यधिक ठंड एवं बड़े बड़े तालाब घने जंगल अधिक वर्षा वाले स्थल पर ग्रीष्म ऋतु में अनुभव करना चाहिए, जो अपनी सेना के कवायद करने के लिए

---

1. अर्थशास्त्र, (कांगलें द्वारा सं पा.) भाग1, 9.1.34.361
2. अर्थशास्त्र 9.1.40. ।

उपयुक्त और शत्रु सेना के लिए अनुपयुक्त हो ऐसे देश में वर्षा ऋतु में तथा जब किसी दूर देश के आक्रमण में अधिक समय लग जाने की संभावना हो वहां मार्ग शीर्ष और पौष महीनो में यात्रा करनी चाहिए। मध्य कालीन यात्रा चैत्र-वेशाख में करनी चाहिए। जहां यात्रा अल्पकालिक हो वहां ज्येष्ठ-आषाढ़ में प्रस्थान किया जाना चाहिए।

सेना के युद्ध भूमि में प्रस्थान का उत्तम समय महाभारत में अग्राहयण एवं चैत्र मास का माना गया है।[1] मनुस्मृति के अनुसार राजा को शुभमार्ग शीर्ष मास में, फाल्गुन अथवा चैत्र मास में अपनी सेना के अनुसार शत्रु नगर पर आक्रमण करना चाहिए।[2] मनुस्मृति में यह उल्लेख भी है कि दूसरे समय भी जब राजा अपनी विजय निश्चित समझे और अपने सैन्य बलसे युक्त हो, तब विग्रह कर शत्रु पर चढ़ाई करे और जब शत्रु को आमात्य आदि के विरोध या कठोर दंड आदि से व्यसन आदि मे पड़ा हुआ समझे तब भी अन्य समय में शत्रु पर चढाई कर दें[3] इन उल्लेखों के अतिरिक्त कुछ ऐसे उल्लेख मनुस्मृति में मिलते हैं जिसके अनुसार किसी भी समय आक्रमण किया जा सकता है। उदाहारण के लिए जब राजा अपनी सेना को हस्ट-पुष्ट तथा शत्रु की सेना को इसके विपरीत समझे, उस पर चढ़ाई कर दे।[4] ऐसा ही उल्लेख या याज्ञवल्कय स्मृति में भी मिलता है। याज्ञवल्क्य स्मृति के अनुसार शत्रु का राज्य जब अन्नादि से भरपूर हो और अपनी सेना के अश्व एवं वाहन आदि तैयार हो सैनिक प्रसन्न हो तब राजा को आक्रमण करना चाहिए।[5] कामंदक नीतिसार में वर्णन मिलता है कि मरुदेश, जलवाले देश, कक्षा देश और दुर्ग-इन पर गर्मी में गमन करना चाहिए।[6] कालिदास ने वर्षा समाप्त हो जाने के उपरानत शरद ऋतु को ही

---

1. महाभारत, शांति पर्व, 100
2. मनुस्मृति , 7/182
3. मनुस्मृति , 7/170
4. मनुस्मृति , 7/171
5. याज्ञवल्क्य स्मृति ,1/3.48
6. कामंदक नीतिसार , 15/40

सैन्य-यात्रा के लिए उत्तम बताया है।[1] शुक्रनीति में शरद, हेमंत व शिशिर ऋतु का समय युद्ध के लिए उत्तम वसंत ऋतु को मध्यम तथा ग्रीष्म ऋतु को सदैव ही निम्न कोटि का समझा गया है।[2]

सैन्य यात्रा के समय ज्योतिष गणना पर भी गौर किया जाता है। ज्योतिषों द्वारा शुभ मुहूर्त निश्चित करने पर पर ही सैन्य प्रयाण प्रारम्भ होता था। महाभारत के अनुसार जो राजा शुभ मुहूर्त में नक्षत्र चन्द्रमा आदि का विचार कर यात्रा करता है उसकी सदैव विजय होती है।[3] महाभारत में[4] रेवती नक्षत्र में मैत्र मुहूर्त को रामायण[5] में विजय नाम मुहूर्त को सैन्य यात्रा के लिए उपयुक्त समय बताया गया है। दोपहरके समय से ही उदित सम्पूर्ण चन्द्रमा वाली, सब प्रकार के शुभों से संपन्न पूर्णमासी तिथि[6] तथा बुध[7] के लग्न में विजय प्राप्त करने के लिए प्रस्थान करना चाहिए। कालिदास ने रघुवंश में अगस्त्य नक्षत्र उदित होने पर सैन्य यात्रा का शुभ मुहूर्त बताया गया है।[8] साहित्य रत्नाकरम में यह उल्लेख मिलता है कि सैन्य यात्रा के पहले ज्योतिषों से शुभ दिन निधारित कर लिया गया था।[9] तोल काप्पियम पोरूल के अनुसार किसी कारण वश यदि संपूर्ण सेना निश्चित समय पर सैन्य यात्रा नहीं प्रारम्भ कर पाती थी तो कुछ हाथियों तथा राजकीय तलवार आदि को निश्चित या शुभ समय पर शकुन या प्रास्थान के रूप में भेज दिया जाता था।[10]

---

1. रघुवंश, 4/21,24
2. शुक्रनीति, 4/71 223-24
3. शांति पर्व, 100/26
4. उद्योग पर्व, 83/67
5. युद्ध कांड, 413.5
6. मुद्राराक्षस, अनुवाद -सिंह, सत्यव्रत, पृष्ठ 194-95
7. मुद्राराक्षस अनुवाद-सिंह, सत्यव्रत, पृष्ठ 194-95
8. रघुवंश, 4/21,24
9. साहित्य रत्नाकरम, 14/30-34
10. तोल काप्पियम पोरूल, 68, सुब्रहमण्यन, एन. संगम पालिटी, पृष्ठ 156

सैन्य यात्रा प्रारम्भ करने के पूर्व मार्ग में किस प्रकार की व्यवस्था होनी चाहिए एवं इसके लिए अवश्यक रसद का क्या प्रबंध होना चाहिए, आदि विषयों पर प्राचीन शास्त्राकारों ने व्यवस्था दी है। कौटिल्य के अनुसार सैन्य यात्रा के समय गांवों जंगलों तथा मार्गों में ठहरने योग्य स्थानों का घास लकड़ी तथा जाल आदि की उपलब्धता के आधार पर निर्णय कर और वहांपर पहुचने ठहरने तथा वहां से आगे प्रयास करने आदि का पहले ही से समय निश्चित कर विजेता को घर से निकलना चाहिए। इसके अतिरिक्त यात्रा काल में खान-पान और पहनने ओढ़ने के लिए जितने की आवश्यकता हो उससे दुगुना सामान साफ रखना चाहिए। यदि इतना सब सामान सवारियों पर जा सके तो उसमे से थोड़ा-थोड़ा सैनिको को दे देना चाहिए।[1]

अर्थशास्त्र में कौटिल्य ने प्रशास्ता को यह निर्देश दिया है कि वह सेना और राजा के सैन्य प्रयाण के पहले कारीगरों, मजदूरों तथा अध्यक्षों के साथ लेकर चला जाय और मार्ग रक्षा का तथा आवश्यकतानुसार जल आदि का अच्छी तरह प्रबंध करे।[2] अर्थशास्त्र में यह भी वर्णन मिलता है कि विभिन्न मौसम तथा प्रदेश के अनुसार सैन्य यात्रा के समय किन किन सैनिको बलों को तैयार किया जाना चाहिए। उदाहरण् के लिए अत्यन्त गर्मी के मौसम में हाथियों को छोड़कर ऊट आदि की सेना को लेकर तथा जहां पर जल का स्थायी प्रबन्ध न हो और वर्षा भी न होती हो, ऐसी दशा में गधा, ऊट तथा घोड़ों की सेना लेकर आक्रमण करना चाहिए। जिस देश में वर्षा होने पर कीचड़ कम होता हो, ऐसे रेगिस्तानी देशों में हाथी, घोड़े, रथ और पैदल आदि से सुसज्जित चतुरंग सेना को लेकर भी आक्रमण किया जा सकता है।[3] मनुस्मृति के अनुसार समतल युद्ध भूमि में रथ और घोंड़ो से, जलप्राय युद्ध भूमि में धनुषो से और कंटक पत्थर आदि से वर्जित युद्ध भूमि

1. अर्थशास्त्र, 10.2.1-3
2. अर्थशासत्र, (कांगले द्वारा संपा.) भाग,1 10.1.17
3. अर्थ शास्त्र, 9.1.45-50

में ढाल, तलवार और बर्छे आदि से युद्ध करना चाहिए ।[1] इस उल्लेख से यह स्पष्ट है कि युद्ध भूमि के अनुसार ही सैनिकों की तैयारी की जानी चाहिए ।

उचित समय व मुहूर्त निश्चित कर लेने के पश्चात, सैन्य प्रयाण के लिए तैयारियां प्रारम्भ की जाती थी ।संगम कालीन दक्षिण भारतीय ग्रन्थों में उल्लेख मिलता है कि जब राजा सैन्य अभियान का निर्णय करता था तो पहले सैनिको को एकत्रित करने के लिए वह दूत भेजता था। जिससे सैन्य समुदाय के सभी सदस्य शीघ्रता से एवं अधिक संख्या में एकत्रित हो जाते थे ।[2] राजकीय तलवार को पवित्र जल द्वारा अभिषिक्त करके सैन्य प्रयाण करने के पूर्व उसकी शोभा-यात्रा निकाली जाती थी । इसी प्रकार छत्र तथा नगाड़े को किसी शुभ दिन में शकुन या प्रास्थान के रूप में युद्ध-क्षेत्र की दिशा में भेज दिया जाता था। तदुपरांत नगाड़ा बजाया जाता था और इसकी ध्वनि सुनकर सभी सैनिक एकत्र होकर अपने नेता का चयन और युद्ध-अभियान के अनुरूप माला तथा पुष्प धारण करते थे ।[3] राजा और उसके सेनापति स्वर्णिम पुष्प धारण करते थे, परन्तु साधारण सैनिक साधारण धातु के अलंकरण धारण करते थे। सेना नायक के कवच में राजा स्वयं पुष्प को लगाता था ।[4]

राजा व सैनिक सैन्य-अभियान के पूर्व यह प्रतिज्ञा करते थे कि जब तक शत्रु पर विजय प्राप्त नहीं कर लेगें तब तक भोजन नहीं ग्रहण करेगें ।[5] अधिकांश सैनिक यह शपथ लेते थे कि वे कभी युद्धभूमि से पलायित नहीं होगें ।[6] उदाहरणार्थ पांड्य राजा ने डुंजेलियन ने तलैया लंगानम के प्रसिद्ध युद्ध में सांयकल के समय वीरता और

---

1. मनुस्मृति, 7/192
2. पुरनानुरू, 284, द्रष्टव्य-सुब्रहमण्यन, एन. संगम पालिटी, पृष्ठ 156
3. पुरनानुरू, 289, 239
4. मदुरैक्काजी, 737, 738
5. पुरनानुरू, 304, द्रष्टव्य-सुब्रहमण्यन, एन. संगम पालिटी पृष्ठ 156
6. पुरनानुरू, 295

विजय की शपथ की थी ।[1] दक्षिण भारतीय ग्रन्थ में उल्लेख मिलता है कि ऐसे अवसरों पर शपथ लेने वाले सैनिकों की अभिव्यक्ति सामान्य रूप से यह होती थी कि, "यदि तुम मेरे नायक का विरोध करने का साहस करोगे तो तुम युद्ध में नष्ट हो जाओगे और शीघ्र ही मृत्यु को प्राप्त होगें ।[2] ऐसे वीरों के लिए वे दिन व्यर्थ ही जाते थे । जिस दिन वे अपने चेहरे तथा वक्षस्थल पर घाव के चिन्ह न देख ले ।[3] जो लोग युद्ध-भूमि में मृत्यु को वरण करने का भाव नहीं रखते थे उसके लिए शौर्य संबंधी अलंकरण पहनना व्यर्थ समझा जाता था ।[4]

सैन्य प्रयाण की प्रारम्भिक स्थतियों के विषय में संगम कालीन दक्षिण भारतीय ग्रन्थ सिलप्पदिकारम[5] में यह उल्लेख भी मिलता है कि राजा सैन्य-प्रयाण के समय अपने साथ परिचारकों का एक बड़ा दल लेकर चलता था। चारभट, विदूषक, दरबारी एवं नर्तक सदैव सेना के मनोविनोद के लिए साथ रहते थे। सिलप्पादिकारम में यह भी उल्लेख मिलता है कि सेंगटटुवन के सैन्य अभियान के समय उसकी सेना में 100 रथ, 500 हाथी, 10,000 घोड़े एवं 20,000 भारवाहक गाड़ियां तथा वर्दी पहने हुए एक हजार सैन्य प्रशासनिक अधिकारियों के साथ 102 नर्तकी, 208 वाद्य-संगीतज्ञ तथा 100 विदूषक भी थे ।

सभी तैयारियां कर लेने के पश्चात सैन्य-अभियान निश्चित समय पर देव पूजा के उपरांत प्रारंभ होता था । देव पूजा संबंधी विभिन्न विवरण विभिन्न ग्रन्थों में प्राप्त होते हैं ।साहित्य रत्नाकाम के अनुसार सैन्य यात्रा के पहले शकुन का विचार एवं ईश्वर की पूजा की जाती थी ।[6] कालिदास ने रघुवंश में यह उल्लेख किया है कि राजा को चाहिए कि वह यात्रा का शुभ मुहूर्त निकालकर भली भांति

---

1. पुरनानुरु, 72
2. कुरल 771, कृष्टण्य-सुब्रहमण्यन, एन. संगम पालिटी, पृष्ठ 157
3. कुरल, 776
4. कुरल, 776
5. सिलप्पादिकारम, 26/128-40
6. साहित्यरत्नाकाम 14/30-34

शास्त्रोपयुक्त विधि से देव पूजा कर सैन्य प्रयाण करे।[1] कामन्दक का कहना है कि सैन्य यात्रा से पहले राजा को अच्छे ग्रह, नक्षत्र आदि देखकर तथा ईश्वर एवं द्विज की पूजा करके शत्रु के ऊपर चढ़ाई करनी चाहिए।[2] महाकवि बाण के अनुसार हर्ष ने सैन्य प्रयाण के पूर्व विजिगीषु राजा की भांति व्याघ्र चर्म पर भद्रासन बिछाकर विधिवत शिव की पूजा के बाद ब्राम्हणों को सोने, चांदी के तिलपात्र बांटे तथा सोने की लताओ से अंकित खुर और सींगों वाली असंख्य गायें दान में दी।[3]

यात्रा में सैनिक क्रम:

प्राचीन ग्रन्थों में सैन्य यात्रा के समय सेना के विभिन्न अंग व पदाधिकारी किस क्रम में चलते थे इस विषय में अनेक स्थलों पर उल्लेख हुआ है। महाभारत के एक प्रसंग के अनुसार सेना के प्रस्थान के समय प्रमुख सेना नायक आगे आगे चलता था । राजा मध्य में रहता था। रसद से लंबी बैल गाड़िया तथा स्त्रियां सेना के पृष्ठभाग में चलती थी। सबसे पीछे रक्षार्थ सेनापति चलते थे।[4] अर्थशास्त्र में यह उल्लेख मिलता हैकि सेना के सबसे आगे दस सेनापति प्रमुख नायक को चलना चाहिए, बीच में अंतःपुर और राजा चले, अगल बगल में भुजाओ से ही शत्रु के आघात को रोकने वाली घुड़सवार सेना चले, पिछले भाग में हाथी चले।[5] कामन्दक ने भी लगभग इसी क्रम पर प्रकाश डाला है, किंतु उन्होंने मध्य में राजा तथा अंतःपुर के साथ कोष एवं कमजोर सैनिको को भी स्थान दिया है। पार्श्व में अश्व सैनिको के साथ रथ सेना का भी प्रितपादन किया है और रथ सेना को अश्व सेना के पीछे रखने का निर्देश दिया है। कामन्दक के अनुसार हस्ति सेना के पीछे जंगली जाति के सैनिको की सेना तथा प्रधान सेनापति रहता था जो घबराएं हुए सैनको को

---

1. रघुवंश 4/30
2. कामन्दक नीति सार 18/2
3. विद्यासागर, श्री मज्जीवा नन्द, हर्षचरित पृष्ठ 709
4. दीक्षितार, वी. आर. आर. वार इन ऐश्येंट, इंडिया, पृ० 238
5. अर्थशास्त्र 10.2.4.।

साहस बंधता चलता था।[1] अग्नि पुराण के अनुसार सेना का नेतृत्व नायक करता था और पृष्ठ भाग में सेनापति रहता था।[2]

यात्रा के समय व्यूह रचना

सैन्य-अभियान के समय सेना, युद्ध भूमि के स्वरूप वैविध्य तथा शत्रु भय को विचार में लेकर विभिन्न प्रकार की व्यूह रचना अपनाती थी । अर्थ शास्त्र में कौटिल्य ने लिखा है कि यदि सामने की तरफ से शत्रु के आक्रमण की संभावना हो तो मकराकार-व्यूह की रचना की जाय, यदि आक्रमण की पीछे से आशंका हो तो शकट-व्यूह बनाकर, यदि मार्ग इतना तंग हो कि उससे एक साथ न जाया जाये तो सूची-व्यूह बनाकर शत्रु की ओर आगे बढ़ना चाहिए।[3] मनुस्मृति में व्यूह के सन्दर्भ में यह वर्णन मिलता है कि सब ओर से भय रहने पर दंड व्यूह से पीछे की ओर से भय रहने पर शंकट-व्यूह से, पार्श्व भाग यानि दाहिने तरफ से भय रहने पर वराह-व्यूह और गरुड व्यूह से, आगे तथा पीछे दोनों तरफ से भय रहने पर मकर व्यूह से तथा आगे की ओर से भय रहने पर सूची व्यूह से यात्रा करनी चाहिए।[4] व्यूह के सम्बंध में कामन्दक नीति सार में यह उल्लेख मिलता है कि यदि आगे कुछ भय जान पड़े तो मकर व्यूह का अवलंबन कर आगे बढ़ना चाहिए। यदि पीछे से भय उपस्थित हो तो शकट व्यूह से, दोनों ओर से भय हो तो वज्र व्यूह से और यदि चारो ओर से भय हो सर्वतो भद्र-व्यूह से सेना को अभ्यास करा कर आगे बढ़ना चाहिए।[5] आचार्य शुक्र ने शुक्रनीति में व्यूह रचना विधान विस्तृत रूप में वर्णन किया है। इस ग्रन्थ के अनुसार यात्रा काल में जहां पर मार्ग में नदी, पर्वत, वन तथा दुर्गम स्थान आने पर भय की संभवतः हो वहां पर सेना को व्यूहकार में रख कर सेनापति को चलना

---

1. कामन्दक नीतिसार 19वां अध्याय
2. अग्नि पुराण, 242/1-18
3. अर्थ शास्त्र (कांगले द्वारा सं पा.) भाग 1, 10.2.9. ।
4. मनुस्मृति, 7/187
5. कामन्दक नीति सार, 8/48-49

चाहिए। उदाहरणार्थ, यदि आगे से भय की संभावना हो तो बड़े मगर के आकार की व्यूह रचना करके चले अथवा उभय पक्ष वाले श्येन पक्षी के आकार की व्यूह रचना करके चलना चाहिए। इसी प्रकार पीछे से यदि शत्रु भय हो तो वज्रव्यूह, चारों तरफ से भय हो तो सर्वतो भय-व्यूह, चक्रव्यूह अथवा कालव्यूह की रचना करके चलना चाहिए।[1]

विभिन्न ग्रन्थों में एक दिन में सेना को कितनी दूरी तक तय करनी चाहिए एवं यात्रा में किस गति से चलना चाहिए, आदि बातों का भी विचार हुआ है। इस सम्बंध में कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में विचार व्यक्त किया है कि प्रतिदिन एक योजन चलना निम्नगति, डेढ़ योजन चलना मध्यम गति और दो योजन चलना उत्तम गति कहलाती है। अथवा सुविधानुसार जितना चला जा सके, उतना ही चलना चाहिए।[2] इसी सन्दर्भ में हर्षचरित में यह वर्णन मिलता है कि डंके पर चोट मारकर यह सूचित किया जाता था कि सेना को कितनी दूरी तय करनी है।[3] अर्थ शास्त्र में कौटिल्य ने यह वर्णन किया है कि विजेता जब यह सोचें की अपनी उन्नति के लिए मुझे किसी राजा को अपना आश्रय बनाना चाहिए अथवा धन धान्य संपंन किसी शत्रु दल को नष्ट करना है, तो धीरे से यात्रा करे। ऊबड़ खाबड़ मार्ग को साफ करने के लिए भी धीरे से यात्रा करे। अथवा जब कोष, अपनी सेना, मित्र सेना, शत्रु सेना, आटविक सेना कारीगर और अपनी सेना के अनुकूल ऋतु की प्रतीक्षा करनी हो तो तब भी धीरे धीरे यात्रा करे। इसके विपरीत अपास्थाओं में शीघ्रता से ही यात्रा करनी चाहिए।[4] महाभारत के अनुसार यदि युद्ध-सामग्री अपर्याप्त होती थी या शत्रु से संधि की आशा होती थी तो यात्रा की गति धीमी रहती थी अन्यथा तीव्र गति अपनायी जाती थी।[5]

---

1. शुक्र नीति, 4/7/263-65
2. अर्थ शास्त्र 10.2.12.।
3. अग्रवाल, वी. एस., हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्याय पृष्ठ 142
4. अर्थ शासत 10.2.13.।
5. मजुमदार बीके. मिलिटरी सिस्टमइन ऐंश्येंट इंडियापृ46

सैन्य अभियान के रास्तें में यदि कोई नदी पड़ जाती थी तो उसे पार करने के लिए विभिन्न प्रकार के साधनों का प्रयोग किया जाता था। इस सम्बंध में कौटिल्य[1] ने अर्थशास्त्र में वर्णन किया हैकि "यात्राकाल में हाथियों, लकड़ी के खंभों, मूलों पुलों, नौकाओ, लकड़ी तथा बांस के बेड़ो, मोमजामों के ताकियों धाग की लकड़ी के बेड़ो और मजबूत रस्सियों से सेनाओ को नदी के पार उतारना चाहिए। नदी के घाट यदि शत्रु के नियंत्रण में हो तो अपनी सेनाओ को पार उतारकर शत्रु के स्थानो पर अधिकार कर लेना चाहिए। जिस प्रदेश मे जल न हो वहाँ गाड़ी बैल आद चौपायों द्वारा कालिदास ने रघुवंश में सेनाओ को हाथियो द्वारा निर्मित पुलों से कपिशा नदी को पार करने का उल्लेख किया है। किंतु शिशुपाल वध, रघुवंश[2] में नाव द्वारा सेना को पार उतारने का वर्णन मिलता है।[3]

आजकल के युद्धों से प्राचीन काल में होने वाले युद्ध सर्वथा भिन्न होते थे। प्राचीन काल में पहले से ही कोई उपयुक्त युद्ध स्थल चुन लिया जाता था। युद्ध स्थल के समीप ही सैनिक पड़ाव डाल दिए जाते थे, जहाँ पर रात्रि के समय युद्ध बन्द करके सेना विश्राम करती थी। शिविर का निर्माण साधारणतया समतल और चौड़ी भूमि पर सैनिकों के-निवास के लिए तम्बू गाड़कर किया जाता था। सैनिक टुकड़ियों गुल्मों द्वारा सेनापित तथा राजा का शिविर सुरक्षित रहता था। युद्ध-सामग्री शिविर के अलग अलग तंबुओ में एकत्रित रहती थी। जहाँ पर हर प्रकार की सुविधा और सुरक्षा रहती थी। ऐसे स्थान पर शिवर का निर्माण किया जाता था। इस संबंध में अनेक वर्णन महाभारत में मिलते हैं-द्वारकापुरी पर आक्रमण के समय ऐसे शिविर का निर्माण किया गया था जिसके समीप जल से पूर्ण जलाशय था। उस शिविर में चतुरंगिबल की सेना

---

1. अर्थ शास्त्र 10.2.14. ।
2. रघुवंश 4/38
3. रघुवंश 4/13, शिशुपाल वध, 12/17

रहती थी। उसका संरक्षक स्वयं राजा साल्व था।[1] ऐसे ही अन्य अनेक वर्णन महाकाव्यों में मिलते हैं।[2]

शिविर:

शिविर के सन्दर्भ में अर्थशास्त्र में कौटिल्य ने विस्तृत रूप से व्याख्या की है उनके अनुसार भवन-निर्माण कला के विशेषज्ञों द्वारा प्रशंसित क्षेत्र में सेनापति, कारीगर और ज्योतिषी-तीनों पारस्परिक परामर्श से गोलाकार, लंबा, चौकोर या जैसी भूमि हो उसी के अनुसार चारों दिशाओं में चार दरवाजों, छः मार्गों और नौ संस्थानों से युक्त सैनिक छावनी का निर्माण करावे। यदि पड़ाव में अधिक समय तक रहने तथा शत्रु के द्वारा आक्रमण की संभावना होती थी तो पड़ाव के चारो ओर खाई, सफील, परकोटा, एक प्रधान द्वारा और अट्टालिकाओं से युक्त स्कंधावार बनवाया जाता था।[3]

वह आगे भी बताता है कि स्कंधावार के बीच में उत्तर की ओर नौवें हिस्से से सौ धनुष लम्बा तथा पचास धनुष चौड़ा राजा का निवास बनवाया जाये। उसके आधे हिस्से में पश्चिम की ओर अंतःपुर रक्षकों के लिए भी स्थान बनवायें जायें। राजगृह के सामने राजा का विश्राम स्थान, राजगृह के दाहिनी ओर खजाना, सचिवालय और कार्य निरीक्षकों के स्थान, राजगृह के बांई तरफ हाथी, घोड़ा, रथ आदि वाहनों के लिए स्थान होना चाहिए। राजगृह के कुछ दूर चारो ओर रक्षा के लिए चार बाड़े बनवायें जायें और प्रत्येक बाड़ का फासला सौ-सौ धनुष होना चाहिए। पहली बाड़ के अन्दर मंत्रियों, पुरोहितों के स्थान, कोष्ठागार, रसोईघर तथा आयुधागार बनवाया जाये। दूसरी बाड़ के अन्दर मौल, भृतसेना, घोड़ों तथा सेनापति के स्थान होने चाहिए। बाड़ के तीसरे घेरे में हाथियों, श्रेणीबल तथा प्रशास्ता का स्थान होना चाहिए। अंतिम घेरे में कर्मचारी वर्ग, नायक, मित्रबल, शत्रुसेना तथा आटविक सेना के स्थान तनवायें जाएँ। व्यापरी और वैश्याओं के स्थान बड़े बाजार में बनवायें जाएँ। बहेलियों,

---

1. अर्थशास्त्र, 10.1.1
2. अर्थशास्त्र, 10.1.2-4
3. अर्थशास्त्रय, 10.1.12-14

शिकारी, बाजे तथा अग्नि आदि के इशारे से शत्रु के आगमन की सूचना देने वाले और ग्वाले आदि के वेष में रहने वाले रक्षकों को सबसे बाहर की ओर बसाया जाये।[1]

अर्थशास्त्र में कौटिल्य पुनः निर्देश देते हैं कि जिस मार्ग से शत्रु के आने की आशंका हो वहाँ कुएं, गड्ढे आदि खोदकर और लोहे की कीलों या काँटों से युक्त तख्तों को बिछाकर शत्रु को रोकने का प्रबंध करना चाहिए। शिविर में हर समय पहरे के लिए अठ्ठारह वर्गों को बारी-बारी से नियुक्त करना चाहिए। शत्रु के गुप्तचरों का पता लगाने के लिए दिन रात अपने आदमियों को घूमने के लिए छोड़ देना चाहिए।[2] आपसी झगड़ों, मदिरापान और जुआ खेलने से सैनिकों को सर्वथा रोक दिया जाय। छावनी के भीतर-बाहर जाने-आने के लिए राजकीय मुहर का प्रवेश चिन्ह बनवाया जाये। राजा के लिखित आज्ञापत्र के बिना युद्ध भूमि से लौटने वाले सैनिकों को शून्यपाल गिरफ्तार कर ले।[3] मुद्राराक्षस में भी शिविर के सम्बन्ध में यह वर्णन मिलता है कि शिविर के आने जाने के लिए राजकीय मुहर का होना नितांत आवश्यक बताया गया है।[4]

पट्टिनप्पालै व तोलकाप्पियम पोरुल नामक संगम कालीन दक्षिण भारतीय ग्रन्थों में शिविर के सम्बन्ध में वृहद वर्णन मिलता है। इस काल में शिविरों को "पट्टै", "वीडु", अहलरै" या "पासरै" कहा जाता था।[5] शिविर का निर्माण ऊंचे स्थान पर किया जाता था, जिसमें सुरक्षा-प्रहरियों के लिए स्थान बने रहते थे।[6] विश्राम की घंटी बजने पर रात्रि में राजा के अंगरक्षक कोट तथा

---

1. अर्थशास्त्र, 10.1.15
2. अर्थशास्त्र, 10.1.16
3. अर्थशास्त्र, 10.1.16
4. मुद्राराक्षस, पंचम अंक, अनुवाद-रमाशंकर त्रिपाठी, पृ. 252
5. पट्टिनप्पालै, 237, तोलकाप्पियम पोरुल, 41
6. मदुरैक्कांजी, 231, द्रष्टव्य सुब्रह्मण्यन, एन. संगम पालिटी पृ. 159

सोफा धारण किए हुए घूमा करते थे। जब घड़ियों के प्रेक्षक रात व दिन घंटा बजाकर इन शिविरों में समय बतलाया करते थे। दोपहर का समय सूचित करने के लिए सूर्य घड़े की कील प्रयुक्त होती थी।[1] तथा प्रत्येक दिन बड़े-सवेरे नगाड़े पर चोट पड़ा करती थी। संगमकालीन ग्रन्थों के अनुसार ऐसे बहुत कम अवसर होते थे जब एक ही दिन में युद्ध समाप्त हो जाए। दिन में युद्ध समाप्त हो जाने के पश्चात दोनों सेनाएं रात्रि में विश्राम करती थी। राजा रात में सैनिक शिविर का निरीक्षण कर सैनिकों को सहानुभूति प्रदान करता था। यह कार्य सैनिकों के घावों के लिए मलहम का कार्य करता था।[2]

शिविर के सम्बन्ध में कालिदास ने लिखा है कि प्रयाण काल में सेना खेमों [3] में निवास करती थी। खेमे के लिए कालिदास ने "उपकार्या" [4] शब्द का प्रयोग किया है जिसका अर्थ है वह खेमा जो अस्थाई निवास के लिए बनाया गया हो। खेमों की पंक्तियों को जिनमें सेना निवास करती थी, "सेना निवेश"[5] के नाम से जाना जाता था। रघुवंश में यह भी वर्णन कालिदास ने किया है कि एक मदमस्त हाथी ने शिविर को अस्तव्यस्त कर दिया था।[6] शिविर के सन्दर्भ में कामदक ने वर्णन किया है कि शत्रु के पुर के समीप छावनी डालनी चाहिए। कामन्दक के अनुसार छावनी चौकोर तथा चार द्वारों वाली हो। यह न तो अधिक विस्तृत हो और न अधिक संकरी। छावनी के चारो ओर चार दीवारें, महापारिखा तथा मध्य में महामंत्रियों और कोषागृह से संयुक्त राजमंदिर हो तथा राजमंदिर के समीप में ही घोड़ों तथा हाथियों का निवास होना चाहिए।[7] कामन्दक नीतिसार में शुभ व अशुभ

---

1. मदुरैक्कांजी, 230.32, नेडुनलवाड़े, 572-5
2. नेडुनलवाडै, 117-87; तोलकाप्पियम पोरुल, 63; उद्धृत सुब्रह्मण्यन, एन, संगम पालिटी, पृ. 159
3. रघुवंश, 5.63
4. रघुवंश, 11.93, 13.79
5. रघुवंश, 5.49
6. रघुवंश, 5.49
7. कामन्दक नीतिसार, 16.1-8

लक्षण वाला छावनी का वर्णन मिलता है।[1] बाण ने भी स्कन्धावार के सम्बन्ध में बताता है कि इसके स्कन्धावार में दस प्रकार के शिविर थे, जैसे-राजाओं के शिविर, हाथी, घोड़ों, ऊंटों के लिए स्थान, देशांतरों के इस मंडल आदि के अलग-अलग शिविर लगे हुए थे।[2]

इन वर्णनों के अनुसार अधिकांशतः नदियों के किनारे ही छावनियों का निर्माण किया जाता था, क्योंकि इस स्थान पर सुगमता से जल की प्राप्ति हो जाती थी, साथ ही नदी द्वारा आवागमन सुगम हो जाता था और सैनिक शिविर की खाई का जल से भरा जा सकता था। प्राचीन काल के अनेक युद्धों के समय नदियों के उपरोक्त प्रकार से उपयोग के अनेक उदाहरण मिले हैं। पाण्डवों ने हिरणावती नदी[3] सिकन्दर ने झेलम नदी[4], गौतमी पुत्र शातकर्णी ने वेणा नदी[5] आदि ने युद्ध के समय नदी के किनारे ही अपना सैनिक पड़ाव डाला था।

युद्ध-स्थल का चुनावः

रण क्षेत्र का चुनाव युद्ध प्रारम्भ होने के पहले आवश्यक होता था। क्योंकि उसी आधार पर राजा अपनी सैनिकों एवं रणनीति को अपनाता था। वही स्थल का चुनाव राजा करता जहाँ पर उसकी सेना को हर दृष्टि से लाभ हो। इस सम्बन्ध में कौटिल्य का विचार है कि रण-क्षेत्र, छावनी या शिविर से पांच सौ धनुष की दूरी पर होना चाहिए। भूमि के अनुसार छावनी से इसकी

---

1. कामन्दक नीतिसार, 16.23-33
2. अग्रवाल, वी.उस., हर्षचरितः एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ. 37-38
3. उद्योग पर्व, 60.20
4. सरकार, जदुनाथ, भारत का सैन्य इतिहास, अनुवाद-त्रिपाठी, पृ. 17
5. गौतमी पुत्र शातकर्णी का नासिक अभिलेख, पंक्ति 1, भाग 8, पृ. 71, सम अर्ली डाइनेस्टीज ऑफ साउथ इंडिया, पृ. 80-81 तथा रामायण, सातवाहन क्वायन्स पृ. 25-26

दूरी अधिक और कम भी की जा सकती है।[1] आचार्य कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में उत्तम, मध्यम और निम्न, तीन कोटि के क्षेत्रों का वर्णन किया है। कौटिल्य के अनुसार जिस प्रदेश में अपनी सेना के अभ्यास के लिए सुविधा तथा शत्रु-सेना के अभ्यास के लिए असुविधा हो वह उत्तम देश, जो इसके लिए सर्वथा विपरीत हो वह अधम देश और जो अपने तथा शत्रु के लिए एक समान सुविधा-असुविधा वाला हो वह मध्यम देश कहलाता है।[2] आचार्य शुक्र ने भी इसी मत को व्यक्त किया है।[3] अग्नि पुराण में इस सन्दर्भ में वर्णन मतलता है कि जंगलों तथा नदी युक्त प्रदेशों में युद्ध करना चाहिए। अग्निपुराण में पुनः यह वर्णन मिलता है कि खुले क्षेत्र में आक्रमण करना सदैव कठिन होता है।[4] इससे स्पष्ट होता है कि युद्ध-क्षेत्र में एक पक्ष अपने शत्रु से छिपकर तथा उस पर अचानक आक्रमण करने की योजना बनाता था और उसी के अनुरूप युद्ध-भूमि का चयन करता था। इस सन्दर्भ में धनुर्वेद में वर्णन मतलता है कि तर, कठोर, कंकड़युक्त, जलयुक्त तथा झाड़-झंखड़ों से युक्त भूमि को युद्ध के लिए नहीं चयन करना चाहिए।[5] ऐसा प्रतीत होता है कि यह विचार मूलतः पैदल सेना को दृष्टि में रखकर व्यक्त किया गया है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि प्राचीन भारत में युद्ध-भूमि का चयन रण-कौशललीय सिद्धान्तों के आधार पर किया जाता था।

व्यूह-रचना:

रण क्षेत्र का चुनाव करने के पश्चात् सेना के लिए विविध प्रकार की व्यूह-रचना का विधान प्राचीन भरतीय शास्त्रकारों ने किया है। भूमि की बनावट, शत्रु की सैनिक शक्ति, निजी सैनिक शक्ति तथा सुरक्षात्मक एवं आक्रमणात्मक योजना के आधार पर व्यूह-रचना की जाती

---

1. अर्थशास्त्र, 10.5.1
2. अर्थशास्त्र, 9.1.21
3. शुक्रनीति, 4.7.227-28
4. अग्नि पुराण, 236. 59,60
5. कुलश्रेष्ठ एवं शर्मा, भारतीय सैन्य-विज्ञान, 1981, पृ. 163

थी। आचार्य शुक्र, कौटिल्य तथा बृहस्पति के अनुसार व्यूह चार प्रकार के होते थे[1] दंड, भोग, मंडल एवं असंहत व्यूह।

आगे, पीछे तथा बीच में समान रूप से नियुक्त सेनाओं के व्यूह को दंड ब्यूह कहते हैं। दंड व्यूह के अनेक भेद हैं, जैसे- प्रदर, दृढक, असह्य, श्येन, चाप, चापकुक्षिन, प्रतिष्ठ, सुप्रतिष्ठ, विशाल विजय, स्थूल कर्ण, सूची, वलय तथा दुर्जय व्यूह आदि।

आगे, पीछे आदि स्थानों के द्वारा विषम संख्या में रचा हुआ व्यूह-भोग व्यूह कहलता है। यह दो प्रकार का होता है-सर्पहारी और गोमूत्रिका। जब उसका मध्य भाग दो भागों में बँटकर दंडाकार दोनों ओर स्थित हो जाता है, उस स्थित में उसको शकट व्यूह कहा जाता है। इसके विपरीतावस्था में वही व्यूह मकर व्यूह कहलता है। हाथी, घोड़े, और रथों से युक्त शकट व्यूह को पारिपतंतक व्यूह भी कहते हैं।

मंडल व्यूह उसे कहते हैं जिसमें व्यूह के आगे, पीछे और बीच के सभी भाग एक साथ मिल जाय। इसके भी दो भेद हैं- सर्वतोभद्र एवं दुर्जय व्यूह।

जो युद्ध आगे पीछे आदि की सेनाओं को तितर बितर करने के लिए किया जाय, उसे असंहत व्यूह कहते है। इसके दो प्रकार है बज्र-और गोधा। इसके अतिरिक्त उद्यानक, काकपदी, अर्द्धचंद्रिका तथा कर्कटक श्रृंगी व्यूह आदि इसके भेद बताये गए हैं।

इन व्यूहों के अतिरिक्त अर्थशास्त्र में तीन भेद और बताये जाते हैं अरिष्ट, अचल और प्रतिहत। जिस व्यूह के मध्य में रथ, अंत में घोड़े और आदि में हाथी हों, उसे अरिष्ट व्यूह कहते हैं। जिस व्यूह में पैदल, हाथी घोड़े और रथ एक दूसरे के पीछे हो, उसे अचल व्यूह कहते हैं। जिस व्यूह में हाथी, घोड़े, रथ और पैदल एक-दूसरे के पीछे हो, उसे अप्रतिहत व्यूह कहते हैं। उक्त व्यूहों में से प्रदर को दृढक से, दृढक को असह्य से, श्येन को चाप से, प्रतिष्ठ को सुप्रतिष्ठ से और पारिपतंतक को

---

1. अर्थशास्त्र, 10.6.3

सर्वतोभद्र से तोड़ा जाना चाहिए।[1] सैनिकों की संख्या के आधार पर भी अर्थशास्त्र में व्यूहों के नामकरण किए गए हैं जिस व्यूह में चारों प्रकार की सेना के सैनिक बराबर संख्या में प्रयुक्त हों, वह समव्यूह तथा जिस व्यूह में असमान संख्या में हों, वह विषम व्यूह कहलाता है। यदि व्यूह किसी एक ही प्रकार की सेना से निर्मित होता था, तो वह शुद्धव्यूह और यदि कई प्रकार की सेनाओं से निर्मित होता था तो वह मिश्रित व्यूह कहलाता था।[2]

विभिन्न प्रकार के व्यूहों के उल्लेख विभिन्न् ग्रन्थों में कई स्थानों पर हुआ है। उदाहरणार्थ, मंडल-व्यूह, सर्वतोभद्र-व्यूह, क्रौंचारुढ़-व्यूह, अद्धपूर्व-व्यूह और मंडलाग्र-व्यूह आदि।[3] चक्र-व्यूह, दंडव्यूह और सूचि-व्यूह का प्रयोग युद्ध में जैन ग्रन्थों के अनुसार किया जाता था।[4] उदाहरण के लिए राजा प्रद्योत और दुर्मुख के युद्ध में गरूड़ व्यूह और सागर-व्यूह रचे जाने का उल्लेख है।[5] इसी प्रकार शंकट व्यूह की रचना राजा कूणिक और राजा चेटक की तरफ से की गई थी।[6] छः प्रकार की व्यूह रचना का उल्लेख मनुस्मृति में मिलता है।[7] दंड, शंकट, वराह, मकर, सूची तथा गरूड़ व्यूह। इन तथ्यों से ऐसा लगता है कि सेना विभिन्न प्रकार के व्यूहों को युद्धभूमि में अपनाती थी।

युद्ध-भूमि में सेना:

प्रश्न यह उठता है कि सेना किस दिशा की ओर मुंह करके खड़ी होती थी। इस सन्दर्भ में अनेक वर्णन विभिन्न ग्रन्थों में मिलता है। महाभारत में भीष्म ने कहा है

---

1. अर्थशास्त्र, 10.6.39-41
2. अर्थशास्त्र, 10.5.14-17
3. अर्थशास्त्र, 10.155-57/5
4. जैन, जगदीश चन्द्र, आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ. 105
5. जैन, जगदीश चन्द, जैन आगम साहित्य में भारतीय समजाज पृ. 105
6. निरयावलियायों 1, पृ. 28, उद्धृत, जैन जगदीश चन्द पृ. 105
7. मनुस्मृति, 7.187

कि जिस ओर वायु, सूर्य और शुक्र हो उस ओर पृष्ठभाग रखकर युद्ध करने से विजय प्राप्त होती है। भिन्न-भिन्न दिशाओं में यदि ये तीनों हो तो इनमें पहली सर्वश्रेष्ठ है अर्थात वायु को पीछे रखकर सूर्य व शुक्र को सामने रख कर भी युद्ध करना संभव होता है।[1] अर्थशास्त्र में कौटिल्य ने उल्लेख किया है कि विजेता को चाहिए कि युद्ध काल में अमंगल सूचक दक्षिण दिशा की ओर सैनिकों का मुंह करके खड़ा हो। इस बात पर भी पूरा ध्यान रखना चाहिए कि सूर्य की किरणें पीछे-पीछे और वायु का रुख अनुकूल हो इस प्रकार व्यूह रचना करके सैनिकों को खड़ा करना चाहिए।[2] मनुस्मृति में यह उल्लेख मिलता है कि सेनापति तथा बलाध्यक्ष को सब दिशाओं में फैलाकर नियुक्त करना चाहिए तथा जिस दिशा की ओर से भय की आशंका हो उसी दिशा को पूर्ण दिशा मानकर युद्ध करना चाहिए।[3]

युद्ध- क्रिया :

संघर्ष की स्थिति आने पर भी आवश्कयतानुसार व्यूह आदि की रचना में संकेतों के माध्यम से परिवर्तन किया जाता था। विभिन्न प्रकार के संकेत सेनाध्यक्षा विभिन्न प्रकार की क्रियाओं के लिए निर्धारित करता था। युद्धभूमि में नायक अपने पक्ष के सैनिकों को संकेत शंख ध्वनि करके देते थे।[4] अर्थशास्त्र में कौटिल्य ने वर्णन किया है कि सर्वोच्च सत्ताधारी नायक को चाहिए कि वहां विशेष वाद्य शब्दों द्वारा अथवा पाताका-ध्वजाओं द्वारा व्यूह में खड़ी सेना के लिए सांकेतिक चिन्हें की व्यवस्था करें। रणक्षेत्र में खड़ी सेना को बिखरने के लिए, बिखरी हुई सेना को एकत्त करने के लिए चलती हुई सेना को रोकने के लिए और रुकी हुई सेना को चलाने के लिए तथा आक्रमण करती हुई सेना का लौट आने के लिए

---

1. शांतिपर्व, 100. 19-20
2. अर्थशास्त्र, 10.3.48.49
3. मनुस्मृति, 7.18
4. दीक्षितार, बी. आर. आर., वार इन ऐंश्येंट इंडिया, पृ. 246

उचित अवसर पर उक्त संकेतों का प्रयोग किया जाता था।[1] ससानीय योद्धा को तुरही बजाकर युद्ध का संकेत देते थे।[2] युद्ध क्षेत्र में संकेत के रूप में ढोल या शंख का प्रयोग संगम युग में किया जाता था प्रत्येक राजा और सेनापति का अपने चिन्ह के रूप में एक युद्ध ढोल होता था।[3] आचार्य शुक्र के अनुसार सेना का फैला जाना, चारो ओर घुम जाना, सिकुड़ जाना तथा धीरे धीरे गमन करना, जल्दी जल्दी चलना, पीछे हट जाना, खड़े हो जाना आदि कार्यों के लिए अनेक प्रकार के संकेतो का प्रयोग करना चाहिए।[4]

प्रश्न यह उठता है कि विभिन्न दल युद्ध में किस प्रकार खड़े होते थे। इस सन्दर्भ में महाभारत में उल्लेख मिलता है कि राजा को चाहिए कि गजारोहियों के बीच में रथियों को, रथियों के पीछे घुड़सवारों की सेना रखे और उनकी बीच में अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित पैदलों की सेना खड़ी करे।[5] इसी संबंध में एरियन यह वर्णन करता है कि पोरस ने अपनी सेना के सबसे आगे हस्ति सेना को रखा था, जो किले की दीवार की बुर्जियों की तरह डटे थे, हाथियों के दोनो पार्श्वों में पैदलों की पंक्ति, पदाति सेना को दोनो किनारो में घुड़सवार जो पार्श्वों की सुरक्षा के लिए नियुक्त रहते थे और अश्वारोही सेना के सामने रथों की पंक्ति को नियुक्त किया था और स्वयं पोरस ने अपने विशाल शरीर बालेराजकुंजर की पीठ पर आरूढ़ होकर सेना के बीचो-बीच स्थान ग्रहण किया था।[6]

---

1. अर्थ शास्त्र 10.6.46 ।
2. हुमार्ट, सी., ऐंश्येंट पर्सिया, पृ. 51, द्रष्टव्य अग्रवाल वी. एस. हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्याय, पृ. 150
3. शास्त्री, के. ए. नीलकंठ, दक्षिण भारत का इतिहास पृ. 112
4. शुक्रनीति, परस 27-21
5. शांति पर्व 99/9-10
6. मुकर्जी, राधाकुमुद, हिन्दू समता, पृ. 280

अर्थ शास्त्र में कौटिल्य ने वर्णन किया है कि पैदल सेना के प्रत्येक सिपाही को एक एक शम, अश्वारोहियो को तीन तीन शम और रथारोहियों तथा गजारोहियों को पांच पांच शम के अंतर पर खड़ा करना चाहिए अथवा भूमि की सुविधानुसार ही उनकी दूरी कम या अधिक की जायें। पांच हाथ के फासले पर धनुर्धारी योद्धाओ को खड़ा किया जाये। अश्वारोहियों को तीन धनुष के फासले पर तथा गजारोहियों एवं रथारोहियों को पांच धनुष के फासले पर खड़ा किया जाये । पांच पांच धनुषों के फासले पर पक्ष, कक्ष और उरस्य पांचों सेनाओ को खड़ा किया जाय।[1] तीन प्रतियोद्धाओ को घुड़सवार सैनिको के आगे आगे सहायतार्थ नियुक्त किया जाये। इसी प्रकार हस्त्यारोहियों और रथारोहियों सैनिको के आगे 15-15 प्रति योद्धाओ अथवा पांच पांच घुड़सवार सैनिको को खड़ा किया जाये। अर्थशास्त्र में यह वर्णन हुआ है कि राजा को चाहिए कि युद्ध प्रारम्भ हो जाने के बाद वह युद्ध भूमि से 200 धनुष की दूरी पर ठहरे।[2] विभिन्न प्रदेशों के अनुसार सैनिको को व्यूह के अग्रभाग में रखकर युद्ध करने का उल्लेख मिलता है। उदाहरणार्थ, कुरुक्षेत्र मत्स्य, पांचाल और शूर सेन देश में उत्पन्न लम्बे कद वाले योद्धाओ को तथा अन्य देशो में उत्पन्न लम्बे या छोटे कद वाले युद्ध भूमि युद्ध अभिमानी योद्धाओ को युद्ध के आगे आगे वाले मोर्चे पर नियुक्त करना चाहिए।[3]. कामन्दक ने नीतिसार में उल्लेख किया है कि पैदल सैनिको के मध्य में एक पुरुष, घोड़ो के बीच में तीन पुरुष और हाथी तथा रथों के बीच में पांच पाचं पुरुष का अन्तर होना चाहिए।[4] इसके अतिरिक्त पैदल, हाथी, घोड़े एवं रथ इस प्रकार से खड़े हो कि उनके लौटने और इधर उधर फिरने में कोई बाधा न पहुचे अर्थात वे परस्पर भिड़ न सके।[5]

आचार्य शुक्र, बृहस्पति, कौटिल्य एवं कामन्दक की

---

1. अर्थ शास्त्र 10.5.3-7 ।
2. अर्थशास्त्र 10,5,9,10,11 ।
3. मनुस्मृति 7/193
4. कामन्दक नीतिसार, 19/23-24
5. कामन्दक नीतिसार, 19/25

यह मान्यता पूर्व मध्यकाल तथा उत्तर मध्यकाल में भी वर्तमान रही क्योंकि अपेक्षाकृत बाद के ग्रन्थों में जैसे कि शुक्रनीति तथा अग्नि पुराण आदि मे भी लगभग यही व्यवस्था देखने को मिलती है। शुक्रनीति के अनुसार पैदल सेना को पीछे तथा हाथियों की सेना को दोनो किनारों पर रखकर शत्रु के साथ राजा को युद्ध करना चाहिए ही। आचार्य शुक्र ने युद्ध क्रिया को सन्दर्भ में लिखा है कि युद्ध के अनुकूल जहाँ पर जैसी भूमि हो वहाँ पर उसके अनुसार कभी सामने से और कभी अगल बगल से आक्रमण करके या कभी हट करके सर्वप्रथम सेना के आधे भाग के साथ सेनापतियों को सेनापतियों केसाथ सेना के अर्द्धांश को लेकर युद्ध करना चाहिए। तत्पश्चात मंत्रियों के अधीन रहने वाली सेनाओ के मंत्रियों के साथ युद्ध होना, इसके बाद राजा के अधीन रहने वाली सेना के साथ युद्ध होना और अंततः प्राण संकट होने पर स्वयं राजा का युद्ध में प्रवृत्त होना उचित कहा गया है।[1] राजा को सबसे अंत में युद्ध करने का आदेश संभवतः इसलिए दिया गया था कि भारत में यह प्रथा रही है कि युद्ध भूमि में राजा की मृत्यू हो जाने के उपरांत सेना का या तो शास्त्र त्याग कर देती थी या रंण भूमि छोड़कर भाग खड़ी होती थी। अतः सेना के मनोबल को बनाये रखने के लिए राजा को अंतिम समय तक जीवित रहना आवश्यक था। यही कारण है कि प्राचीन भारतीय युद्धों में विपक्षी राजा को मार देना या उसे मैदान भगा देना शत्रु का मुख्य उददेश्य रहता था ।

युद्ध क्रिया के संबंध में अग्नि पुराण में भी उल्लेख मिलता है कि तलवारधारी सैनिको को सबसे अग्रिम भाग मे रहना चाहिए। उनके पीछे धनुर्धारी और उसके पीछे क्रमशः अश्वरथ तथा अंत में गज सैनिको को नियुक्त करना चाहिए। ध्वजग्राही सबसे आगे रहे । योग्य सेना नायाक को शत्रु के पृष्ठ भाग पर आक्रमण करना चाहिए। इसके अनुसार युद्धभूमि में सेना के विभिन्न दल इस प्रकार खड़े होते थे कि वे अपने शास्त्रास्त्रों का पूर्व स्वतंतता के साथ उपयोग कर सके ।[2]

---

1. शुकनीति, 4/7/343-46
2. अग्नि पुराण, 236/28-37

युद्ध में मनोवैज्ञानिक प्रभाव डालने के लिए झूठा प्रचार किया जाता था । इस सन्दर्भ में कौटिल्य ने लिखा है, " तेरे दुर्ग को आग लगा दी गई है, तेरे दुर्ग को जीत लिया गया है, तेरे कुल का ही व्यक्ति तेरे विरूद्ध उठ खड़ा हुआ है, तेरा सामंत युद्ध के लिए तैयार हो गया है, तेरा अटविक तेरे विरूद्ध उठ आया है आदि अफवाहों को फैलाकर विजेता शत्रु सेना में मनोवैज्ञानिक प्रभाव उत्पन्न कर देता है।[1] झूठे प्रचार का उल्लेख महाभारत में भी हुआ है।[2] मनोवैज्ञानिक दबाव बनाये रखने के लिए राजा को अपनी झूठी विजय की घोषणा कर देनी चाहिए और हल्ला मचाकर शत्रु सेना में विभ्रम पैदा कर देना चाहिए ।[3]

सेना को उत्साहित करने का उपाय :

विजय प्राप्त करने के लिए सैनिको में उत्साह शक्ति का होना नितान्त आवश्यक होता था। उत्साह शक्ति से रहित सेना व्यर्थ समझी जाती थी इसलिए युद्ध भूमि में समय समय पर सैनिको को उत्साहित करने का विधान प्राचीन ग्रन्थों में किया गया है। अर्थशास्त्र में कौटिलय ने लिखा है कि विजेता को चाहिए कि वह अपनी संगठित सेना से कहे कि, मैं भी आपके समान वेतन भोगी नौकर हूं। आप लोगों के साथ ही मैं इस राज्य का उपयोग कर सकता हू। इसलिए मैं जिसको शत्रु बतलाऊ वह आप लोगो के हाथ अवश्य मारा जाये। "युद्ध के लिए तैयार धन सत्कार से सवर्द्धित सेना को ललकार कर सेनापति को इस प्रकार कहना चाहिए कि "आप लोगों में से जो भी सैनिक शत्रु राजा को मार डालेगा उसे एक लाख स्वर्ण मुद्राएं पुरस्कार में दी जाएंगी। इसी प्रकार जो सैनिक शत्रु के सेनापति या राजकुमार को मार डालेगा, उसे पचास हजार स्वर्ण मुद्राएं इनाम में दी जाएगी। शत्रु के वीर सैनिको में से मुख्य सैनिको को मारने वाले को पांच हजार , घुड़सवार सैनिक को मारने वाले को एक हजार, पैदल सेना के मुख्य सैनिक को नष्ट करने वाले को एक सौ

---

1. अर्थशास्त्र, 10.6.50,51 ।
2. शांतिपर्व, 100/43-49
3. अग्नि पुराण, 236/59-66

और साधारण सिपाही का सिर काट कर लाने वाले को बीस मुद्राएं पुरस्कार में दी जाएंगी।[1] वीरतापूर्वक युद्ध करवाने के लिए सैनिकों से इन प्रलोभनों के साथ साथ उन्हें कुछ धार्मिक भय भी दिखाये जाते थे जिससे वे कर्तव्यच्युत न हो उदाहरण के लिए यह अंकित थी कि युद्ध विमुख सैनिकों को देवता कठोर दंड देते हैं।[2] और ऐसे सैनिक नरक गामी होते हैं।[3]

मनुस्मृति[4] के यह वर्णन मिलता है कि युद्ध में डरकर विमुख जो योद्धा शत्रुओं से मारा जाता है, वह स्वामी का जो कुछ पाप है, उसे प्राप्त करता है, जो योद्धा युद्ध से डरकर भागता था वह योद्धा अपने द्वारा अर्जित पुण्य का उपभोग परलोक में नहीं कर पाता था बल्कि उसका उपभोग उसका स्वामी करता था क्योंकि वह उसे वेतन देता था।[5] याज्ञवल्क्यस्मृति में इससे मिलता जुलता वर्णन मिलता है। याज्ञवल्क्य के अनुसार जो अपने देश की रक्षा के लिए बिना पीठ दिखाये युद्ध भूमि में मर जाता है वह स्वर्ग प्राप्त करता है और जो लोग युद्ध क्षेत्र से भाग जाते हैं और अंत में मार डाले जाते हैं उनके सभी अच्छे सुकृत राजा को प्राप्त हो जाते हैं।[6] संगमकालीन दक्षिण भारतीय ग्रन्थों में भी इस आशय के प्रसंग मिलते हैं कि युद्ध भूमि मे मृत्यु प्राप्त करने वाला योद्धा स्वर्ग को प्राप्त करता है।[7] आचार्य शुक्र के मत में भी युद्ध से भागने वाला व्यक्ति जीवित होते हुए भी मृतक तुल्य रहता है तथा मरने पर नरक प्राप्त करता है।[8] इस प्रकार राजा एवं संभवतः उसके पुरोहित सैनिकों में धर्म का भय दिखाकर शत्रु से लड़ने की प्रेरणा देते थे और उसका उत्साह वर्धन करते थे।

---

1. अर्थ शास्त्र, 10.3.27 व 45
2. शांति पर्व , 97/21-22
3. शांति पर्व , 98/40-41
4. मनुस्मृति, 7/93
5. मनुस्मृति, 7/94
6. याज्ञवल्क्य स्मृति 1/324
7. पुरनानुस, 287
8. शुक्रनीति, 4/71/301-02

युद्ध भूमि में शत्रु पक्ष के साहस को नष्ट करने और निजी सेना में उत्साह भरने के लिए वाद्ययंत्रों का प्रयोग किया जाता था। उदाहरणार्थ, वैदिक युग की मान्यता थी कि मंत्रों के घनघोर शब्द घोष से शत्रु का साहस नष्ट हो जाता है। दुंदुभि के सर्वाधिक प्रयोग का उल्लेख वैदिक काल तथा महाकाव्य काल में मिलता है। दुंदुभि के विषय में एक सुन्दर मंत्र का ऋग्वेद में उल्लेख हुआ है।[1] भेरी, मृदंग, पणव, पुष्कर, नगाड़ा, ढोल, झांझ, दुंदभि आदि युद्ध-वाद्ययंत्रों का प्रयोग महाकाव्य काल में होता था।[2] जैन ग्रन्थों में उललेख मिलता है कि राजा कूषिक की सेना में शंख, परह, भेरी, खरमुखी, दुंदभि, मुख, मृदंग, दुंदकी आदि वाद्ययंत्रों का प्रयोग किया गया था।[3] विदेशी लेखक कर्टियस न लिखा है कि पोरस की सेना में अधिक संख्या में नगाड़ावादक थे, जिन्हे पैदल धनुर्धारियों के साथ तथा हस्ति सेना के पीछे नियुक्त किया गया है।[4] मौर्य काल में भेरी का प्रयोग होता था, उसने भेरी घोष के स्थान पर धाम घोष का आदेश दिया था।[5] शंख, भेरी, नगाड़ा आदि वाद्ययंत्रों का प्रयोग मनुस्मृति के अनुसार युद्ध भूमि में होता था।[6]

युद्ध-संगीत :

मड्डुक, झर्झर तथा दर्दुर आदि वाद्ययंत्रों का पाणिनी ने[7] अष्टाधायी में तथा पतंजलि ने महाभाजय[8] के मृदंग, मड्डुक पणव, दर्दुर, मूरज और तूणवं आदि वाद्ययंत्रों का उल्लेख किया है। भेरी और दुंदुभि भी

---

1. ऋग्वेद 6/47/29-30
2. द्रोण पर्व, 39/31
3. उववाई सूत्र, समवसरणाधिकार, 124, उदधृत (जैन जगदीश चन्द) पृष्ठ 32
4. मैक्रिंडिल, इंडिया ऐन्ड इटस इनवेजन बाई अलेक्जेन्डर, पृष्ठ 208
5. हुल्श, कार्पस इन्सक्रिप्शनम इंडिकेरम, जिल्द 1
6. मनुस्मृति, 7/190
7. अग्रवाल, वी. एस. पाणिनिकालीन भारत पृष्ठ 170-71
8. महाभाष्य, 2/2/34 पृष्ठ 389

प्रचलित थी।[1] कुछ का संबंध इनमें से संभवतः युद्ध में प्रयुक्त होने वाली वाद्ययंत्रों से भी है। संगम काल में नगाड़े को उषाकाल में बजाकर युद्ध की घोषणा की जाती थी और इसे काल मुरसु कहा जाता था।[2] तूर्य, दुंदुभि, घंटा, शंख, और नगाड़ास आदि वाद्ययंत्रों का उल्लेख कालिदास ने किया है युद्ध के प्रारम्भ तथा अवसान की सूचना देने के लिए शंख फूका जाता था किंतु अवसन में केवल विजेता के ही शंख फूके जाते थे।[3] तुरही दुंदुभि और नगाड़े का उल्लेख कामन्दकनीतिसार में हुआ है।[4] पटह नांदिक ,गुंजा, काहल, और शंख –इन पांच प्रकार के युद्ध वाद्यों का उल्लेख बाण ने हर्षचरित में किया है, जिन्हें सैनिक सैन्य–अभियान के समय बजाते थे।[5] ह्वेनसांग ने लिखा है कि सम्राट हर्ष सैन्य प्रमाण के समय सौ नगाड़ा वादकों से युक्त रहता था। इन नगाड़ों पर प्रत्येक कदम पर एक एक चोट मारी जाती थी।[6]

सचल सैनिक चिकित्सालय :

ऐसे चिकित्सक प्राचीन काल की सेनाओं में विद्यमान रहते थे जो युद्ध भूमि में घायल सैनिकों की आकस्मिक चिकित्सक करते थे। महाकाव्यों में इन चिकित्सकों का उल्लेख हुआ है।[7] चिकित्सक वर्ग भी मौर्य काल में सेना का मुख्य भाग माना जाता था। योग्य चिकित्सक विभिन्न प्रकार की औषधि तथा आवश्यक सामग्री सहित सेना के साथ रहते थे। कौटिल्य ने सैनिकों के स्वास्थ्य–संरक्षण के लिए चिकित्सक, काटने के औजार, चिमटी, दवाई, मरहम पट्टी, सहचिकित्सक आदि को युद्ध

---

1. महाभाष्य ,2/2/34 पृष्ठ 389
2. मदुरैक्कांडी, 232, द्रष्टव्य– सुब्रहमण्यन, एन. संगम पालिटी, पृष्ठ 76
3. रघुवंश, 7/38, 63, 9/11, 10/76, कुमार संभव, 14/17
4. कामन्दक नीतिसार 16/24,29
5. अग्रवाल, वी.एस.,हर्षचरितः एक सांस्कृतिक अध्ययन पृष्ठ 140
6. बील, एस., लाइफ आफ ह्वेनसांग, पृष्ठ 173
7. उद्योग पर्व, 151/58, युद्ध कांड, 50/28

के लिए प्रस्थान करते समय सेना के पिछले हिस्से में रखने का निर्देश दिया है।[1] सेना के चिकित्सकों को 200 पण प्रति वर्ष वेतन देने का विधान कौटिल्य ने अर्थ शास्त्र में बताया है।[2]

दुर्ग पर घेरा और युद्ध:

दुर्ग पर आक्रमण करने वाली सेना शत्रु के दुर्ग के भीतर प्रवेश करने का यत्न करती थी। दुर्ग की दीवार को ऐसे उपयुक्त स्थान से तोड़ने का प्रयास किया जाता था कि जहां दुर्ग के अन्दर की सेना अत्यल्प संख्या में नियुक्त हो। गुप्तचरों की सहायता ली जाती थी। इस बात की जानकारी प्राप्तकरने में यदि दुर्ग की परिखा पानी से भरी रहती थी तो उसमें मिट्टी के बोरे डालकर अथवा लकड़ी और पत्थर के टुकड़े डालकर दीवाल तक पहुचने का मार्ग बनाया जाता था[3] हाथियों का प्रयोग दुर्ग की दीवारों तथा द्वारों को तोड़ने के लिए कभी कभी हाथियों का प्रयोग किया जाता था । महावंश में कुंडल नामक हाथी द्वारा दुर्ग -द्वार तोड़ने जाने का उल्लेख हुआ है।[4] दुर्ग तोड़ते समय दीवारों के ऊपर से शस्त्र-प्रहार करने वाले सैनिकों को रोकने के लिए बाहर से उन पर भारी शस्त्र प्रहार किया जाता था। यदि दीवार तोड़ने वाला कार्य सफल नहीं होता था तो सुरंग बनाकर दीवारों को तोड़ने का प्रबंध किया जाता था । अर्थशास्त्र के अनुसार बाज, कौआ, नप्ता, गिद्ध, तोता, मैना आदि पक्षियों को पकड़कर इनकी पूछ में आग लगाने वाली औषधि को मलकर शत्रु के दुर्ग में छोड़ दिया जाय जिससे कि वहां आग लग जाये। गुप्तचर को चाहिए कि किले के अन्दर नेवला, बन्दर और कुत्ते की पूछ में आग लगा देने वाली औषधियों को लगाकर उन्हें शत्रु के उन घरों मे छोड़ दे जहां पर दुर्ग रक्षा से संबंधी सामग्री रखी है।[5] शत्रु के पुश्तों या मिट्टी के प्रकारों को

---

1. अर्थ शास्त्र, 10.3.47
2. अर्थ शास्त्र, 5/91/3
3. अर्थ शास्त्र 13.4.9-13
4. महा वंश, 25/26-38
5. अर्थ शास्त्र, 13.4.14

नष्ट करने तथा अग्नि से दुर्गों के हरण करने का उल्लेख ऋग्वेद में भी है।[1]

अर्थशास्त्र के[2] अनुसार कभी कभी शत्रु को धोखा भी दिया जाता था। पहले उससे समझौता कर लिया जाता था और तदुपरान्त अवसर पाकर उसे परास्त कर दिया जाता था । यह भी उल्लेख है कि कभी कभी जंगल या किसी गुप्त स्थान में अपनी सेना का पड़ाव डाल दिया जाता था और जब शत्रु को यह विश्वास हो जाता था । कि अब आक्रमण सेना का भय दूर हो गया है तथा उसके दुर्ग के द्वार खोल दिए जाते थे, इस अवसर का लाभ उठाकर अपने सैनिको को गुप्त रूप से व्यापारी, साधु जादूगरों आदि के वेश में गुप्त रूप से अन्दर भेज दिया जाता था । इस प्रकार दुर्ग के भीतर विद्यमान छद्म वेश धारी सैनिक अन्दर से शत्रु के दुर्ग द्वार तोड़ने या दीवारो को भेदने मे सहायता करते थे।[3] कौटिल्य ने अर्थशास्त्र मे यह निर्देश दिया है कि दुर्ग पर ऐसे समय में आक्रमण करना चाहिए जब शत्रु का देश बीमारी, दुर्भिक्ष से ग्रसित हो, धन धान्य तथा रक्षक पुरुषों से अभाव ग्रस्त हो, मित्र सेना उससे खिन्न हो और उसके अन्य शत्रु भी उसके अत्यन्त प्रतिकूल हो।[4]

नीति तथा शौर्य दोनों को ही प्राचीन भारतीय युद्ध कला में महत्वपूर्ण माना गया है। युद्ध विषयक तथा युद्ध के सिद्धान्तों का प्रतिपादन् करते हुए आचार्यों ने युद्ध को दो भागों में विभाजित किया है: धर्म युद्ध व कूट युद्ध।

धर्म युद्ध से तात्पर्य है नैतिक उपायों से तथा शत्रु से उदार भाव से युद्ध करने से है । जब कि कूट युद्ध में एकमात्र उद्देश्य विजय प्राप्त करना होता हैश, चाहे उसको प्राप्त करने के लिए निंदित और अनुचित उपायों की सहायता क्यों न लेनी पड़ी । दूसरे शब्दों में कूट-युद्ध में छल, माया या वंचना। आदि अनुचित और अनैतिक तरीके

---

1. ऋग्वेद, 6/47/2, 7/5/3
2. अर्थशास्त्र, 13.4.21
3. कुलश्रेष्ठ एवं शर्मा, भारतीय सैन्य विज्ञान, पृष्ठ 170
4. अर्थ शास्त्र, 13.4.24

स्वीकृत थे, जबकी धर्म युद्ध में उनके लिए कोई स्थान नहीं था। युद्ध का विभाजन संभवतः युद्ध में प्रयुक्त उपकरण युद्ध के तरीके और उद्देश्य इत्यादि पर आधारित था। युद्ध में प्रयुक्त उपकरणों के आधार पर शुक्र ने युद्ध को दैवी, मानुष व आसुर- इन तीन उपकरणों में विभक्त किया है।[1] जब कि कौटिल्य ने युद्ध के तरीको के आधार पर कूट, सूची और प्रकाश युद्ध-इन तीन प्रकारों में विभाजन किया है।[2] किलों को जलाना व लूटमार करना, थोड़ी सी सेना में भय उत्पन्न करना, एक स्थान का युद्ध छोड़कर दूसरी ओर से धावा बोल देना और प्रमाद तथा व्यसन के समय पीड़ित करना कूट-युद्ध कहलाता है। औषधि और विष आदि तथा गुप्चरों के धोखा-बहकावा आदि के प्रयोग से शत्रु का विनाश करना तूष्णी युद्ध कहलाता है। किसी समय या देश को निश्चित करके जो युद्ध की घोषणा कीजाती है उसे प्रकाश युद्ध कहते है । युद्धो के दो भेद कामन्दक नीतिसार में मिलते है- प्रकाश युद्ध और कूट युद्ध।[3]

प्राचीन आचार्यो के अनुसार महाकाव्य काल से पूर्व युद्ध विषयक नियमों का अभाव था । जिस समय कुरूक्षेत्र में सोमको सहित पांडवों तथा कौरवों की सेना युद्धभूमि में आयी, उस समय कौरव, पांडव तथा सोमको ने परस्पर मिलकर युद्ध के संबंध में कुछ नियमों का निर्माण किया तथा युद्ध-धर्म की मार्यादा स्थापित की।[4] इन नियमों में समय -समय पर परिवर्तन-परिवर्धन, महाकाव्य काल के बाद, होता रहा।

नय शब्दों का प्रयोग प्राचीन ग्रन्थों में नीति के लिए प्रयोग किया गया है। जिनकी संख्या चार बताई गई है- साम अर्थात समझौता की अथवा संधि की नीति, दान अर्थात कुछ देकर किसी राज्य को प्रसन्न करने की नीति भेद अर्थात किसी राज्य अथवा विभिन्न राज्यों में फूट पैदा करने की नीति और दंड अर्थात युद्ध की नीति। इन ग्रन्थों

---

1. शुक्र नीति 4.7.221
2. अर्थशास्त्र (कांगले द्वारा सपा), भाग 1,7.6.17
3. कामंदक नीतिसार 18.54 ।
4. भीष्म पर्व 1.26-29

में यह भी वर्णन मिलता है कि किस राजा के साथ् किस नीति का प्रयोग करना चाहिए। महाभारत में अपने समान शक्ति वाले राजा के साथ साम और भेद की नीति, अपने से बल के साथ दान की नीति, अपने से निर्बल राजा के साथ दंड नीति अपनाने का उल्लेख है।[1] कमजोर राज्यों को वश् में करने के लिए साम और दंड की नीति का और प्रबल शत्रु के साथ भेद के प्रयोग को कौटिल्य ने उचित माना है।[2] इन नीतियों को जानने वाला राजा पृथ्वी को जीतने की क्षमता अर्थशास्त्र के अनुसार रखता है।[3] प्रबल शत्रु तथा शत्रु द्वारा त्रस्त राजा के साथ साम और दान का तथा अपने से बड़े राजा के साथ भेद और साम का, अपने बराबर वाले राजा के साथ भेद और दंड की नीति का तथा अपने से कमजोर शत्रु के साथ दंड नीतिक प्रयोग आचार्य शुक्र के अनुसार करना चाहिए ।[4]

इन ग्रन्थों के अध्ययन करने पश्चात निष्कर्ष यह निकलता है कि इन नीतियों में सर्वप्रथम साम नीति का ही प्रयोग युद्ध प्रारम्भ होने के पहले किया जाता था। महाभारत के अनुसार विशाल चतुरंगिनी सेना एकत्र कर लेने के बाद भी पहले साम नीति के द्वारा शत्रु से संधि करने के प्रयास करना चाहिए । यदि वह इस कार्य में सफल न हो तो युद्ध के लिए प्रयत्न करें।[5] युद्ध प्रारम्भ करने के पहले यथा संभव साम, दान, आदि नीतियाँ काम में लायी जाती थी। इनके सफलता न मिलने पर ही जैन साहित्य के अनुसार युद्ध प्रारंभ होता था।[6] साम आदि तीन उपायों से शत्रु पर विजय प्राप्त करने का वर्णन मनुस्मृति में भी हुआ है-साम, दान व भेद। इन तीनों उपायों से अथवा इनमें से किसी एक या दो उपायों से शत्रुओं को जीतने

---

1. आदि पर्व 140.23.24
2. अर्थ शास्त्र 7.16.3.
3. दीक्षितार, बी.आर. आर., वार इन ऐंश्येंट इंडिया, पृ. 30
4. शुक्रनीति 4.1.38
5. महाभारत, शांति पर्व 102.26
6. जैन, जे. सी., "जैन आगम साहित्यमें भारतीय समाज" पृष्ठ 104

का प्रयास करना चाहिए प्रारम्भ् में ही कभी युद्ध से शत्रु को जीतने की चेष्टा नहीं करनी चाहिए क्योंकि युद्ध में युद्धरत पक्षों की विजय तथा पराजय सुनिश्चित रहती है, इस कारण युद्ध का त्याग करना चाहिए। मनुस्मृति में राजा को यह निर्देश दिया गया है कि साम, दान, व भेद उपायों के साधक न होने पर ही सैन्य शक्ति से संयुक्त होकर वैसा युद्ध करे, जिससे शत्रुओं को जीत ले।[1] ऐसा ही वर्णन याज्ञवल्क्यस्मृति[2] कामंदकनीति[3] सार एवं शुक्रनीति[4] आदि ग्रन्थों में भी आया है। इन वर्णनों से यह साफ जाहिर होता है कि प्राचीन भारतीय विद्वानों ने सामान्यतया शस्त्र बल की अपेक्षा बुद्धिबल के प्रयोग का उचित माना है। आखिरी नीति दंड का तभी प्रयोग किया जाता था, जब कि साम, दान, व भेद उपायों से कार्य सिद्धि संभव प्रतीत नहीं होती थी। मनुष्य अपने सभी प्रयासों का प्रयोग करने पश्चात ही युद्ध का सहारा लेता था।

यदि कोई राजा किसी अन्य राजा को अपने अधीन करना चाहता था तो वह पहले अपना दूत उस राजा के पास भेजकर सूचित कर देता था। कि या तो वह अधीनता स्वीकार करे या युद्ध के लिए तैयार रहे। युद्ध के पहले समझौता करने के लिए जैन साहित्य के अनुसार दूत भेजे जाते थे। उसके बावजूद यदि शत्रु समझौता नहीं करता था तो राजदूत राजा के पादपीठ पर अपने बायें पैर से अतिक्रमण कर, भाले की नोंक पर पत्र रखकर उसे समर्पित करता था और इसके बाद युद्ध प्रारम्भ किया जाता था। मगध नरेश बिम्बसर के पुत्र कुणिक अजात शत्रु ने वैशाली के राजा चेटक के पास पहले अपने दूत का इस सन्देश के साथ भैजा था कि वह राजकुमारों को छोड दे अन्यथा युद्ध के लिए तैयार रहे।[5] युद्ध प्रारम्भ

---

1. मनुस्मृति 7.198.200
2. याज्ञवल्क्य स्मृति 1.346
3. कामन्दकनीतिसार 18.1
4. शुक्र नीति 4.1.37
5. मुखर्जी, टी. बी., इंटरस्टैट रिलेशंस इन ऐंश्येंट इंडिया, पृष्ठ 15

करने से पहले जातको के अनुसार दूत भेजे जाते थे उदाहरण के लिए ब्रह्मदत्त के पुत्र बोधिसत्व ने युद्ध प्रारम्भ करने से पहले कोशल के राजा के पास संदेशवाहक भेजा था कि या तो राज्य दे दो या युद्ध के लिए तैयार रहो।[1] ऐसी ही स्थिति होने पर कोशल के राजा ने काशी के राजा के विरुद्ध प्रमाण किया था और नगर के बाहय द्वार पर पहुचकर वह सूचना भिजवा दी थी कि या तो राज्य दे दो या युद्ध करो।[2]

सिकन्दर द्वारा भारत पर आक्रमण करने के पूर्व उसने पोरस के पास दूत के माध्यम से समाचार भेजा था कि वह उपहार भेंटकर अपनी सीमा में मेसीडोनी सेना की प्रतीक्षा करे। जब कि पोरस ने उपहार वाली मांग को छोड़कर अन्य मांग स्वीकार करते हुए यह सन्देश भिजवाया कि पोरस सिकन्दर को राज्य में प्रवेश करते समय मिलेगा। अतः सिकन्दर को युद्ध के लिए तैयार होकर आना चाहिए।[3] ऐसा ही अपना संदेश कुषाण वंशीय राजा कनिष्क ने चीनी सम्राट के पास भिजवाया था, जिसका वर्णन चीनी ग्रन्थो में हुआ है।[4] राजा को चाहिए कि पहले वह संधि के निमित्त दूत भेजे और यदि वह सधि के निमित्त तैयार न हो तो कामन्दक नीतिसार के अनुसार युद्ध करे ।[5]

प्राचीन ग्रन्थों में युद्ध-काल में भी युद्ध न करने वालों के कार्यों में हस्तक्षेप करना वर्जित माना गया है। प्राचीन ग्रन्थों के अनुसार कलाकार, विभिन्न धर्मानुयायी, घायलों की देखभाल करने वाले, अस्वस्थ, कृषक आदि युद्ध के प्रभाव से बचे रहते थे। महाभारत में इस प्रकार के वर्जित व्यक्तियों की सूची मिलती है।[6] महाभारत में यह

---

1. असातरूप जातक 1.10.100
2. महा शिलव जातक 1.6.5
3. सरकार, जदुनाथ, मिलिटरी हिष्ट्री ऑफ इंडिया पृ. 15
4. चट्टोपाध्याय, भास्कर, कुषाण स्टेट ऐंड इन्डियन सोसायटी पृ. 136
5. कामन्द नीतिसार, 15.54
6. महाभारत, शांतिपर्व, 100.27-29

वर्णन मिलता है कि जिसने हथियार नीचे डाल दिया हो, जो गिरा पड़ा हो, जो कवच और ध्वज से शून्य हो गया हो, जो भयभीत होकर भागता हो अथवा मैं तुम्हारा हूँ ऐसा कह रहा हो, जो स्त्री हो तथा स्त्रियों जैसा नाम रखता, जो अपने पिता का एक मात्र पुत्र हो अथवा जो नीच जाति का हो, ऐसे मनुष्य के साथ युद्ध नहीं करना चाहिए।[1] गौतम के अनुसार जिन्होंने अश्व, सारथि और आयुद्ध खो दिया हो, जिन्होंने हाथ जोड़ लिये हों, जिनके केश बिखर गए हो, जिन्होंने पीठ दिखा दी हो, जो भूमि पर बैठ गए हो, जो दूत हों तथा जो ब्राह्मण हो इन का युद्ध-भूमि में वध नहीं करना चाहिए।[2] आपस्तम्ब ने युद्ध भूमि में निम्नलिखित का वध वर्जित माना है- न्यस्तशस्त्र, दया की याचना करनेवाले, हाथ जोड़ने वाले और बिखरे बालों वाले आदि।[3] बौधायन के अनुसार ऐसे व्यक्ति को नहीं मारना चाहिए जिसने अपना कवच खो दिया हो, जो भयभीत हो गया हो, जो वयोवृद्ध हो एवं जो ब्राह्मण हो आदि।[4]

अर्थशास्त्र में यह वर्णन आया है कि विजेता को चाहिए कि जब वह शत्रु की छावनी पर अधिकार कर ले तो ऐसे सैनिकों को अभयदान दे दे, जो युद्धभूमि में घायल पड़े हो, जो युद्ध से भाग गए हो, जो अधिक आपत्तग्रस्त हो, जिनके बाल तथा आयुध बिखर गए हो, जिनके मुख भय से विकृत हो गए हो और जो युद्ध में शामिल न हुए हो।[5] युद्धभूमि पर स्थित, नपुंसक हाथ जोड़े हुए, बाल खोले हुए, बैठे हुए, सोये हुए कवच रहित, नंगे, शस्त्ररहित, युद्ध न करते हुए, युद्ध को देखते हुए और दूसरों के साथ युद्ध में भिड़े हुए योद्धा को, अपने आयुधों के टूटने के कारण दुखी, पुत्र आदि के शोक से व्याकुल, अत्यन्त घायल हुए और युद्ध से विमुख योद्धा

---

1. भीष्मपर्व 107.77-78
2. गौतम धर्मसूत्र 10.17-18
3. आपस्तम्ब 2.6.12
4. बौधायन धर्मसूत्र 1.10.8-11
5. अर्थशास्त्र, 13.4.52.

को मनुस्मृति के अनुसार नहीं मारना चाहिए।[1] मैं तुम्हारा हूँ ऐसा कहने वाले, नपुंसक, शस्त्रहीन, दूसरे के साथ युद्ध में संलग्न, निवृत और युद्ध देखने के लिए आए हुए व्यक्तियों को याज्ञवल्क्यस्मृति के अनुसार नहीं मारना चाहिए।[2]

उपरोक्त वर्णनों से मिलता जुलता वर्णन संगम कालीन दक्षिण भारतीय ग्रन्थों में भी मिलता है कि युद्ध प्रारम्भ होने के पहले कायरों को, शांति विचार वालों को, ब्राह्मणों एवं स्त्रियों को, रोगियों एवं निर्बल को तथा जिसके माता-पिता जीवित न हो- ऐसे व्यक्तियों को अपनी सुरक्षा के लिए उस स्थान से दूसरे स्थान पर चले जाने का आदेश दे दिया जाता था।[3] सिलप्पदिकारम ग्रन्थ के अनुसार जो अपने बालों को संन्यासियों की तरह ढीला एवं ऐंठकर बाँधे हों, जो सन्यासियों की भांति लाल केसरिया वस्त्र पहने हो, जो अपने शरीर पर पवित्र भस्म लगाए हो, जैन एवं बौद्ध मतानुयायियों को, कवियों, संगीतज्ञों एवं नर्तकों को युद्धभूमि में नहीं मारना चाहिए।[4] सिरपंचमूलम के अनुसार जिसने अपने वस्त्र उतार दिये हो, जिसने अपना अस्त्रशस्त्र दूर फेंक दिया हो, जो जल में प्रवेश कर गया हो, जो चारागोह पर गिर पड़ा हो, ऐसे व्यक्तयों पर आक्रमण नहीं किया जाता था।[5] इसके अतिरिक्त ऐसे व्यक्तियों पर भी आक्रमण नहीं किया जाता था जिसकी ऐड़ी दिखाई देती थी अर्थात जिसने पीठ दिखा दी हो।

युद्ध में प्रहार करने के अयोग्य सैनिकों के विषय में शुक्रनीति में उल्लेख मिलता है कि एक सैनिक को, अपने से नीचे किसी जगह खड़े हुए, नपुंसक, हाथ जोड़े हुए, सिर के बाल बिखरे हुए, बैठे हुए "मैं तुम्हारे अधीन हूँ", ऐसा कहते हुए, सोये हुए, सैनिक वेश -भूषाधारण

---

1. मनुस्मृति, 7.91.93.
2. याज्ञवल्क्य-स्मृति 1.326.
3. पुरनानुज व; द्रष्टव्य, सुब्रह्मण्यन, एन., संगम पालिटी पृ. 135-36.
4. सिलप्पदिकारम 26/225-30
5. सिरुपंचमूलम्, 46

किए हुए, नग्न, शस्त्ररहित, युद्ध देखने वाले, भोजन करते हुए एवं युद्ध से विमुख हुए सैनिकों एवं व्यक्तियों पर आक्रमण नहीं करना चाहिए ।[1]

महाभारत के भीष्मपर्व के अनुसार गजारोही को गजारोही से अश्वारोही को अश्वारोही से, रथारोही को रथारोही से एवं पैदल सैनिकों को पैदल सैनिक से युद्ध करना चाहिए ।[2] पतंजलि के अनुसार प्रत्येक योद्धा अपनी श्रेणी के योद्धा से युद्ध करते थे ।[3] महाभारत में यह भी मिलता है कि दो सैनिक एक ही प्रकार के अस्त्र लेकर परस्पर प्रहार करते थे। असिधारी के साथ दूसरा सैनिक असि से ही लड़ता था ।[4] रघुवंश[5] व शुक्रनीति[6] में भी ऐसे नियमों का उल्लेख मिलता है। समबल में युद्ध करने का विधान दक्षिण भारतीय ग्रन्थों में मिलता है– उदाहरणार्थ– अश्वारोही अश्वारोही से, गजारोही गजारोही से, पदाति पदाति सैनिकों से ही युद्ध करते थे ।[7] जबकि युद्धक्षेत्र में एक पक्ष द्वारा दूसरे पक्ष के सेनापति पर प्रहार करने व मारने की इच्छा बनी रहती थी क्योंकि युद्ध क्षेत्र में सेनापति की मृत्यु के उपरान्त सेना की पंक्ति में बिखराव आने लगता था ।[8] अमरावती स्तूप से भी समबल से युद्ध की पुष्टि होती है। उदाहरण के लिए अमरावती शिल्प कला में रथारोही को रथारोही से अश्वारोही को अश्वारोही से, पैदल सैनिक से तथा गजारोही गजारोही से युद्ध करते हुए अंकित किया गया है ।[9]

---

1. पुरनानुरु 389, मदुरैक्काजी, 177, पदिरु, पातु, 90
2. महाभारत, भीष्मपर्व 45.83
3. महाभाष्य, 6.1.48
4. महाभाष्य 5.1.69
5. रघुवंश 7.37
6. शुक्रनीति 4.7.357–58
7. मैनुअल रिपोर्ट ऑफ दि मैसूर आर्कियोलाजिकल डिपार्टमेंट 1925 संख्या 3, महालिंगम, टी.पी., साउथ इंडियन पालिटी, पृ. 27
8. महालिंगम, टी.पी., "साउथ इंडियन पालिटी" पृ. 270
9. शिवराममूर्ति, सी. अमरावती स्कल्पचर्स इन दि मद्रास गवर्नमेन्ट म्यूजियम फलक56, चित्र1, 2पृ. 246

प्राचीन शास्त्रकारों के अनुसार युद्ध क्षेत्र में मूर्छित व्यक्तियों पर प्रहार वर्जित था। उदाहरणार्थ मूर्छित रावण पर राम ने तब तक नहीं प्रहार किया जब तक वह पुनः स्वस्थ होकर नए धनुष और अस्त्रशस्त्रों के साथ युद्ध भूमि में नहीं आ गया।[1] प्राचीन ग्रन्थों में इस प्रकार के कई उदाहरण मिलते हैं कि पहले प्रहार करने वाले घुड़सवारों ने मूर्छित शत्रु-सवार पर, जो जबाबी हमला करने में समर्थ था, कोई प्रहार नहीं किया, वरन उसके होश में आने की प्रतीक्षा करने लगा।[2] कालिदास के अनुसार घोड़े पर आरूढ़ धनुर्धारी सैनिक जब अपने बाणों से गजारूढ़ सैनिकों को मारते हो और वे मूर्छित हो जाते हो तब वे बड़ी देर तक खड़े रहकर उनकी मूर्च्छा के हटने की प्रतीक्षा करते थे।[3]

प्राचीन काल के युद्धों में, युद्ध भूमि में काँटेदार तथा जहरीले बाणों का प्रयोग निषिद्ध था। मनु ने कूट अस्त्रशस्त्रों, जहरीले एवं काँटेदार तथा कर्णि के आकार के फल वाले बाण का प्रयोग वर्जित माना है।[4] युद्ध में कूट अस्त्रशस्त्रों तथा विष में बुझे हुए बाणों का प्रयोग याज्ञवल्क्य स्मृति के अनुसार वर्जित था।[5] युद्ध के समय यह भी ध्यान रखा जाता था कि सैनिकों के आक्रमण का शिकार कृषक, ग्रामवासी आदि को नहीं होना चाहिए। मेगस्थनीज़ के वर्णन से ज्ञात होता है कि किसान निश्चित एवं निर्भय होकर अपना कृषि कर्म करते थे और पड़ोस में भयंकर युद्ध हुआ करते थे क्योंकि युद्धरत सैनिक उनको किसी भी प्रकार का कष्ट नहीं देते थे।[6]

उपर्युक्त विभिन्न तथ्यों का अध्ययन करने से प्राचीन भारतीय शास्त्रकारों के युद्ध विषयक विचारों का ज्ञान होता है। उपर्युक्त तथ्यों के परीक्षण से पता चलता है कि

---

1. रामायण, युद्धकांड, 59.143
2. रघुवंश 7.47
3. कुमारसंभव 16.37
4. मनुस्मृति 7.90
5. याज्ञवल्यक स्मृति 13.324
6. मजूमदार, आर. सी., क्लासिकल एकाउंटस ऑफ इंडिया पृ. 33, 264

तत्कालीन समय में भी कोरा आदर्श व्यवस्था थी लेकिन प्रश्न यह उठता है कि इसका कहाँ तक पालन हुआ था? इसके साथ ही प्राचीन भारतीय साहित्य में कुछ ऐसे प्रसंग भी मिलते हैं जो नितान्त व्यवहार परक है। प्राचीन काल में इन युद्धों के अतिरिक्त, कूट युद्ध के भी उदाहरण मिलते हैं। उदाहरणार्थ महाभारत के आदि पर्व में कणिक धृतराष्ट्र को कूटनीति का उपदेश देते हुए कहते हैं कि राजा को इतनी सावधानी रखनी चाहिए, जिससे शत्रु उसकी कमजोरी न देख सके और यदि शत्रु की कमजोरी प्रकट हो जाए तो उस पर अवश्य चढ़ाई करे। यदि कोई कार्य शुरू कर दे तो उसे पूरा किए बिना कभी न छोड़े क्योंकि शरीर में गड़ा हुआ कांटा यदि आधा टूटकर भीतर रह जाये तो वह बहुत दिनों तक कष्ट देता रहता है।[1] महाभारत में हमें यह उल्लेख भी मिलता है कि आपत्ति ग्रस्त शत्रु को भी मारने में संकोच नहीं करना चाहिए और दुर्बल शत्रु की भी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए।[2] अर्थशास्त्र में उल्लिखित है कि व्यसनापन्न सेना पर, जलाभाव की अवस्था में अथवा शत्रु की विरुद्ध स्थिति और अपनी अनुकूल स्थिति होने पर उसके ऊपर आक्रमण नहीं करना चाहिए। या राज-द्रोहियों, शत्रुओ और जंगलिको को अपनी पराजय का विश्वास दिलाकर जब वे अपना स्थान छोड़ दे तब उन पर आक्रमण किया जाए। हाथियों द्वारा अनुकूल भूमि में एक स्थान पर ठहरी हुई शत्रु सेना को छिन्न-भिन्न किया जाय।[3] कौटिल्य कूटनीति के सन्दर्भ में यह बतलाता है कि जिस ओर शत्रु की निर्बल सेना हो उसी ओर से आक्रमण करना चाहिए। यदि सामने की ओर से आक्रमण करना अनुकूल हो तो पीछे की ओर से आक्रमण करना चाहिए । यदि पीछे की ओर से असुविधा हो तो आगे की ओर से आक्रमण करना चाहिए।[4]

अर्थशास्त्र में मंत्र-युद्ध का भी उल्लेख हुआ है। मंत्र युद्ध से अभिप्राय उस युद्ध से है जिसमें जादू टोनों

---

1. महाभारत, आदिपर्व 139. 8.11
2. आदिपर्व 140.10-11
3. अर्थशास्त्र 10.3.4,5
4. अर्थशास्त्र 10.3.13

तथा मंत्रों का प्रयोग होता था। इसे भी कूट युद्ध की श्रेणी का माना गया है। कूट युद्ध की श्रेणी में तूष्णीम् युद्ध भी आता है। गुप्तचरों द्वारा इस युद्ध में शत्रु पर आक्रमण करवाया जाता था तथा उसे मतौषध से नष्ट किया जाता था। अर्थशास्त्र में इनका वर्णन कौटिल्य ने, किया है। अर्थशास्त्र में तूष्णींयुद्ध के अन्तर्गत शत्रु के साथ मारक रोगाणु उत्पन्न करने वाले और विषाक्त प्रयोगों के साथ-साथ शत्रु को अंधा करने और स्वयं अंधा होने से बचाने की विधि भी बताई है। अर्थशास्त्र में दंशयोग का उपाय शत्रु की सेना को नष्ट करने के लिए बताया गया है। अन्य उपाय भी तूष्णींयुद्ध के अन्तर्गत बताये गए हैं उदाहरणार्थ- रोग उत्पन्न करना, भूख न लगना, बिना थकावट के अधिक श्रम कर सकना आदि। अर्थशास्त्र में इन औषधियों, मंत्रों और मायावी उपायों के द्वारा विजेता को शत्रु का नाश और स्वजनों का पालन करना चाहिए।[1] इसके अतिरिक्त अर्थशास्त्र में विभिन्न कठिनाईयों से युक्त शत्रु-सेना को नष्ट करने का उल्लेख भी मिलता है। उदाहरण के लिए धान-भूसा, ईंधन, लकड़ी तथा मार्ग में जल आदि न पाने से भूख-प्यास से ग्रस्त कठिन मार्ग में चलने वाली, दुर्भिक्षा आदि से पीड़ित यात्रा के कारण बेचैन, नींचे लेटी हुई, प्रतिकूल भूमि में ठहरी, सैनिक आपत्तियों से ग्रस्त, आदि कठिनाईयों से युक्त शत्रु की सेना को ध्वस्त कर डालना चाहिए।[2]

प्राचीन ग्रन्थ के एक प्रसंग के अनुसार अपनी सेना को शत्रु चन्द्रगुप्त की सेना पर आक्रमण का आदेश देता है और उसे सेना के दुर्बल पक्ष पर एक साथ प्रहार करने की योजना बनाता है।[3] इसमें यह भी मिलता है कि सोये हुए सैनिकों पर भी प्रहार करना चाहिए। उदाहरणार्थ राक्षस ने वीभत्सक को, सोये हुए चन्द्रगुप्त के शरीर पर प्रहार करने का आदेश दिया था- जो अपने कार्य में असफल रहा और मारा गया।[4] कूटनीति के विषय में विस्तृत उल्लेख मनुस्मृति

---

1. अर्थशास्त्र, 7.6.41
2. अर्थशास्त्र, 10.3.17
3. मुद्राराक्ष 2.13
4. मनुस्मृति 7.197

में मिलता है। शत्रु की सेना में फूट पैदा करके शत्रु पर मनुस्मृति के अनुसार चढ़ाई कर देना चाहिए। राजा को चाहिए कि वह राज्याभिलाषी तथा भेद योग्य, शत्रु के दायादों को या मंत्री, सेनापति आदि को फोड़ लें। विजय होने पर राज्य आदि का लाभ देकर अपने पक्ष में करे। शत्रु द्वारा किए गए ऐसे भेद को स्वयं मालूम करे और विजयाभिलाषी राजा निर्भय होकर शुभ मुहूर्त में शत्रु से युद्ध करे।[1] नीतिसार के अनुसार जो युद्ध में तथा दिन में श्रम से थके हो, उनका अपराह्न युद्ध में विनाश करना चाहिए और जो रात में सुख से शयन कर रहे हो, उन पर सोते हुए पर प्रहार की रीति से प्रहार करना चाहिए।[2] ऐसे ही कामन्दक ने उल्लेख किया है कि सूर्य के सम्मुख या आंधी के सम्मुख मिची आंखों वाली शत्रु सेना का भी वध करना चाहिए। कामन्दक ने तो यहां तक कह दिया है जो ऐसा करता है वह सैनिक अधर्म या नरक का गामी नहीं होता है।[3] नीति में यह वर्णन मिलता है कि लम्बी यात्रा से थकी हुई, भूख-प्यास से व्याकुल, व्याधि, दुर्भिक्ष, महामारी आदि से पीड़ित, भोजन में लगी हुई, इधर-उधर घूमती हुई, बिखरी व घबरायी हुई, सोती हुई तथा व्यसनों में फंसी हुई शत्रु सेना पर धावा बोलकर उसे मार देना चाहिए और अपनी सेना को इन सभी दोषोंसे मुक्त रखना चाहिए।[4]

उपर्युक्त तथ्यों से स्पष्ट होता है कि ये आदर्शवादी नियम सैद्धांतिक अधिक थे, व्यावहारिक कम क्योंकि अर्थशास्त्र, मनुस्मृति, कामन्द नीतिसार, महाभारत, मुद्राराक्षस, शुक्रनीति आदि में एक ओर आदर्श नियमों का उल्लेख मिलता है, वहीं दूसरी ओर कूटनीति या कूट-युद्ध का अपेक्षाकृत अधिक वर्णन मिलता है। इन सब वर्णनों से स्पष्ट होता है कि व्यवहार में विरोधी को परास्त करना ही विजेता सैनिकों का मुख्य उद्देश्य होता था।

---

1. कामन्दक नीतिसार 18.64
2. कामन्दक नीतिसार 18.66
3. कामन्दक नीतिसार 18.63-66,69
4. शुक्रनीति 4.7.347-50

जहाँ प्राचीन कालीन सम्राटों के अपने शत्रुओं के व्यवहार का संबंध है उस सम्बन्ध में हमें अभिलेखों एवं साहित्यिक साधनों से विशेष जानकारी मिलती है। चूंकि यह सभी साक्ष्य व्यक्ति विशेष के काल थे जिससे उसमें कहीं कहीं अतिश्योक्ति भी मिलता है लेकिन हमें साहित्यिक एवं अभिलेखों का पारस्परिक विश्लेषण कर उस पर विश्वास करना ही होगा।

व्यवहार के संबंध में हमें वैदिक काल से ही जानकारी प्राप्त होती है इस संबंध में दास का मत विचारणीय है कि ऋग्वैदिक काल में विरोधियों के पराजय के पश्चात् उनके पारिवारिक सदस्यों को भी बन्दी बना लिया जाता था।[1] पराजित राज्य में लूटपाट का कार्य भी होता था तथा गाय बैल एवं अश्व आदि विजेता द्वारा अपहृत कर लिए जाते थे।[2] बाद के कालों में विजयी राजा का पराजित राजा के साथ उदारता का भाव दृष्टिगत होता है। सभापर्व में यह वर्णन मिलता है कि परास्त राजा कभी भी पदच्युत न किया जाये, बल्कि उसका पुनराभिषेक किया जाये। उसे जीतकर मुक्त कर देना प्रशंसनीय माना गया है।[3]

ऐसे वर्णन बाद के आर्य लेखों एवं साहित्यों में बहुतेरे मिलते हैं–

बौद्ध जातक के अनुसार कोशलराज प्रसेनजित ने मगध राज अजातशत्रु की सेना पर छापा मारकर अजातशत्रु तथा उसकी सेना को बन्दी बना लिया और अधीनता स्वीकार करने के लिए विवश किया। अंत में दोनों में समझौता हो गया और प्रसेनजित ने उसे स्वतंत्र करके सेना, राज्य और वाजिरा नामक पुत्री को भी विवाह में दिया।[4] झेलम युद्ध के पश्चात् सिकन्दर ने पोरस को पराजित करने के बाद उसका संपूर्ण राज्य वापस कर दिया और पूर्व की ओर का भू-प्रदेश और जोड़ दिया, जिससे 15 संघ राज्य, उनके पांच हजार बड़े नगर और अगणित

---

1. दास, अविनाशचन्द्र, ऋग्वैदिक कल्चर, पृ. 329-30
2. ऋग्वेद 1.63.6
3. महाभारत, सभा पर्व, 38.7
4. जातक 4,342

ग्राम थे।[1] अग्निमित्र ने विदर्भराज महासेन को पराजित कर कालिदास के अनुसार महासेन को बन्दी बना लिया था।[2] कालिदास के मालविकाग्नि मित्रम में यह भी वर्णन मिलता है कि अग्निमित्र ने विदर्भ राज्य को दो भागों में विभक्त कर महासेन एवं उसके भाई माधव सेन को देकर पुनः दोनों को शुंग शासन के अधीन शासन करने की अनुमति दे दी थी।[3] इसी प्रकार कालिदास के रघुवंश में राजा रघु के सन्दर्भ में जानकारी मिलती है जिसमें यह वर्णन मिलता है कि राजा रघु ने शत्रु-राजाओ के राज्यों को छीनकर पुनः उनके राज्य को वापस कर दिया तथा पराजित राजाओ ने राजा रघु को अधिक उपहार भेंट किए।[4] रघुवंश में यह भी वर्णन आया है कि राजा रघु ने शत्रु राजा को पराजित कर उसकी धन संपति लेकर पुनः राज्य वापस कर देने का उल्लेख है। ऐसा वर्णन बाद के कालों में भी मिलता है जिसे साहित्य एवं अभिलेखों में धर्म विजय की संज्ञा प्रदान की है।

जूनागढ़ शिलालेख, हाथीगुम्फा अभिलेख, प्रयाग प्रशस्ति, उदयगिरी लेख आदि अभिलेखों से हमें सम्राटों द्वारा अपने पड़ोसी राज्य, सीमावर्ती राज्य विदेशी राज्यों व सुदूरराज्यों आदि के प्रति विभिन्न व्यवहारों की जानकारी मिलती है। सर्व प्रथम हमें जूनागढ़ शिलालेख से रूद्रादामन व शातकर्णी के मध्य जो व्यवहार का प्रयोग किया गया था उसकी जानकारी मिलती है रूद्रदामन ने दक्षिण भारत के सातवाहन नरेश शातकर्णी को खुले मैदान में दो बार जीतकर भी निकट संबंध होने के कारण उसे मुक्त करके कीर्ति प्राप्त की अर्थात उसे नष्ट किया।[5] ऐसे कलिंग नरेश खारवेल के हाथी गुम्फा अभिलेखसे जानकारी मिलती है कि खारवेल ने अपने शासन काल के 11वें वर्ष

---

1. मुकर्जी, राधाकुमुद, हिन्दू सभ्यता, अनुवाद- अग्रवाल, वासुदेवशरण, पृ. 293
2. मालविकाग्निमित्रम 5.2-3
3. मालविकाग्निमित्रम 5.13
4. रघुवंश 16.12
5. सरकार, डी.सी. सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस, जिल्द 1, पृ. 178

में दक्षिण दिशा में प्रयाण कर पिथुंड नगर को जीतने के बाद गदहों से जुतवा दिया था[1] और शासन के 12वें वर्ष में मगध नरेश वृहस्पति मित्र से अपनी चरण-वन्दना करवायी और पर्याप्त मात्रा में धन अपहरण किया[2] प्रयाग प्रशास्ति की 20,21,22 व 24वीं पंक्ति में क्रमशः राजग्रहणमोक्षानुग्रह, प्रसभोद्धरण, प्रत्यन्त, सर्व्वकर दानाज्ञाकरण, प्रणामागमन, आत्मनिवेदन कान्योपायनदान व्यवहारों का उल्लेख मिलता है जिसे समुद्रगुप्त ने अपने समकालीन राजाओं के साथ किया था। उदाहरण के लिए आर्यावर्त नरेशों को जीतकर उनके राज्यों को अपने राज्य में सम्मिलित कर लिया, आटविक राज्यों को अपना दास बना लिया, दक्षिणापथ के नरेशों को जीत लेने के अनन्तर उन्हें कृपापूर्वक छोड़ दिया और सीमान्त राज्यों को अपनी आज्ञा मानने तथा विशिष्ट अवसरों पर राजधानी में उपस्थित होकर गुप्त सम्राट को प्रणाम करने के लिए बाध्य किया था।[3]

इन विभिन्न व्यवहारों में समुद्रगुप्त की कुशल कूटनीतिज्ञता का ज्ञान प्राप्त होता है। समुद्रगुप्त ने यह अनुभव किया कि गुप्त काल में जब यातायात और आवागमन के उचित प्रभावकारी साधनों का अभाव था, तत्कालीन मार्ग आजकल की तरह चिकनी एवं सपाट नहीं थी बल्कि कंटकाकीर्ण और हराभरा वनों से युक्त थे, अतः सम्पूर्ण भारत पर एक सुदृढ़ केन्द्रीय शक्ति द्वारा प्रशासन करना असंभव था। तत्कालीन मगध नरेश द्वारा पाटलिपुत्र से साम्राज्य के निकटस्थ प्रदेशों पर शासन करना आसान था। इसलिए उसने आर्यावर्त के राज्यों को जीतकर अपने साम्राज्य में मिला लिया था। जबकि इसके विपरीत समुद्रगुप्त ने सीमावर्ती राज्यों को और दक्षिण भारत के जीते हुए राज्यों को अपने साम्राज्य में विलीन नहीं किया। अपने आटविक राजाओं को इसलिए अपना सेवक बना लिया था कि उत्तर और दक्षिण के मध्य आटविक राज्य

---

1. सरकार, जी.सी.सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस, जिल्द 1, 216-17
2. सरकार, जी.सी., सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस 217
3. कार्पस इंस्क्रिप्शंस इन्डकेरम, जिल्द3, पृ. 6-8

सेतु का कार्य करता था जो दक्षिण और उत्तर के मध्य स्थित विन्ध्याचल की पर्वतमालाओं से निकलने वाले आवागमन के मार्ग सुरक्षित हो जाएं। दक्षिण के राज्यों को अपने साम्राज्य से मिलाया नहीं बल्कि उनसे वार्षिक कर एवं उपहार ही लेता रहा। इस व्यवहार की तुलना अर्थशास्त्र, महाभारत में वर्णित धर्म विजय से की जा सकती है बाद में हर्ष ने भी ऐसा व्यवहार अपने कुछ समकालीन राजाओं के साथ किया था। भारत के सीमांत क्षेत्र में शक, मुरुड व कुषाण आदि विदेशी राज्यों पर भी दृढ़तापूर्वक शासन करना संभव न था क्योंकि गुप्त साम्राज्य के पतन के पश्चात पुनः स्वतंत्र होकर गुप्त साम्राज्य को क्षति पहुंचाते इसीलिए समुद्रगुप्त ने इन विदेशी राज्यों और सीमावर्ती राज्यों के साथ उदारता, सौजन्यता और सहिष्णुता की नीति अपनाई। उसने जिन राज्यों को गुप्त साम्राज्य में मिलाया था उनके साथ सौज्यन्यता एवं सौहार्दपूर्ण व्यवहार ही रखा था।

प्राचीन भारतीय परम्परा में धर्म और नीति के सन्दर्भ में धर्म पर अधिक बल दिया गया है। प्रो० जी० सी० पाण्डे[1] के अनुसार धर्म का व्यापक अर्थ न्याय था और नीति में बुद्धिमत्ता तथा शक्ति के आधारभूत गुण निहित थे, जो दण्ड नीति शब्द से स्पष्ट है। नीति के भी अन्तर्गत बुद्धिमानी (प्रुडेंस) और कार्य साधकता (एक्सपिडियंसी) पर अधिक बल दिया गया है और शक्ति पर कम। कालिदास ने रघुवंश में कहा है कि मात्र नीति कायरता है और मात्र शौर्य जंगलीपन है (कातर्यं केवला नीतिः शौर्यं श्वापद-चेष्ठितम्-रघुवंश 17.47)। इसी परम्परा के परिप्रेक्ष्य में युद्ध-कला एवं युद्ध के सिद्धान्त को अच्छी तरह समझा जा सकता है।

---

1. पाण्डे, जी. सी., फाउन्डेशन ऑव इन्डियन कल्चर, जिल्द 2, पृ. 263

उपसंहार

उपसंहार

सैन्य-संगठन में चतुरंगिणी सेना का विशेष महत्त्व था। वैदिक काल में सेना के तीन अंगों- पैदल, रथ व अश्व के बारे में जानकारी मिलती है। प्राचीन साहित्यिक ग्रन्थों, महाभारत (चतुर्थ शताब्दी ई. पू. से चतुर्थ शताब्दी ई.), अष्टाध्यायी (पांचवी शताब्दी ई. पू.) अर्थशास्त्र (मौर्यकाल), महाभाष्य (शुंगकालीन), मनुस्मृति (200 ई. पू. से 200 ई.) आदि तत्कालीन मुद्राओं (हिन्द-यवन शासकों, गुप्त नरेशों आदि की मुद्राओं) अभिलेखों और शिल्प-कला (सांची, भरहुत आदि) के अंकनों से ज्ञात होता है कि लगभग छठी शताब्दी ई. पू. से लेकर छठी शताब्दी ई. तक के काल में चतुरंगिणी सेना के प्रचलन में उत्तरोत्तर वृद्धि होती गई।

वैदिक काल में पदाति सेना का काफी महत्त्व रहा होगा। पर जैसाकि अथर्ववेद (7.62.1) से ज्ञात होता है कि पदाति सेना, रथ सेना से कम महत्त्व की मानी जाती थी। इस संबंध में अथर्ववेद में यह कहा गया है कि अग्नि देवता शत्रुओं पर उसी तरह विजय प्राप्त करते हैं जैसे रथारोही पैदल पर। पर उस काल में राजाओं के पास रथों की संख्या बहुत अधिक नहीं रही होगी जैसाकि हम बड़े साम्राज्य के काल में पाते हैं। युद्ध के परिणाम में पैदल सेना की निर्णायक भूमिका नहीं रहती थी। पर इस सेना का अस्तित्व प्रत्येक काल में विद्यमान रहा। दुर्ग युद्ध के समय पदाति सेना की आवश्यकता पड़ती थी। साहित्यिक एवं तत्कालीन शिल्प अंकनों (फलक संख्या के लिए द्रष्टव्य अध्याय-1) से ज्ञात होता है कि युद्ध के समय उनका प्रमुख शस्त्रास्त्र धनुष-बाण था। किन्तु वे तलवार, गदा, भाला आदि शस्त्रास्त्र धारण करते थे।

रथों का विशेष महत्त्व आरम्भिक काल से लेकर मौर्य-काल तक बना रहा। अष्टाध्यायी, अर्थशास्त्र आदि से तथा प्राचीन शिल्प के अंकनों से ज्ञात होता है कि मौर्य-काल तक रथ-निर्माण में पर्याप्त उन्नति हो चुकी

थी। इन रथों को प्रायः दो से चार घोड़ों द्वारा खींचने का उल्लेख अर्थशास्त्र में मिलता है। रथों को व्याघ्र, गैंडा आदि के चर्म एवं लोहे की परत से कवचित कर दिया जाता था। रथारोही सैनिकों का प्रमुख शस्त्रास्त्र धनुष-बाण था, किन्तु आवश्यकतानुसार ये सैनिक भाला, कटार, तलवार, गदा आदि भी धारण करते थे। मौर्य-काल के बाद सेना की संख्या तथा उपयोगिता में क्रमशः ह्रास होने लगा। गुप्त-काल तक पहुँचते-पहुँचते सेना में रथों का उपयोग बहुत कम होने लगा। घुड़सवार सेना के अधिक प्रचलन के कारण ऐसा हुआ।

चतुरंगिणी सेना का एक अंग अश्वारोही सेना थी। रामायण एवं महाभारत में इस सेना का संगठित सेना के रूप में उल्लेख नहीं मिलता । यूनानी इतिहासकारों के विवरणों से ज्ञात होता है कि चतुर्थ शताब्दी ई. पू. तक सेना के एक अलग अंग के रूप में इसका महत्व स्थापित हो चुका था। भारत-भूमि पर विदेशी आक्रमणकारी के द्वारा प्रयुक्त चपल, सुसंगठित अश्व-सेना से प्रभावित होकर भारतीयों ने भी अन्य सेनाओं की अपेक्षा अश्व-सेना में आवश्यक वृद्धि की होगी । गुप्त-काल तक आते-आते युद्ध-भूमि में इस सेना की महत्वपूर्ण तथा निर्णायक भूमिका हो गई। प्रारंभ में अश्वारोही सैनिकों का प्रमुख अस्त्र भाला था, किन्तु गुप्त-काल तक आते-आते इनका प्रमुख शस्त्रास्त्र धनुष-बाण हो गया। कुछ इन्डो-सीथियन्स एवं गुप्त मुद्राओं (फलक संख्या के लिए द्रष्टव्य अध्याय 2) से स्पष्ट ज्ञात होता है कि भारत में अश्व-धनुर्विद्या का प्रचलन प्रथम शताब्दी ई. पू. में हुआ, जो शक तथा पह्लव क्षत्रपों का प्रभाव परिलक्षित होता है।

ऋग्वैदिक काल में हस्ति सेना का युद्ध-भूमि में प्रयोग प्रायः नगण्य था, किन्तु कालान्तर में युद्धभूमि में हाथियों के अधिक संख्या में प्रयुक्त होने का वर्णन मिलता है। सिकन्दर के आक्रमण के पश्चात् परिस्थितियों की मांग के कारण अश्व सेना के महत्व में अपेक्षाकृत वृद्धि हुई, किन्तु इससे हस्ति-सेना का महत्व पूर्णतः समाप्त नहीं हो सका। हस्त्यारोहियों के प्रमुख शस्त्रास्त्र धनुष-बाण,

भाला, तलवार, गदा, तोमर एवं प्रक्षेप्यास्त्र आदि थे ।

स्थल भूमि पर तो युद्ध करने के लिए चतुरंगिणी सेना का उपयोग किया जाता था, परन्तु गहरे जल में युद्ध करने का एकमात्र साधन नौ-सेना ही थी। जल में युद्ध करने में इसका साक्ष्य प्राचीन साहित्य तथा पुरातात्विक अवशेषों में मिलता है। नौ सेना के साहित्यिक साक्ष्य अर्थशास्त्र, महाभारत, रामायण आदि में मिलते हैं। इसके अतिरिक्त सातवाहन नरेश पुलमवाय के कुछ मुद्राओं पर पोत का अंकन मिलता है।

अर्थशास्त्र (७.६.८, १०.२.६) में वीवध शब्द मनुष्यों एवं सेना के लिए उपयोगी वस्तुओं एवं रसद की आपूर्ति के लिए प्रयुक्त हुआ है । इससे यह स्पष्ट है कि चतुरंगिणी सेना में एक आपूर्ति विभाग रहा होगा । कौटिल्य (अर्थशास्त्र १०.४.१७) के अनुसार हथियारों, रसद आदि के "वहन" के कार्य हेतु ऐसे कर्मकर नियोजित किये जाते थे, जिन्हे विष्टि कहा जाता था चतुरंगिणी सेना के लिए विष्टि का विशेष महत्त्व था ।

युद्ध में लोग घायल होते थे और उनकी चिकित्सा अनिवार्य होती थी। इसके लिए युद्ध-स्थल में एक चल चिकित्सालय का प्रबन्ध किया जाता था। इसलिए चल-चिकित्सा का भी प्राचीन भारतीय सैन्य-संगठन में अपना विशेष महत्व था। आयुर्वेद में जीवक, चरक, सुश्रुत व धन्वन्तरि जैसे वैद्यों का भी महत्त्वपूर्ण योगदान था।

गुप्तचरों का प्राचीन शस्त्र-व्यवस्था में विशेष स्थान प्रदान किया गया है। गुप्तचरों का प्रचलन वैदिक-काल में ही हो चुका था। अर्थशास्त्र, कामन्दकनीतिसार तथा रघुवंश में गुप्तचरों को राजा का नेत्र कहा गया है। कौटिल्य ने कापटिक, उदास्थित, गृहपतिक, वैदेहक, तापस, सत्री, तीक्ष्ण, रसद एवं भिक्षुकी इन नौ कोटि के गुप्तचरों का उल्लेख किया है। ये गुप्तचर शत्रु-पक्ष की सेना के संबंध में आवश्यक सूचनाएं एकत्रित करते थे तथा शत्रु के राज्य में फूट के बीज बोया करते थे। इस कार्य को सम्पन्न करने के लिए ये गुप्तचर सन्यासी, मूक, अंधे बधिर एवं परिव्राजक आदि का वेश धारण करते थे। अर्थशास्त्र के

अनुसार गुप्तचरों को मधुर-भाषी, आकर्षक व्यक्तित्व वाला, शक्तिशाली, स्मृतिवान एवं परिश्रमी होना चाहिए। इस ग्रन्थ में गुप्तचरों के लिए संकेत प्रणाली एवं दण्ड देने का विधान भी मिलता है।

दूतों की भूमिका युद्ध के सन्दर्भ में महत्वपूर्ण होती थी। दूत भेजने का प्रचलन वैदिक-काल में भी था (ऋग्वेद **10.108.2-3**)। पर दूत संस्था का उल्लेख इस काल में नहीं मिलता। इसका विकास, जैसा कि अर्थशास्त्र से ज्ञात होता है, मौर्य काल तक हो चुका था। अर्थशास्त्र के अनुसार दूतों के तीन प्रकार- निसृष्टार्थ, परिमितार्थ एवं शासनहार बताये गए हैं। दूत के पद पर उसी को नियुक्त किया जाता था, जो विद्वान, साहसी, वीर, राजभक्त, वाकपटु एवं मधुरभाषी होता था। इन दूतों का मुख्य कार्य अपने राजा का दूसरे राजा के पास सन्देश पहुँचाना था, किन्तु इसके साथ ही साथ अंतर्राज्यीय संबंध बनाए रखने में भी इनकी महत्वपूर्ण भूमिका होती थी। अर्थशास्त्र में दूतों को अवध्य कहा गया है। अवध्य होने के कारण ये अपने राजा का सन्देश शत्रु राजा के समक्ष भय-रहित होकर प्रस्तुत करते थे।

प्राचीन भारत में सैन्य-संरचना के बारे में विभिन्न सूचियाँ प्राप्त होती हैं। महाभारत के अनुसार सेना को पत्ति, सेनामुख, गुल्म, गण, वाहिनी, पृतना, चमू, अनीकिनी तथा अक्षौहिणी इकाइयों में बांटा जाता था। सेना के समस्त सैनिक कर्मचारियों को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है- प्रथम सैन्य- अधिकारी और दूसरे असैन्य- अधिकारी। प्रथम वर्ग के अन्तर्गत राजा, सेनापति, नायक आदि थे। दूसरे वर्ग में अश्वों एवं हस्तियों की परिचर्या के लिए नियुक्त परिचारक, पुरोहित चिकित्सा विभाग के कर्मचारी आदि थे। अर्थशास्त्र के अनुसार सैनिकों को उनकी योग्यतानुसार वेतन दिया जाता था।

अस्त्र-शस्त्र युद्धों में और राजनीतिक नियंत्रण स्थापित करने में विशेष सहायक होते थे। प्रागैतिहासिक काल के मध्य पाषाणिक चरण में लोगों को धनुष-बाण की

जानकारी के प्रमाण मिलते हैं। ऋग्वैदिक काल के प्रमुख अस्त्र-शस्त्र धनुष-बाण, गदा, तलवार तथा भाला थे। कालान्तर में आयुधों का विकास हुआ। कौटिल्य ने शस्त्रास्त्रों का भेद उनके भार, स्वरूप तथा गति के अनुसार किया, अर्थशास्त्र में गति के आधार पर स्थिर यंत्र एवं चलयंत्र तथा स्वरूप के आधार पर हलमुख-शस्त्र का उल्लेख प्राप्त होता है। स्थिर यंत्रों के दस प्रकार, चलयंत्रों के सत्रह प्रकार हलमुख शस्त्र श्रेणी के ग्यारह प्रकार बताये गए हैं। अर्थशास्त्र के अतिरिक्त अन्य परवर्ती साहित्यिक ग्रन्थों, जैसे महाभाष्य , कालिदास के रघुवंश आदि में एवं यूनानी विवरणों में युद्ध में प्रयुक्त होने वाले विभिन्न प्रकार के आयुधों का वर्णन मिलता है। धनुष-बाण, तलवार, भाला, गदा, परशु, कटार, मूसल, मुद्गर, शतघ्नी, भिंदिपाल, पाश, तोमर, प्रास, दण्ड एवं पत्थर तथा सुरक्षात्मक अस्त्र-शस्त्रों में ढाल, कवच, सिरस्त्राण, हस्तघ्न, अंगुलिबाण आदि प्रमुख थे।

साहित्यिक साक्ष्यों के अतिरिक्त पुरातात्विक प्रमाणों से प्राप्त शस्त्रास्त्र भी उल्लेखनीय हैं, गंगा के मैदान, बिहार, उड़ीसा तथा मध्य प्रदेश के कई आद्यैतिहासिक स्थलों के उत्खननों से बाणाग्र, तलवार आदि प्राप्त हुए हैं। इसी प्रकार तत्कालीन अभिलेखों, मुद्राओं एवं मुहरों पर तथा शिल्प-कला में अंकित शस्त्रास्त्रों से प्राचीन भारतीय युद्धों में प्रयुक्त होने वाले आयुधों पर महत्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है।

प्राचीन भारतीय शस्त्रास्त्रों में धनुष-बाण सबसे प्रमुख था। अर्थशास्त्र में धनुष के लिए धनु, कोदंड, द्रूण, शार्ङ्ग, कार्मुक, चाप, नवमुख आदि शब्द मिलते हैं। मुद्राओं एवं शिल्प-कला में साधारण एवं संयुक्त दो प्रकार के धनुषों का अंकन हुआ है। पह्लव शासकों के कुछ सिक्कों पर बाण रखने के लिए "तरकस" का अंकन मिलता है। प्राचीन ग्रन्थों में भी अनेक स्थलों पर नाना प्रकार के बाणों, जैसे इषु, शर, वेणु शलाका, दंडासन, नाराच, वैणव, आयस आदि का उल्लेख हुआ है। इन बाणों के फल सींग, लकड़ी, हड्डी तथा लोहे के बने होते

थे। महाभारत, अर्थशास्त्र एवं मनुस्मृति में विष-बुझे, काँटेदार एवं टूटे हुए बाणों का धर्मयुद्ध में प्रयोग करना वर्जित था। तरकस के लिए निषंग, इषुधि, तूणीर तथा उपासंग आदि शब्द मिलते हैं। यह योद्धा की पीठ पर दाँई तरफ बंधा रहता था।

अन्यकोटि के आयुधों में गदा, मूसल, परिघ तथा मुद्गर को एक श्रेणी में रखा जा सकता है। साहित्य, मुद्राओं, अभिलेखों एवं शिल्पकला में इनका अनेक स्थलों पर अंकन हुआ है। अर्थशास्त्र में तलवार के तीन प्रकार बताये गए हैं, यथा निस्त्रिंश, मंडलाग्र एवं असियष्टि। प्राचीन शिल्प में भी इन प्रकारों का अंकन मिलता है। युद्ध-भूमि में प्रयुक्त होने वाले आयुधों में भाला-बल्लम तथा इनकी आकृति के अन्य शस्त्रों, जैसे शक्ति, पट्टस, प्रास, कुन्त, भिंदिपाल, तोमर, कणय एवं कर्पण थे। इनके आकार में समानता होने के कारण इनमें अन्तर कर पाना कठिन है। चलयंत्रों में शतघ्नी का उल्लेखनीय महत्त्व था, जो राजप्रासाद, राजधानी एवं दुर्गों के प्रवेश-द्वार आदि महत्त्वपूर्ण स्थलों की सुरक्षा के प्रयुक्त होता था। कालान्तर में भी इसके प्रयोग होने के उल्लेख मिलते हैं। इनके अतिरिक्त कौटिल्य ने दस प्रकार के स्थिर यंत्रों, जैसे सर्वतोभद्र, जामदग्न्य, बहुमुख, यानक पर्जन्यक आदि का उल्लेख किया है। अन्य अस्त्र-शस्त्रों में प्रास, पाश, अंकुश, कटार तथा प्रस्तर-खंडों के प्रयोग का वर्णन मिलता है, जिनका साहित्यिक ग्रन्थों, मुद्राओं एवं प्राचीन शिल्प में स्पष्ट अंकन है।

सुरक्षात्मक आयुधों में ढाल, कवच, सिरस्त्राण, हस्तघ्न, अंगुलित्राण आदि थे। इनसे युद्ध-भूमि में प्रयुक्त होने वाले शस्त्रास्त्रों से रक्षा की जाती थी। कवच का निर्माण चर्म, हड्डी एवं लोहे से किया जाता था। सैनिकों के अतिरिक्त कभी-कभी सेना में प्रयुक्त होने वाले अश्वों, गजों एवं रथों को भी कवचित किया जाता था। कवच की भाँति ढाल का भी सुरक्षात्मक शस्त्रों में महत्त्वपूर्ण योगदान था। यह विभिन्न आकार की तथा चर्म, काष्ठ एवं धातु की बनी होती थी। युद्ध में सिर की रक्षा के लिए

सिरस्त्राण तथा कुहनी से लेकर अंगुली तक की रक्षा के लिए हस्तघ्न एवं अंगुलित्राण का प्रयोग किया जाता था। पुरातात्विक अवशेषों से उपर्युक्त अस्त्र-शस्त्र संबधी साहित्यिक विवरणों की आंशिक पुष्टि हो जाती थी। इस सन्दर्भ में हिन्द-यवन शासकों, गुप्त नरेशों आदि की मुद्राओं पर एवं शिल्प-कला में अंकित आयुध विशेष उल्लेखनीय है। फलक संख्या के लिए द्रष्टव्य अध्याय-2 ।

प्रतिरक्षात्मक सैन्य-विज्ञान में दुर्गों का विशेष महत्व राजकीय वाह्य आक्रमणों से रक्षा तथा आन्तरिक सुरक्षा दृष्टि से था। साहित्यिक साक्ष्यों एवं कुछ विदेशी यात्रियों के यात्रा-विवरणों तथा शिल्प-कला के अंकन में दुर्ग-निर्माण की परम्परा का ज्ञान प्राप्त होता है। दुर्ग के लिए वैदिक साहित्य में पुर, महापुर आदि शब्द मिलते हैं। प्रोफेसर जी.सी. पाण्डे के अनुसार ऋग्वेद में पुर शब्द का अर्थ नगर या दुर्ग था। अर्थशास्त्र में चार प्रकार के दुर्गों का उल्लेख मिलता है-औदक, पार्वत धान्वन व वन दुर्ग। महाभारत में इन चारों के अतिरिक्त महीदुर्ग और मनुष्यदुर्ग का भी उल्लेख है। मनु ने भी इन सभी छः प्रकार के दुर्गों का उल्लेख किया है। कई जातक कथाओं से भी दुर्ग-निर्माण की प्रक्रियाओं पर प्रकाश पड़ता है। मिलिन्द-पन्ह में भी वर्णित शाकल-नगर की दुर्ग-व्यवस्था का वर्णन है, जिसमें परिखा एवं प्राचीर का भी उल्लेख मिलता है। मेगस्थनीज द्वारा वर्णित पाटलिपुत्र नगर के दुर्ग-अवशेष की कुछ हद तक की पुष्टि इस स्थल के उत्खनन से प्राप्त सामग्री से भी की जाती है। इसी प्रकार कर्टियस द्वारा वर्णित अश्वकों के मस्सक दुर्ग एवं उनके अन्य अंगों का अंकन हुआ है। उदाहरणार्थ, सांची स्तूप के पूर्वी तोरण-द्वार पर कपिलवस्तु नगर के प्राकार एवं परिखा, दक्षिण तोरण-द्वार पर कुशीनगर, उत्तरी तोरण-द्वार पर श्रावस्ती नगर तथा पूर्वी तोरण-द्वार पर राजगृह नगर के परिखा, प्राकार आदि का अंकन द्रष्टव्य है। इसी प्रकार मथुरा, अमरावती तथा गांधार कला में भी दुर्गों का अंकन हुआ है (फलक संख्या के लिए द्रष्टव्य अध्याय-3) ।

पुरातात्विक उत्खननों से प्राप्त साक्ष्यों से छठी शताब्दी ई. पू. तथा उसके बाद के दुर्गों से वेष्ठित नगरों के अवशेष कई स्थानों, जैसे, कौशाम्बी, ऊंचडीह, अहिच्छत्रा, राजगृह, पाटलिपुत्र, तक्षशिला, वैशाली, बलिराजगढ़, शिशुपालगढ़, चंपा, श्रावस्ती, अतरंजीखेड़ा, उज्जैन आदि प्रकाश में आये है (फलक के लिए द्रष्टव्य अध्याय-3) ।

प्राचीन भारतीय युद्धों में युद्ध-कला एवं युद्ध के सिद्धान्तों की महत्वपूर्ण भूमिका होती थी।युद्ध योजना के सभी पक्षों की जानकारी हमें साहित्यिक स्रोतों से उपलब्ध होती हैं। युद्ध के लिए तैयारी करना, सैनिक शक्ति में वृद्धि करना, सेना को युद्ध संबधी शिक्षा देना, सैन्य-यात्रा करना उचित स्थान पर सैन्य-पड़ाव डालना आदि युद्ध योजना के अन्तर्गत आते हैं। वैदिक काल में युद्ध-योजना एवं रण-कौशल का विकास नहीं हुआ था। महाभारत में युद्ध-योजना संबधी महत्वपूर्ण उल्लेख मिलते हैं। अर्थशास्त्र में सैन्य-यात्रा काल के संबध में अनेक महीनों एवं ऋतुओं को उचित बताया गया है। सैन्य-यात्रा के पहले ज्योतिषियों द्वारा शुभघड़ी का विचार किया जाता था। युद्ध-भूमि में सेना स्कंधावार या शिविर में रहती थी।

सेना को वास्तविक युद्ध के लिए व्यूह में खड़ा करना एवं शत्रु सेना से लड़ना, दुर्ग का घेरा डालना, उसे तोड़कर उस पर आक्रमण करना, आदि रण-कौशल के अन्तर्गत आता है। रण-कौशल का साक्ष्य हमें महाभारत में स्पष्ट रूप से मिलता है। अर्थशास्त्र में इसका अधिक विकास दृष्टिगत होता है। अर्थशास्त्र के अनुसार युद्ध प्रारम्भ होने के पहले उपयुक्त भूमि का चयन किया जाता था। तदुपरान्त सेना को संघर्ष करने के लिए आक्रमणात्मक एवं सुरक्षात्मक स्थिति में खड़ा किया जाता था। अर्थशास्त्र में चार प्रकार, जैसे दंड व्यूह, भोग व्यूह, मंडल व्यूह व असंहत व्यूह का उल्लेख मिलता है। इन व्यूहों के अतिरिक्त इस ग्रन्थ में व्यूह के तीन भेद और बताये गए हैं- अरिष्ट, अचल और अप्रतिहत। मनुस्मृति में भी दंड-व्यूह, शकट-व्यूह, वराह-व्यूह, मकर-व्यूह, सूची-व्यूह और

गरुड़-व्यूह का उल्लेख मिलता है। यह स्पष्ट है कि इन व्यूहों में से कई का नाम इनकी आकृति के आधार पर था।

युद्ध के समय सेनापति द्वारा अनेक प्रकार के संकेतों का प्रयोग किया जाता था। सैनिकों में उत्साहवर्धन के लिए राजा, पुरोहित तथा सेनापति द्वारा धर्म का भय दिखाया जाता था। इसके अतिरिक्त सेना को उत्साहित करने के लिए विविध प्रकार के वाद्य यंत्रों जैसे नगाड़ा, दुन्दुभि, ढोल, शंख, मृदंग आदि का भी प्रयोग किया जाता था।

युद्ध के सिद्धान्तों के सम्बन्ध में प्राचीन भारतीय आचार्यों ने कम से कम हिंसा करने पर बल दिया है। युद्ध की विभीषिका को यथा संभव कम करने के लिए युद्ध के आदर्शवादी नियमों एवं सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया था। ये नियम एवं सिद्धान्त महाभारत एवं रामायण में स्पष्ट रूप से मिलते हैं। स्मृति- साहित्य, बौद्ध-साहित्य, रघुवंश तथा कामन्दक नीतिसार में उल्लिखित युद्ध-संबंधी नियमों से यह स्पष्ट होता है कि इस काल में उच्च कोटि के आदर्श नियम विद्यमान थे, परन्तु व्यवहार में इनका पालन सदैव न होता रहा होगा।

प्राचीन भारतीय सैन्य-विज्ञान में युद्ध को दो भागों में विभाजित किया गया है : धर्म-युद्ध एवं कूट-युद्ध। धर्म- युद्ध में नैतिक नियमों का पालन किया जाता था। पर कूट-युद्ध में छल व छद्म का आश्रय लिया जाता था, जिसमें नैतिकता का ध्यान नहीं रखा जाता था। धर्म-युद्ध को ही अर्थशास्त्र में प्रकाश-युद्ध कहा गया है। धर्म-युद्ध को ही क्षात्रधर्म के लिए उपयुक्त बताया गया है। धर्म-युद्ध के नियमों के अन्तर्गत युद्ध न करने वाले व्यक्तियों पर न प्रहार करना, समबल के सिद्धान्त पर युद्ध करना, विजित राजा के प्रति नृशंसता का व्यवहार न करके दया का व्यवहार करना आदि थे। धर्मशास्त्र, ग्रन्थों में धर्म-युद्ध पर विशेष बल दिया गया है। पर अर्थशास्त्र एवं कामन्दक नीतिसार में धर्मयुद्ध के अतिरिक्त कूट-युद्ध

की रणनीति एवं योजना का वर्णन मिलता है। वैसे सामान्यता यह सभी आचार्य मानते थे कि साम एवं दान की नीतियों के विफल हो जाने पर ही दण्ड एवं भेद का अवलम्ब करना चाहिए एवं युद्ध का आश्रय लेना चाहिए।

प्राचीन भारतीय परम्परा में धर्म और नीति के सन्दर्भ में धर्म पर अधिक बल दिया गया है। प्रो. जी. सी. पाण्डे के अनुसार धर्म का व्यापक अर्थ न्याय था और नीति में बुद्धिमत्ता तथा शक्ति के आधार भूत गुण निहित थे, जो दण्डनीति शब्द से स्पष्ट होता है। नीति के भी अन्तर्गत बुद्धिमानी (प्रुडेंस) और कार्य साधकता (एक्सपिडियसी) पर अधिक बल दिया गया है और शक्ति पर कम। कालिदास ने रघुवंश में कहा है कि मात्र नीति कायरता है और मात्र शौर्य जंगलीपन है। (कातर्यं केवला नीतिः शौर्यं श्वापद-चेष्ठितम् -रघुवंश, 17.47) इसी परम्परा के परिप्रेक्ष्य में युद्ध-कला एवं युद्ध के सिद्धान्तों को समझा जा सकता है।